

# इशिभारियाडं (ऋषिभाषितानि)



वाचना प्रमुख  
आचार्य तुलसी

प्रधान संपादक  
आचार्य महाप्रज्ञ

सम्पादक / अनुवादक  
डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

# इसिभासियाइं

( ऋषिभाषितानि )

वाचना प्रमुख  
आचार्य तुलसी

प्रधान संपादक  
आचार्य महाप्रज्ञ

संपादक/अनुवादक  
डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

**प्रकाशक :** जैन विश्व भारती,  
पोस्ट : लाडनू ३४१३०६  
जिला : नागौर (राज.)  
फोन नं. : (०१५८१) २२२०८०/२२४६७१  
ई-मेल : Jainvishvabharati@yahoo.com

© जैन विश्व भारती, लाडनू

**I S B No 978-81-7195-186-4**

**सौजन्य :**— अणुव्रत सेवी स्व. पूनमचन्दजी दूगड़ की स्मृति में सेल्स एम्पोरियम ग्रुप कोलकाता  
श्रीमती विमला दूगड़, मनोज-सरिता, राजीव-ममता, पौत्रियां—प्रज्ञा, प्रीति,  
अणुव्रतसेवी हंसराज बैंगानी-जतन बैंगानी, नरेन्द्र-बेला, अभिषेक-नीलू,  
पौत्र-पौत्रियां—मनीषा, कृति, ऋषि।

**प्रथम संस्करण : २०११**

**पृष्ठ :- ४८०**

**मूल्य :- ३५० रुपये**

**मुद्रक :-** पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा. लि., उदयपुर फोन : ०२९४-२४१८४८२

## समर्पण

पुट्टो वि पण्णापुरिसो सुदक्खो,  
आणापहाणो जणि जस्स निच्चं।  
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,  
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसका प्रज्ञापुरुष पुष्ट पटु,  
होकर भी आगमप्रधान था।  
सत्ययोग में प्रवर चित्त था,  
उसी भिक्षु को विमल भाव से ॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,  
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं।  
सज्झाय-सज्झाणरयस्स निच्चं,  
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने आगम दोहन कर-कर,  
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत।  
श्रुत सद्ध्यान लीन चिर चिन्तन,  
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,  
गणे समत्थे मम माणसे वि।  
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,  
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,  
सकल संघ में, मेरे मन में।  
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,  
कालुगणी को विमल भाव से ॥

## अंतस्तोष

अंतस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का, जो अपने हाथों से उस और सिंचित द्रुमनिकुंज को पल्लवित-पुष्पित और फलित हुआ देखता है, उस कलाकार का, जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का, जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन आगमों का शोधपूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगे। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्मपरिवार इस कार्य में संलग्न हो गया अतः मेरे इस अंतस्तोष में मैं उन सबको समभागी बनाना चाहता हूं, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं।

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्त भाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूं और कामना करता हूं कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

गणाधिपति तुलसी



## मंगल संदेश

लगभग छप्पन वर्षों से तेरापंथ धर्मसंघ द्वारा जैन आगमों के सम्पादन का कार्य किया जा रहा है। आगम बत्तीसी का मूल पाठ प्रकाशित होकर सामने आ गया। आगमों के अनुवाद और व्याख्या की सीरीज सामने आ रही है। उसके साथ-साथ निर्युक्ति, भाष्य आदि का भी सम्पादन-कार्य चल रहा है।

‘इसिभासियाइं’ एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें उल्लिखित ऋषियों की वाणी प्रेरणास्पद है। प्रवचनकारों के लिए भी यह ग्रन्थ बहुत उपयोगी है।

परम पूज्य गुरुदेव तुलसी के वाचना प्रमुखत्व और परम पूज्य आचार्य महाप्रज्ञ के प्रधान संपादकत्व में आगम वाङ्मय संपादित होता रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन और अनुवादन में समणी कुसुमप्रज्ञा ने निष्ठापूर्ण श्रम किया है। उनकी निष्ठा और श्रमशीलता प्रशंस्य है। स्वाध्यायप्रिय साधकों के लिए यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध हो सकेगा। शुभाशंसा।

चारभुजा  
२१ जून २००१

आचार्य महाश्रमण

## प्रकाशकीय

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में जैन आगमों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य तुलसी की जागृत प्रज्ञा ने जैन आगमों के व्यवस्थित संपादन का सपना संजोया। उनकी प्रेरणा से उनके शिष्य मुनि नथमलजी (आचार्य महाप्रज्ञ) समेत अनेक प्रबुद्ध संत, सतियां, समणियां इस महायज्ञ के साथ जुड़ते गए और धीरे-धीरे हजारों पृष्ठों में आगम-साहित्य संपादित होकर प्रकाश में आ गया। इन सबके प्रकाशन का पुनीत अवसर जैन विश्व भारती को मिला। इसके लिए जैन विश्व भारती परिवार पूज्यवरों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता है। जैन विश्व भारती की विविधमुखी गतिविधियों में यह कार्य अभूतपूर्व कहा जा सकता है, जो दीर्घकाल तक जैन विश्व भारती को इतिहास के महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों में जीवित रख सकेगा।

भारत ऋषिप्रधान भूमि है। यहां का कण-कण आर्ष-वाणी से प्रतिध्वनित है। ऋषियों की वाणी को लाखों-करोड़ों रुपयों से भी नहीं तोला जा सकता। ऋषिभाषित एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ रत्न है, जिसमें ४५ ऋषियों की वाणी का संकलन है। प्रायः ऋषि जीवन को आनंदमय और सुखमय जीवन जीने के सूत्र प्रस्तुत करते हैं लेकिन कुछ ऋषि गहन दार्शनिक चर्चा भी करते हैं। इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पर डॉ. शूब्रिंग जैसे पाश्चात्य विद्वान ने भी कार्य किया है।

समणी कुसुमप्रज्ञाजी गत लगभग ३२ सालों से आगम व्याख्या-साहित्य के संपादन कार्य में संलग्न हैं। आगम अनुसंधान के प्रति सतत समर्पित समणी कुसुमप्रज्ञाजी जैन विद्या, आगम-साहित्य एवं प्राकृत भाषा की विदुषी समणी हैं। आगम एवं उससे संबंधित व्याख्या-साहित्य का संपादन कार्य कठिन एवं श्रम-साध्य तो है ही, साथ ही इसके लिए संबंधित विषय, भाषा-शैली और विषय-वस्तु का गहन ज्ञान भी आवश्यक है। समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने इस श्रम-साध्य एवं गूढ़ कार्य को अपनी बौद्धिक विनयशीलता, निष्ठाशील अध्यवसायी चेतना, ज्ञान-गंभीरता एवं समरसता की लय से जिस तरह निर्विघ्न संपादित किया है, वह निश्चित ही शोध-अध्येताओं के लिए महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर है। लाडनू सेवाकेन्द्र में प्रवासित धुन की धनी साध्वीश्री सिद्धप्रज्ञाजी का भी इसमें उल्लेखनीय योग रहा है। हम जैन विश्व भारती की ओर से साध्वीश्री सिद्धप्रज्ञाजी एवं समणी कुसुमप्रज्ञाजी के प्रति मंगलभावना करते हैं कि वे दीर्घकाल तक स्वस्थ रहते हुए आचार्य प्रवर की अनुशासना में जिन-शासन की प्रभावना का कार्य करते हुए अपने आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती रहें।

हमें प्रसन्नता और आह्लाद की अनुभूति हो रही है कि ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को प्रकाशित करने का सौभाग्य जैन विश्व भारती को प्राप्त हुआ है। आशा है यह आगम ग्रंथ भी अन्य ग्रंथों की भांति आर्षवाणी को जन-जन तक पहुंचाने में विशेष भूमिका अदा करेगा एवं विद्वानों के लिए समादरणीय और उपयोगी सिद्ध होगा तथा शोधकर्ताओं के शोध में अपनी मूल्यवत्ता को स्थापित कर सकेगा।

८ जुलाई २०११

सुरेन्द्र चोरड़िया  
अध्यक्ष, जैन विश्व भारती, लाडनू

## विषय-सूची

ऋषिभाषित : एक पर्यवेक्षण	११
* ऋषिभाषित का कर्तृत्व एवं समय	१२
* ऋषिभाषित के आगमिक स्रोत	१३
* ऋषिभाषित के अध्ययन	१५
* प्रत्येकबुद्धों की परम्परा में ऋषिभाषित के ऋषि	१७
* परम्पराओं के साथ ऋषियों का सम्बन्ध	१८
* निर्ग्रन्थ परम्परा	
* बौद्ध परम्परा	
* वैदिक परम्परा	
* तीर्थकरों का शासनकाल और ऋषि	२०
* ऋषिमण्डल में ऋषिभाषित के ऋषि	२१
* ऋषिभाषित के उपदेशों पर अन्य का प्रभाव	२२
* ऋषिभाषित की भाषा	२२
* ऋषिभाषित की निर्युक्ति	२३
* व्याख्या ग्रंथ	२५
* ग्रंथ-वैशिष्ट्य	२५
* विषय-वैशिष्ट्य	२७
* दार्शनिक प्रस्तुति	२८
* ज्ञान-मीमांसा	३०
* आचारशास्त्रीय विवेचन	३०
* पाठ-सम्पादन	३१
* सम्पादन की प्रक्रिया	३३
* ऋषिभाषित का अनुवाद	३५
* ऋषिभाषित के सम्पादन का इतिहास	३७
प्रति-परिचय	३८
कृतज्ञता-ज्ञापन	४०



### इसिभासियाई : मूल पाठ एवं अनुवाद

१. नारदज्ज्ञयणं : नारद अध्ययन	१५-२४
२. वज्जियपुत्तज्ज्ञयणं : वृजिकपुत्र अध्ययन	२५-३०
३. देविलज्ज्ञयणं : देविल अध्ययन	३१-४०
४. अंगरिसिज्ज्ञयणं : अंगर्षि अध्ययन	४१-५०
५. पुष्पसालपुत्तज्ज्ञयणं : पुष्पसालपुत्र अध्ययन	५१-५६
६. वक्कलचीरिज्ज्ञयणं : वक्कलचीरी अध्ययन	५७-६४
७. कुम्मापुत्तज्ज्ञयणं : कूर्मापुत्र अध्ययन	६५-७०
८. केतलिपुत्तज्ज्ञयणं : केतलिपुत्र अध्ययन	७१-७४
९. महाकासवज्ज्ञयणं : महाकाश्यप अध्ययन	७५-८८
१०. तेतलिपुत्तज्ज्ञयणं : तेतलिपुत्र अध्ययन	८९-९८
११. मंखलिपुत्तज्ज्ञयणं : मंखलिपुत्र अध्ययन	९९-१०८
१२. जण्णवक्कज्ज्ञयणं : याज्ञवल्क्य अध्ययन	१०९-११४
१३. मेतज्जभयालिज्ज्ञयणं : मेतार्यभयालि अध्ययन	११५-१२०
१४. बाहुकज्ज्ञयणं : बाहुक अध्ययन	१२१-१२६
१५. मधुरायणज्ज्ञयणं : मधुरायण अध्ययन	१२७-१३८
१६. सोरियायणज्ज्ञयणं : शौर्यायण अध्ययन	१३९-१४४
१७. विदुज्ज्ञयणं : विदु अध्ययन	१४५-१५०
१८. वरिसवज्ज्ञयणं : वर्षप अध्ययन	१५१-१५४
१९. आरियायणज्ज्ञयणं : आर्यायण अध्ययन	१५५-१५८
२०. उक्कलज्ज्ञयणं : उत्कट अध्ययन	१५९-१६८
२१. गाहावइज्ज्ञयणं : गाथापति अध्ययन	१६९-१७४
२२. दगभालज्ज्ञयणं : दकभाल अध्ययन	१७५-१८४
२३. रामपुत्तज्ज्ञयणं : रामपुत्र अध्ययन	१८५-१९०

२४. हरिगिरिज्झयणं : हरिगिरि अध्ययन	१९१-२०२
२५. अंबडज्झयणं : अम्बड अध्ययन	२०३-२१२
२६. मातंगज्झयणं : मातंग अध्ययन	२१३-२२२
२७. वारत्तयज्झयणं : वारत्रक अध्ययन	२२३-२२८
२८. अहयज्झयणं : आर्द्रक अध्ययन	२२९-२३८
२९. वद्धमाणज्झयणं : वद्धमान अध्ययन	२३९-२४८
३०. वाउज्झयणं : वायु अध्ययन	२४९-२५४
३१. पासज्झयणं : पार्श्व अध्ययन	२५५-२६४
३२. पिंगज्झयणं : पिंग अध्ययन	२६५-२७०
३३. अरुणज्झयणं : अरुण अध्ययन	२७१-२७८
३४. इसिगिरिज्झयणं : ऋषिगिरि अध्ययन	२७९-२८८
३५. उद्दालयज्झयणं : उद्दालक अध्ययन	२८९-२९८
३६. तारायणज्झयणं : तारायण अध्ययन	२९९-३०६
३७. सिरिगिरिज्झयणं : श्रीगिरि अध्ययन	३०७-३१२
३८. साइपुत्तज्झयणं : साचिपुत्र अध्ययन	३१३-३२२
३९. संजयज्झयणं : संजय अध्ययन	३२३-३२८
४०. दीवायणज्झयणं : द्वीपायन अध्ययन	३२९-३३४
४१. इंदनागज्झयणं : इन्द्रनाग अध्ययन	३३५-३४२
४२. सोमज्झयणं : सोम अध्ययन	३४३-३४६
४३. जमज्झयणं : यम अध्ययन	३४७-३५०
४४. वरुणज्झयणं : वरुण अध्ययन	३५१-३५४
४५. वेसमणज्झयणं : वैश्रमण अध्ययन	३५५-३६८
पढमा संगहणी : प्रथम संग्रहणी	३६९
बीया संगहणी : दूसरी संग्रहणी	३७०

## परिशिष्ट

* पदानुक्रमणिका/गद्यानुक्रमणिका	३७३-३८२
* कथाएं	३८३-३८८
* सूक्त-सुभाषित	३८९-३९१
* उपमा एवं दृष्टान्त	३९२, ३९३
* विशेषनामानुक्रम	३९४-३९६
* तुलनात्मक संदर्भ	३९७
* शब्दार्थ	३९८-४२०
* टिप्पण-अनुक्रम	४२१, ४२२
* पुस्तक-सूची	४२३-४३०
* संकेतिका	४३१, ४३२

## ऋषिभाषित : एक परिचय

ऋषिभाषित पवित्र और आध्यात्मिक सम्पदा से आप्लावित एक महनीय श्रुतग्रंथ है। इस ग्रंथ में साधना प्राप्त प्रसिद्ध ऋषियों के दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों का संकलन है। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में यह एक मात्र ग्रंथ रत्न है, जिसमें जैन, बौद्ध और वैदिक—इन तीनों परम्पराओं के ऋषियों की वाणी का समावेश है। इसे सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति की अमूल्य साहित्यिक धरोहर के रूप में स्वीकृत किया जा सकता है। अन्य दार्शनिकों एवं ऋषियों के मत को निष्पक्ष और तटस्थ रूप में प्रस्तुत करके यह ग्रंथ वैचारिक उदारता और धार्मिक सहिष्णुता का सुंदर उदाहरण प्रस्तुत करता है। प्राचीन साहित्य में ऐसा समन्वय और औदार्य कम देखने को मिलता है। यद्यपि भगवती, सूत्रकृतांग, दीघनिकाय आदि ग्रंथों में अन्य दर्शनों के विचारों को प्रस्तुत किया गया है लेकिन ऋषिभाषित में कहीं भी खंडन-मण्डन या आक्षेप-प्रक्षेप नहीं है। जैन धर्म के उदार आचार्यों ने अन्यलिङ्ग सिद्ध में अन्य धर्म के संन्यासियों को भी मोक्षगमन के योग्य माना है। इसी विशाल दृष्टिकोण के कारण बाहुक, असितदेवल, तारायण, द्वीपायन आदि ऋषियों की सचित्त जल एवं सचित्त बीज सेवन करते हुए भी मोक्ष-प्राप्ति स्वीकृत की गई है। इस ग्रंथ में धार्मिक उदारता का एक और महत्त्वपूर्ण पहलू है कि जैन आचार्य द्वारा संकलित होने पर भी इसमें वैदिक ऋषि अधिक हैं।

भारत में ऋषियों की लम्बी परम्परा रही है, जिन्होंने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से न केवल भारतीय संस्कृति अपितु भारतीय वाङ्मय को भी समृद्ध किया है। ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है कि जो मानव जाति के हित में काम करता है, वह ऋषि है।<sup>१</sup> अथवा ऋषि का अर्थ है—ऋद्धि प्राप्त साधु या संन्यासी।<sup>२</sup> वृषति—प्राप्ति सर्वाङ्ग मंत्रान् ज्ञानेन पश्यति संसारपारं वा ऋषिः—ऋषि की यह व्युत्पत्ति उसके आंतरिक वैशिष्ट्य को व्यक्त करने वाली है।

सामान्यतः चार प्रकार के ऋषियों का उल्लेख मिलता है—१. राजर्षि २. ब्रह्मर्षि ३. देवर्षि और ४. परमर्षि।<sup>३</sup> ब्रह्माण्ड पुराण के अनुसार जो इक्ष्वाकु आदि राजकुल से संन्यस्त होते हैं, वे राजर्षि कहलाते हैं।<sup>४</sup> ये प्रजा को प्रसन्न रखने वाले तथा इंद्रलोक की प्रतिष्ठा करने वाले होते हैं।<sup>५</sup> ब्रह्मलोक की प्रतिष्ठा करने वाले पवित्र संन्यासी ब्रह्मर्षि कहलाते हैं।<sup>६</sup> जिनसे वेद निकलते हैं, वे देवर्षि कहलाते हैं।<sup>७</sup> ये देवलोक की प्रतिष्ठा करने वाले होते हैं।<sup>८</sup> ब्रह्माण्ड पुराण में परमर्षि का उल्लेख नहीं मिलता। जैन परम्परा के अनुसार केवलज्ञानी अर्हत् परमर्षि कहलाते हैं।<sup>९</sup>

१. ऋग्वेद १०/२६/५; ऋषिः स यो मनुर्हितः ।  
२. जैनेन्द्र भा. १ पृ. ४५७ ; स्यादृषिः प्रसृतर्द्धिरारूढः ।  
३. वैदिक परम्परा में सात प्रकार के ऋषि माने गए हैं—  
सप्त ब्रह्मर्षि-देवर्षि-महर्षि-परमर्षयः ।  
काण्डर्षिश्च श्रुतर्षिश्च, राजर्षिश्च क्रमावराः ॥  
४. ब्रह्माण्ड १/२/३५/९६ ;  
मानवे चैव ये वंशे, ऐलवंशे च ये नृपाः ।  
ये च ऐक्ष्वाकनाभागा, ज्ञेया राजर्षयस्तु ते ॥

५. ब्रह्माण्ड १/२/३५/९७, ९८ ।  
६. ब्रह्माण्ड १/२/३५/९७ ; ब्रह्मलोकप्रतिष्ठास्तु,  
स्मृता ब्रह्मर्षयोऽमलाः ।  
७. ब्रह्माण्ड १/२/३५/९५ ; ऋषति वेदान्यस्मात्,  
तस्माद्देवर्षयः स्मृताः ।  
८. ब्रह्माण्ड १/२/३५/९८ ।  
९. जैनेन्द्र १ पृ. ४५७ ।

आश्चर्य का विषय है कि इस ग्रंथ में चारों प्रकार के ऋषियों की वाणी का संकलन है। संजय, असितदेवल आदि राजर्षि, याज्ञवल्क्य आदि ब्रह्मर्षि, नारद देवर्षि तथा वर्द्धमान और पार्श्व आदि परमर्षि की कोटि में परिगणित किए जा सकते हैं।

### ऋषिभाषित का कर्तृत्व एवं समय

ग्रंथ के कर्तृत्व के संदर्भ में तीन विकल्प उभर कर सामने आते हैं—

- \* स्वयं ऋषियों की वाणी है।
- \* किसी आचार्य ने प्रसिद्ध ऋषियों के नाम से उनके विचारों को अपनी भाषा में प्रस्तुत करके ग्रंथ का रूप दिया है।
- \* अथवा ऋषियों के प्रवचनों का किसी ने संकलन किया हो।

इस ग्रंथ में स्वयं ऋषि की वाणी है, यह बात तर्क सम्मत नहीं लगती। यदि इसमें स्वयं ऋषि के कथन होते तो वे 'बुद्धि' न कहकर 'त्ति बेमि' का प्रयोग करते। तीसरा विकल्प सत्य के अधिक निकट लगता है। ऐसा संभव लगता है कि किसी ख्यातिप्राप्त, प्रतिभासम्पन्न आचार्य ने सभी ऋषियों के उपदेशों का संकलन किया है तथा कहीं-कहीं उसे अपनी भाषा भी दी है। प्रश्न उपस्थित होता है कि यह ग्रंथ किसी एक आचार्य द्वारा संकलित हुआ अथवा अनेक आचार्यों द्वारा? इस प्रश्न का समाधान नैश्चयिक भाषा में नहीं दिया जा सकता फिर भी सत्य के निकट यही बात प्रतीत होती है कि किसी उदारहृदय एवं समन्वयवादी आचार्य ने समन्वय स्थापित करने के लिए तीनों परम्पराओं के ऋषियों के उपदेशों का एक स्थान पर संकलन कर दिया। ग्रंथ की शैली और विषय-वस्तु के आधार पर यह प्रायः निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि इसका संकलन किसी जैन आचार्य ने किया है।

कहीं कहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि ऋषि के जीवन के आधार पर भी संकलन कर्ता आचार्य ने अध्ययन की विषय-वस्तु का संग्रहण किया है, जैसे—तेतलिपुत्र। कहीं कहीं उपदेश उत्तमपुरुष की भाषा में भी संकलित हैं, जैसे—मेतार्यभयालि, गाथापति तरुण, उद्दालक आदि।

यह ग्रंथ किसी आचार्य द्वारा संकलित है, इसके अनेक प्रमाण इस ग्रंथ में मिलते हैं—

- \* प्रत्येक अध्याय के प्रारम्भ और समापन की एकरूपता को देखकर यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ किसी एक ही आचार्य द्वारा ग्रथित अथवा संकलित है।
- \* चौदहवें अध्ययन में 'अकामए बाहुए मते ति' (१४/३)—उल्लेख किसी अन्य के कथन की पुष्टि करता है। स्वयं ऋषि अपने बारे में ऐसा नहीं कहते।
- \* पच्चीसवें अध्ययन में 'अम्बड़ संन्यासी ने योगंधरायण से पूछा' यह उल्लेख भी संकलित रचना का निर्देश करता है।
- \* उनतीसवें अध्ययन की प्रथम गाथा में 'पुट्टे मुणी आइक्खे' अर्थात् प्रश्न पूछने पर मुनि ने कहा, इस उद्धरण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस अध्ययन के उपदेश को किसी अन्य व्यक्ति ने संकलित किया है।
- \* उनचालीसवें अध्ययन में 'उवणामेति वहाए संजए' उद्धरण भी किसी अन्य के कथन की पुष्टि करता है। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

डॉ. शूब्रिंग के अनुसार ऋषिभाषित का छंदप्रयोग, विषयवस्तु एवं भाषा काफी प्राचीन प्रतीत होती है। इसमें महाराष्ट्री प्रभाव कम तथा अर्धमागधी का प्राचीन रूप अधिक दृग्गोचर होता है। तकार श्रुति की बहुलता भी इसकी प्राचीनता को प्रकट करती है। डॉ. शूब्रिंग इसे भगवान् पार्श्व की परम्परा में निर्मित ग्रंथ मानते हैं। इस संदर्भ में उनका तर्क है कि इसमें चातुर्याम का वर्णन है<sup>१</sup> लेकिन डॉ. शूब्रिंग का यह तर्क हेतुगम्य नहीं है क्योंकि इसके अनेक अध्यायों में पांच महाव्रतों का वर्णन भी है।

डॉ. सागरमलजी जैन ने इसे ईसा पूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी का ग्रंथ मानकर आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के परवर्ती तथा अन्य आगम ग्रंथों के पूर्ववर्ती माना है।<sup>२</sup> डॉ. सागरमलजी जैन का मतव्य है कि जैन आगमों में मंखलि गोशालक के सिद्धान्तों का खंडन है लेकिन इसमें उसे अर्हत् ऋषि का सम्मान दिया गया है, इससे स्पष्ट है कि धार्मिक उदारता की दृष्टि से यह रचना पालि त्रिपिटक से भी अधिक प्राचीन है।<sup>३</sup> अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् पं. दलसुखभाई मालवणिया ने भी इसे प्राकृत भाषा का प्रथम ग्रंथ स्वीकृत किया है।<sup>४</sup> पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस ग्रंथ-रचना का सही समय निर्धारित करना संभव नहीं है लेकिन भाषा शैली, रचना, अन्य आगम एवं व्याख्या-साहित्य में इसके उल्लेख से यह कहा जा सकता है कि यह ग्रंथ काफी प्राचीन है।

### ऋषिभाषित के आगमिक स्रोत

प्राचीन ग्रंथ होने के कारण ऋषिभाषित का महत्त्वपूर्ण स्थान था, इस बात के साक्ष्य अनेक आगमिक स्रोत हैं—

\* नंदीसूत्र में ऋषिभाषित की गणना उत्तराध्ययन आदि कालिक सूत्रों के साथ की है।<sup>५</sup> पाक्षिक सूत्र में भी यह अंगबाह्य कालिक सूत्रों के अन्तर्गत परिगणित है।<sup>६</sup> कालिक सूत्रों के साथ इसकी परिगणना इसके ऐतिहासिक महत्त्व को प्रदर्शित करती है।

\* विशेषावश्यक भाष्य के अनुसार आर्यरक्षित ने जब चतुर्विध अनुयोगों की स्थापना की, तब कालिकश्रुत को चरणकरणानुयोग में, ऋषिभाषित को धर्मकथानुयोग में, सूर्यप्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति को गणितानुयोग में तथा सारे दृष्टिवाद को द्रव्यानुयोग में स्थापित किया। अनुयोग-स्थापना में विशेष रूप से ऋषिभाषित का उल्लेख इस बात का प्रतीक है कि आर्यरक्षित के समय तक यह ग्रंथ अपना विशेष स्थान रखता था।<sup>७</sup> यहां धर्मकथानुयोग का तात्पर्य कथा न होकर आध्यात्मिक वार्ता होना चाहिए क्योंकि सम्पूर्ण ग्रंथ आध्यात्मिक चर्चा से आप्लावित है। आचार्य उमास्वति के काल तक इसकी गणना अंगबाह्य सूत्रों में होने लगी।<sup>८</sup>

१. Introduction of isi p. 9।

२. ऋषि पृ. ९।

३. ऋषि पृ. ५, ६।

४. १३ जून १९९२ में प्राकृत ग्रीष्मशाला दिल्ली में प्रदत्त भाषण।

५. नंदी ७८; कालियं अणेगविहं पण्णत्तं, तं जहा—उत्तरज्झयणाईं दसाओ कप्पो ववहारो निसीहं महानिसीहं इसिभासियाईं.....।

६. पाक्षिक पृ. १२४; णमो तेसिं खमासमणाणं जेहि इमं वाइयं अङ्गबाहिरं कालियं भगवंतं, तं जहा—उत्तरज्झयणाईं, दसाओ

कप्पो, ववहारो, इसिभासियाईं, निसीहं।

७. विभा २२९४, महेटी पृ. ४६६, ४६७ ;

कालियसुयं च इसिभासियाईं तइओ य सूरपण्णत्ती।

सव्वो य दिट्ठिवाओ, चउत्थओ होइ अणुओगो॥

८. तस्वोभा १/२० ; अंगबाह्यमनेकविधम् ; तद्यथा सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दनं प्रतिक्रमणं कायव्युत्सर्गः प्रत्याख्यानं दशवैकालिकं उत्तराध्यायाः दशाः कल्पव्यवहारौ निशीथ-मृषिभाषितान्येवमादि।



चौदहवीं शताब्दी में जिनप्रभसूरि द्वारा रचित विधिमागप्रपा में ऋषिभाषित को कालिकश्रुत के अन्तर्गत रखा है। इसमें उल्लेख है कि इसकी वाचना में ४५ दिनों तक निर्विगय द्वारा अनागाढ योग का पालन किया जाता था। वहां मतान्तर का उल्लेख करते हुए इसे उत्तराध्ययन में अन्तर्गर्भित माना है।<sup>१</sup> टीकाकार ने कुछ आचार्यों का मत प्रस्तुत करते हुए कहा है कि आर्यबिल तप में तीन कालों में इसके अध्ययनों का उद्देश-समुद्देश आदि करना चाहिए।<sup>२</sup>

इस ग्रंथ की प्राचीनता एवं महत्ता का एक प्रमाण है सूत्रकृतांग निर्युक्ति की १९० वीं गाथा। सूत्रकृतांग निर्युक्ति की गाथा १८९ में कहा गया है कि द्वादशांगी द्रव्यतः शाश्वत और महाप्रभावशाली है लेकिन अर्थ रूप से कोई-कोई अर्थ उस समय में किसी दूसरे नाम से भी अनुमत और सम्मत होता है, जैसे ऋषिभाषित आदि में।<sup>३</sup> निर्युक्ति की इस गाथा से स्पष्ट है कि यह ग्रंथ अपने समय में प्रतिष्ठित ही नहीं, आगम की भांति मान्य भी था।

ठाणं में प्रश्नव्याकरण<sup>४</sup> के दश अध्ययनों में तीसरे अध्ययन का नाम ऋषिभाषित है।<sup>५</sup>

आचार्य भद्रबाहु ने दश निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा की है—१. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. सूत्रकृतांग, ६. दशाश्रुतस्कंध, ७. कल्प (बृहत्कल्प, पंचकल्प), ८. व्यवहार, ९. सूर्यप्रज्ञप्ति, १०. ऋषिभाषित।<sup>६</sup>

प्रारम्भ के नौ ग्रंथ जिन पर निर्युक्तियां लिखी गई हैं, वे वर्तमान में ३२ आगमों में अन्तर्गर्भित हैं लेकिन ऋषिभाषित अंग, उपांग या छेद आदि किसी भी वर्ग में अन्तर्गर्भित नहीं है। आचार्य भद्रबाहु द्वारा इस ग्रंथ पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा करना ही इस बात का प्रमाण है कि उस समय यह ग्रंथ बहुत मान्य और प्रसिद्ध था तथा निर्युक्तिकार से काफी समय पूर्व ही इस ग्रंथ की संकलना अथवा रचना हो चुकी थी।

सूत्रकृतांग में ऋषिभाषित के असित देवल, बाहुक, रामपुत्र, तारायण और द्वैपायन आदि ऋषियों को

१. विधि ६१, ६२;

इसिभासियअञ्जयणा, आर्यबिल कालतिग सञ्जा।  
केसिंचि मए अंतभवंति, एयाइं उत्तरञ्जयणे ॥  
पणयालीसदिणेहिं, केसि वि जोगो अणागाढो।

२. विधि टीका पृ. ५८; पुज्जा पुण एवमाइसंति—तिहिं कालेहिं  
आर्यबिलेहिं य उद्देस-समुद्देसाणुण्णाओ एएसिं कीरंति।

३. सूनि १९० ;

तह वि य कोई अत्थो, उप्पज्जति तम्मि तम्मि समयम्मि।  
पुव्वभणितो अणुमतो, य होति इसिभासितेसु जहा ॥

४. यहां प्राचीन प्रश्नव्याकरण के अध्यायों का निर्देश है।

५. ठाणं १०/११६; पण्हावागरणदसाणं दस अञ्जयणा पण्णत्ता,  
तं जहा—उवमा, संखा, इसिभासियाइं, आयरियभासियाइं,  
महावीरभासियाइं, खोमगपसिणाइं, कोमलपसिणाइं,  
अद्दागपसिणाइं, अंगुट्टुपसिणाइं, बाहुपसिणाइं। (प्रश्नव्याकरण  
के तीसरे अध्ययन के सम्बन्ध में एक संभावना यह भी की जा

सकती है कि महावीरभाषित, आचार्यभाषित की भांति  
ऋषिभाषित में किन्हीं अन्य ऋषियों की वाणी का संकलन हो।  
आज हमारे समक्ष पुराने प्रश्नव्याकरण के कोई अध्याय सुरक्षित  
नहीं हैं अतः इस संदर्भ में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा  
सकता। डॉ. सागरमलजी जैन प्रश्नव्याकरण के तीसरे अध्याय  
को ऋषिभाषित ग्रंथ ही स्वीकार करते हैं। उनका मतव्य है कि  
प्रश्नव्याकरण से ऋषिभाषित को अलग करना उद्देश्यपूर्ण घटना  
थी क्योंकि कालान्तर में नारद, मंखलिंगोशालक, याज्ञवल्क्य  
आदि को अर्हत् ऋषि मानकर उनके वचनों को तीर्थंकर की  
आगमवाणी के रूप में स्वीकार करना कठिन हो गया।)

६. आवनि ८०, ८१;

आवस्सगस्स दसकालियस्स तह उत्तरञ्जमायारे।  
सूयगडे निज्जुत्तिं, वोच्छामि तहा दसाणं च ॥  
कप्पस्स य निज्जुत्तिं, ववहारस्सेव परमनिउणस्स।  
सूरियपण्णतीए, वोच्छं इसिभासिताणं च ॥

अन्य परम्परा के ऋषि बताते हुए भी उनके लिए महापुरुष, तप्त तपोधन, महर्षि आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है।<sup>१</sup> वहां प्रयुक्त 'इह सम्मता' की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार कहते हैं कि यहां निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् ऋषिभाषित आदि ग्रंथों में भी ये सम्मत हैं।<sup>२</sup>

चूर्णिकार की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि सूत्रकृतांग की संकलना से पूर्व ही ऋषिभाषित की रचना हो चुकी थी। प्राचीन अनेक साक्ष्यों से यह सिद्ध है कि आगमिक परम्परा में भी किसी समय ऋषिभाषित ग्रंथ बहुमान्य और महत्त्वपूर्ण था लेकिन बाद में इसका महत्त्व कम होने लगा। इसके अनेक कारण रहे होंगे लेकिन वर्तमान में मुख्यतः दो कारण समझ में आते हैं—साम्प्रदायिक अभिनिवेश और जैन दर्शन के प्रतिकूल सिद्धान्त की प्ररूपणा। इस संदर्भ में डॉ. सागरमलजी जैन का यह अनुमान संगत लगता है कि यह सुनिश्चित सत्य है कि यह ग्रंथ जैन धर्म और संघ के सुव्यवस्थित होने से पूर्व लिखा गया था। इस ग्रंथ के अध्ययनों में वर्णित विषय-वस्तु से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसके रचनाकाल तक जैन संघ में साम्प्रदायिक अभिनिवेश का पूर्णतः अभाव था लेकिन बाद में संघ के सुव्यवस्थित एवं रूढ़ परम्परा का रूप ग्रहण करने पर इसके लिए अन्य परम्परा के साधकों को आत्मसात् कर पाना कठिन हो गया अतः प्रकीर्णक ग्रंथ के रूप में इसकी गणना की जाने लगी और इसकी प्रामाणिकता सुरक्षित रखने के लिए इसे प्रत्येकबुद्धभाषित मान लिया गया।<sup>३</sup> वर्तमान में ऋषिभाषित की गणना आगम सूत्रों में न होकर प्रकीर्णक सूत्र के रूप में की जाती है। डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने मूलसूत्र के अन्तर्गत उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पाक्षिकसूत्र, नंदी और अनुयोगद्वार के साथ ऋषिभाषित को भी अन्तर्गर्भित किया है।

दिगम्बर परम्परा में मान्य जो आगम ग्रंथ लुप्त हो गए हैं, उन बारह अंग और चौदह उपांगों में ऋषिभाषित का उल्लेख नहीं है।

### ऋषिभाषित के अध्ययन

वर्तमान में ऋषिभाषित के पैंतालीस अध्ययन मिलते हैं लेकिन समवाओ में चौवालीस अध्ययनों का उल्लेख है।<sup>४</sup> इस संदर्भ में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब समवायांग के समय इसके चौवालीस अध्ययन थे तो पैंतालीस अध्ययन की बात इसके साथ कब जुड़ी? इस संदर्भ में कुछ बातों पर गहन विमर्श करना आवश्यक है—

\* ऋषिभाषित का बीसवां अध्ययन नास्तिकवादी विचारधारा से प्रभावित है। उसमें किसी ऋषि के नाम का उल्लेख नहीं है। संभव है कि यह अध्ययन समवायांग की संकलना के बाद में जुड़ा हो अथवा अजितकेशकंबलि आदि अनेक नास्तिकवादियों के विचारों का संग्रह होने से किसी भी ऋषि का नाम नहीं दिया गया हो। इस

१. सू १/३/६१।

२. सूचू १ पृ. ९६; सम्मत त्ति इहापि ते इसिभासितेसु पढिज्जंति।

३. ऋषि पृ. १०, ११।

४. सम ४४/१ ; चौवालीस अज्झयणा इसिभासिया दियलोगचुया भासिया पण्णत्ता।

अध्ययन में किसी ऋषि का नाम न होने से समवायांग में ४४ अध्ययनों का उल्लेख हो गया हो।

\* ठाणं में जहां प्रश्नव्याकरण की विषयवस्तु वर्णित है, वहां इसके दस अध्याय उल्लिखित हैं<sup>१</sup> लेकिन नंदी में ४५ अध्ययनों का वर्णन है।<sup>२</sup> समवाओ में अध्ययनों का संकेत न होकर ४५ उद्देशन काल और ४५ समुद्देशन काल प्रज्ञप्त हैं।<sup>३</sup> प्रश्नव्याकरणदशा<sup>४</sup> इस नाम से स्पष्ट है कि इसमें दस अध्याय हैं। स्थानांग के टीकाकार ने भी इसके दस अध्याय माने हैं। इस आधार पर दस उद्देशन काल और दस समुद्देशन काल होने चाहिए। इसमें ४५ अध्ययनों का उल्लेख कैसे हुआ है? यह शोध का विषय है कि कहीं ये अध्याय ऋषिभाषित के अध्यायों की ओर तो संकेत नहीं करते?

\* ऋषिभाषित के अध्यायों के संदर्भ में हमारा चिन्तन यह है कि केतलिपुत्र नाम के कोई ऋषि नहीं होने चाहिए। सभी हस्तप्रतियों में आठवें अध्ययन में केतलिपुत्र के स्थान पर तेतलिपुत्र का उल्लेख मिलता है। यह संभावना की जा सकती है कि यहां तेतलिपुत्र ही होना चाहिए क्योंकि दसवें तेतलिपुत्र अध्याय में केवल उनके जीवन का घटना प्रसंग वर्णित है, उपदेश नहीं है, जबकि किसी भी अध्ययन में ऋषि के जीवन के बारे में इतने विस्तार से वर्णन नहीं मिलता है। दूसरी बात प्रायः अध्ययन ज्ञाताधर्मकथा का संवादी है। संभव है आठवें अध्ययन में उनका उपदेश संकलित हो लेकिन कालान्तर में दो अध्यायों पर एक नाम देखकर एक पर केतलिपुत्र नाम कर दिया गया हो। नाम-साम्य से भी यह भ्रम होना स्वाभाविक है। 'के' और 'ते' के उच्चारण में ज्यादा भेद न होने से कालान्तर में 'तेतलि' के स्थान पर 'केतलि' हो गया हो। आठवें अध्याय के उपदेश से भी यह प्रकट होता है कि मानो वे अपने जीवन का अनुभव प्रकट कर रहे हों। सांसारिक बंधनों में बंधे तेतलिपुत्र को बहुत प्रयत्नों के बाद बोधि प्राप्त हुई। उन्होंने कोशिकार कीट के उदाहरण द्वारा सांसारिक बंधन और उससे मुक्ति का सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है।

केतलिपुत्र ही तेतलिपुत्र होने चाहिए, इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि तीनों परम्पराओं में केतलिपुत्र नाम के किसी ऋषि का उल्लेख नहीं मिलता है।<sup>५</sup> प्रश्न हो सकता है कि इसकी संग्रहणी गाथा में 'केतलि' नाम क्यों मिलता है? इस संदर्भ में यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि दोनों संग्रहणी की गाथाएं इस ग्रंथ का अंग नहीं हैं। बाद के किसी आचार्य ने ग्रंथ का संक्षिप्त परिचय देने हेतु परिशिष्टों के रूप में दो संग्रहणियों की रचना की है क्योंकि अनेक हस्तप्रतियों में दोनों संग्रहणी की गाथाएं नहीं मिलती हैं।

१. ठाणं १०/११६

२. नंदी ९० ; से णं अंगट्टयाए दसमे अंगे, एगे सुयक्खंधे, पणयालीसं अज्झयणा, पणयालीसं उद्देशणकाला, पणयालीसं समुद्देशणकाला....।

३. समप्र ९८ ; एगे सुयक्खंधे पणयालीसं उद्देशणकाला, पणयालीसं समुद्देशणकाला।

४. प्राचीन प्रश्नव्याकरण में भी दस अध्याय थे तथा परिवर्तित

प्रश्नव्याकरण के भी दस अध्याय हैं। निशीथचूर्णि (निचू ३ पृ. ३८३) तक प्रश्नव्याकरण का स्वरूप बदल गया था। वहां उल्लेख है कि 'पसिणा एते पणवाकरणेसु पुव्वं आसी।

नंदीचूर्णि में प्रश्नव्याकरण के विषय के अन्तर्गत पांच

आस्रव और पांच संवर का उल्लेख मिलता है।

५. विस्तार हेतु देखें ऋषि तेतलिपुत्र पृ. ९३।

एक प्रश्न फिर उपस्थित हो सकता है कि फिर इन दोनों अध्ययनों को साथ-साथ क्यों नहीं रखा गया, अलग क्यों रखा? इस संदर्भ में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। संभव है इसकी प्रथम प्रति में किसी लिपिकार द्वारा अध्ययन अलग-अलग लिख दिए गए हों।

यदि आठ और दश अध्ययन को एक मान लिया जाए तो समवायांग सम्मत ऋषिभाषित के ४४ अध्ययन ही होते हैं। वर्तमान में ऋषिभाषित के ४५ अध्ययन उपलब्ध हैं अतः हमने सम्पादन में व्युत्क्रम न करके वर्तमान में उपलब्ध क्रम को ही स्वीकृत किया है।

### प्रत्येकबुद्धों की परम्परा में ऋषिभाषित के ऋषि

प्रत्येकबुद्ध वे होते हैं, जो किसी एक बाह्य निमित्त से प्रतिबुद्ध होकर साधना करते हैं। ये न किसी के शिष्य बनते हैं और न ही किसी को शिष्य बनाते हैं। इनका प्रायः एकाकी विहार होता है अतः प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं। प्रत्येकबुद्ध के श्रुत नियमतः पूर्व अधीत होता है—जघन्यतः आचारांग आदि ग्यारह अंग तथा उत्कृष्टतः भिन्न दश पूर्व। प्रव्रज्या के समय इन्हें देवता लिंग प्रदान करते हैं अथवा ये लिंगविहीन भी प्रव्रजित होते हैं।<sup>१</sup> ये चरमशरीरी होते हैं। प्रत्येकबुद्धों की परम्परा में जैन आगम एवं उसके व्याख्यासाहित्य में चार नाम प्रसिद्ध हैं—१. नमि राजर्षि २. करकंडु ३. दुर्मुख ४. नग्नजित्। लेकिन इन चारों के नाम ऋषिभाषित के ऋषियों में निर्दिष्ट नहीं हैं।

समवाओ में जहां ऋषिभाषित के अध्ययनों का प्रसंग है, वहां इन ऋषियों को देवलोक से च्युत माना है।<sup>२</sup> वहां 'प्रत्येकबुद्ध' विशेषण का प्रयोग नहीं हुआ है लेकिन इसी सूत्र में जहां प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का वर्णन है, वहां स्पष्ट उल्लेख है कि इसमें स्वसमय और परसमय के प्रज्ञापक प्रत्येकबुद्ध द्वारा भाषित विविध अर्थ वाली वाणी का संकलन है।<sup>३</sup>

पंचकल्पभाष्य में भी ऋषिभाषित को प्रत्येकबुद्धभाषित कहा है।<sup>४</sup> ऋषिभाषित की संग्रहणी गाथा तथा ऋषिमंडल में इन ऋषियों को प्रत्येकबुद्ध कहा गया है।<sup>५</sup> लेकिन सभी ऋषि प्रत्येकबुद्ध हुए हैं, यह विमर्श का विषय है। डॉ. सागरमलजी जैन का अभिमत है कि ऋषिभाषित के अधिकांश ऋषि जैन परम्परा के नहीं थे अतः उनके उपदेशों को मान्य करने के लिए इन्हें प्रत्येकबुद्ध कह दिया गया है।<sup>६</sup>

ग्रंथ में ऋषियों के नाम के आगे अर्हत्, परिव्राजक, ब्राह्मण परिव्राजक, सच्चसंजुत, वित्त, बुद्ध आदि

१. आवचू १ पृ. ७६; बाह्यं वसभादिकारणमभिवीक्ष्य बुद्धा पतेयबुद्धा, एतेसिं गियमा पतेयं विहारो जम्हा तम्हा ते पतेयबुद्धा।.....पतेयबुद्धाणं नियमा पुव्वाधीतं सुतं भवति। जहन्नेण एक्कारसंगी उक्कोसेण भिन्नदसपुव्वी। लिंगं च देवया पयच्छति, लिंगवज्जितो वा भवति।

२. सम ४४/१।

३. समप्र ९८; पण्हावागारणदसासु णं ससमय-परसमयपण्णवय पतेयबुद्धविविहत्थभासाभासियाणं.....।

४. पंकभा ११८०; पतेयबुद्धभासित इसिभासितमादिगं मुणेत्तव्वं।

५. ऋषिसं १/१, ऋषिमं ४५।

६. ऋषि पृ. ११, १२।

विशेषणों का प्रयोग हुआ है लेकिन मूल ग्रंथ में किसी भी ऋषि के लिए 'प्रत्येकबुद्ध' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है।

ऋषि के नाम के आगे प्रायः 'अर्हत्' विशेषण का प्रयोग हुआ है। ऋषिमण्डल के अनुसार ये सभी ऋषि मोक्ष को प्राप्त हुए<sup>१</sup> लेकिन सब ऋषियों का अर्हत् होना विचारणीय है क्योंकि अर्हत् होने के बाद जन्म-मरण की परम्परा नहीं चलती। अनेक ऋषियों के बारे में स्पष्टतः कहा जा सकता है कि उनका पुनर्भव हुआ है। पिंग तथा अम्बड़ आदि कुछ ऋषियों के लिए 'अर्हत्' विशेषण का प्रयोग क्यों नहीं हुआ, यह भी शोध का विषय है।

सभी अध्यायों के अंत में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त यावत् पुनः इस संसार में नहीं आता, यह उल्लेख मिलता है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह उल्लेख किसके लिए हुआ है? ऋषियों के लिए अथवा सामान्य मनुष्यों के लिए? क्योंकि वहां 'से' सर्वनाम का प्रयोग है, किसी ऋषि का नाम नहीं है। यदि इस उल्लेख को ऋषियों से संबंधित मानें तो नारद आदि ऋषि आगामी चौबीसी में तीर्थकर बनेंगे।<sup>२</sup> फिर सिद्ध, बुद्ध और अपुनरागमन की बात संगत कैसे होगी? दूसरी बात बीसवें अध्याय के अंत में भी 'से सिद्धे, बुद्धे' आदि पाठ लिखा है, जबकि उस अध्याय में किसी ऋषि का नाम नहीं है। अतः इस ग्रंथ के सभी ऋषि सिद्ध, बुद्ध हुए, यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्श की अपेक्षा रखता है। लगता है इस ग्रंथ की यह शैली रही अतः सब अध्यायों के अंत में एक जैसा पाठ दे दिया गया। ऐसा भी संभव लगता है कि अंतिम सूत्र सभी अध्यायों में बाद के किसी आचार्य के द्वारा जोड़ दिया गया हो।

### परम्पराओं के साथ ऋषियों का सम्बन्ध

मूलतः किसी भी ऋषि को परम्परा विशेष के साथ बांधना उसके व्यक्तित्व के प्रति न्याय नहीं होता क्योंकि उनका व्यक्तित्व उदात्त, सार्वभौम और सार्वकालिक होता है। फिर भी उनके अनुयायी साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण अपनी परम्परा या पंथ तक ही उन्हें सीमित कर देते हैं।

यह सुनिश्चित है कि इसमें वैदिक, बौद्ध और जैन—इन तीनों परम्पराओं के ऋषियों के उपदेश संकलित हैं लेकिन वर्तमान में सभी ऋषियों के बारे में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे किस परम्परा के ऋषि हैं। सार्वभौम आध्यात्मिक उपदेशों का संकलन होने के कारण भी परम्परा का निर्धारण करना शक्य नहीं है। शौर्यायण, वायु, हरिगिरि आदि अनेक ऐसे ऋषि हैं, जिनका उल्लेख तीनों परम्पराओं के प्राचीन-साहित्य में नहीं मिलता अतः उनके बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ भी कह पाना संभव नहीं है। डॉ. शूब्रिंग के अनुसार याज्ञवल्क्य, बाहुक, महाशालपुत्र अरुण, आरुणि उद्दालक, असित देवल, अंगर्षि<sup>३</sup> और विदु स्पष्टतया औपनिषिदिक परम्परा के ऋषि प्रतीत होते हैं। पिंग, ऋषिगिरि और श्रीगिरि के नाम के आगे ब्राह्मण परिव्राजक तथा अम्बड़ के आगे परिव्राजक का उल्लेख है अतः ये वैदिक परम्परा के ऋषि होने चाहिए। भारद्वाज गोत्र से सम्बन्धित होने के कारण

१. ऋषिमं ४५ ;

पतेयबुद्धसाहू, नमिमो जे भासिउं सिवं पत्ता ।  
पणयालीसं इसिभासियाई अञ्जयणपवराई ॥

२. समप्र २५२/३, ४।

३. कुछ विद्वान् 'अंगरिसि' की संस्कृत छाया 'अंगिरस' करते हैं।

अंगर्षि ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित थे फिर भी जैन-साहित्य में इनका सम्मानपूर्ण स्थान है। आवश्यक निर्युक्ति, उसकी चूर्णि तथा ऋषिमण्डल आदि ग्रंथों में इनका जीवन-प्रसंग उल्लिखित है। असितदेवल, रामपुत्र, तारायण, बाहुक, द्वैपायन—ये पांचों ऋषि सूत्रकृतांग के अनुसार वैदिक परम्परा के होने चाहिए। नारद स्पष्टतया तीनों परम्पराओं में प्रसिद्ध हैं लेकिन उनको ब्राह्मण परम्परा का ऋषि माना जाता है। डॉ. शूब्रिंग ने साइपुत्<sup>१</sup> (साचिपुत्र), वज्जियपुत्<sup>२</sup> और महाकाश्यप—इन तीन को बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित माना है। कौन ऋषि किस परम्परा से सम्बन्धित होने चाहिए, इसकी आनुमानिक परिकल्पना इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

### निर्ग्रन्थ परम्परा

आर्द्रक (२८), कूर्मापुत्र (७), केतलिपुत्र (८), तेतलिपुत्र (१०), पार्श्व (३१), पुष्पशालपुत्र (५), बाहुक (१४), मेलार्यभयालि (१३), वर्द्धमान (२९), वल्कलचीरी<sup>३</sup> (६), वारत्रक (२७) और संजय (३९)—ये बारह ऋषि निर्ग्रन्थ परम्परा से सम्बन्धित होने चाहिए।

### बौद्ध परम्परा

इन्द्रनाग<sup>४</sup> (४१), महाकाश्यप (९), मातङ्ग (२६), वृजिकपुत्र (२), साचिपुत्र<sup>५</sup> (३८)—ये पांच ऋषि बौद्ध परम्परा से सम्बन्धित होने चाहिए।

### वैदिक परम्परा

अंगर्षि (४), अम्बड<sup>६</sup> (२५), असित देवल (३), आर्यायण (१९), उद्दालक (३५), ऋषिगिरि (३४), गर्दभाल (२२), तारायण (३६), द्वैपायन (४०), नारद (१), पिंग (३२), महाशालपुत्र अरुण (३३), याज्ञवल्क्य (१२), रामपुत्र (२३), वर्षपकृष्ण (१८), वायु (३०), श्रीगिरि (३७)—ये सतरह ऋषि वैदिक परम्परा से सम्बन्धित होने चाहिए।

गाथापतिपुत्र तरुण (२१), मधुरायण (१५), यम (४३), वरुण (४४), विदु<sup>७</sup> (१७), वैश्रमण (४५), शौर्यायण (१६), सोम (४२), हरिगिरि (२४)—ये नौ ऋषि किस परम्परा से सम्बन्धित थे, इस संदर्भ में निश्चयपूर्वक कुछ भी कह पाना कठिन है।

मंखलि गोशालक श्रमण परम्परा के अन्तर्गत आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक था।

१. कुछ विद्वान् 'साइपुत्' की संस्कृत छाया सारिपुत्र करते हैं।
२. कुछ विद्वान् 'वज्जियपुत्' की संस्कृत छाया वात्सीपुत्र करते हैं।
३. कैवल्य-प्राप्ति के बाद वल्कलचीरी भगवान् महावीर के शासन में प्रव्रजित हो गए। उनके ज्येष्ठ भ्राता प्रसन्नचन्द्र राजर्षि भी उनके साथ दीक्षित हो गए। (द्र. आवचू १ पृ. ४५९)।
४. आवश्यक निर्युक्ति की कथा के अनुसार अनुमान लगाया जा सकता है कि इन्द्रनाग पहले बौद्ध परम्परा का संन्यासी था, बाद में वह निर्ग्रन्थ परम्परा का अनुयायी बन गया।
५. डॉ. शूब्रिंग ने साचिपुत्र पाठ स्वीकार करके उसकी संस्कृत छाया स्वाचिपुत्र की है।
६. परित्राजक परम्परा में दीक्षित होने पर भी अम्बड ऋषि भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे। (द्र. भ. १४/१०७-०९)
७. डॉ. सागरमलजी जैन ने विदु को विदुर ऋषि के रूप में स्वीकृत किया है। (ऋषि....पृ. ५३, ५४)



### तीर्थकरों का शासनकाल और ऋषि

ऋषिभाषित के सभी ऋषियों का काल-निर्धारण करना संभव नहीं है क्योंकि अनेक ऋषियों से सम्बन्धित साहित्यिक स्रोत तीनों परम्पराओं के प्राच्य-साहित्य में उपलब्ध नहीं हैं। ऋषिभाषित पर कोई महत्त्वपूर्ण टीका भी नहीं मिलती, जिसके आधार पर ऋषियों के बारे में काल-निर्धारण किया जा सके। फिर भी इस ग्रंथ में जिन ऋषियों के उपदेश संकलित हैं, उनके बारे में यह तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि ये सभी ऐतिहासिक ऋषि रहे होंगे। ऐसा संभव लगता है कि जिन ऋषियों के बारे में विशेष वर्णन प्राप्त नहीं है, वे भगवान् अरिष्टनेमि अथवा भगवान् पार्श्वनाथ के समय के ऋषि होने चाहिए लेकिन यह निश्चित है कि भगवान् महावीर के बाद के कोई ऋषि नहीं होने चाहिए।

डॉ. सागरमलजी जैन का अभिमत है कि यदि हम ऋषिभाषित के ऋषियों की सम्पूर्ण सूची का अवलोकन करें तो केवल सोम, यम, वरुण, वायु और वैश्रमण—इन पांच ऋषियों को काल्पनिक कहा जा सकता है क्योंकि तीनों ही परम्पराएं सामान्यतः इनको लोकपाल देव के रूप में स्वीकार करती हैं। इस तथ्य के साथ उन्होंने इस सत्य को भी स्वीकार किया है कि सोम, यम, वरुण और वैश्रमण—ये ऋषि ग्रंथ के रचनाकाल तक एक उपदेष्टा के रूप में लोकपरम्परा में मान्य रहे हों और इसी आधार पर इनके उपदेशों का ऋषिभाषित में संकलन कर लिया गया हो।<sup>१</sup>

द्वितीय संग्रहणी में यह उल्लेख मिलता है कि ४५ ऋषियों में बीस अरिष्टनेमि, पन्द्रह पार्श्वनाथ तथा दस महावीर के शासन के ऋषि हैं।<sup>२</sup> ऋषिमण्डल में भी इसी तथ्य की प्रस्तुति है।<sup>३</sup> कुछ विद्वान् इसी क्रम को स्वीकार करके प्रारम्भिक बीस ऋषि अरिष्टनेमि के, इक्कीस से पैंतीस तक के ऋषि पार्श्वनाथ के तथा छत्तीस से पैंतालीस तक के ऋषि महावीर के शासनकालीन मानते हैं।

गहराई से चिंतन करने पर पैंतालीस ऋषियों वाली बात सम्यक् प्रतीत नहीं होती क्योंकि बीसवें उत्कट अध्याय में किसी ऋषि का नाम नहीं है अतः इस वर्गीकरण में कौन से तीर्थकर के ऋषि को कम किया जाए, यह शोध का विषय है। ऐसा प्रतीत होता है कि संग्रहणी गाथाओं में सामान्य रूप से केवल संख्याओं का निर्देश है, न कि क्रम से तीर्थकरों के शासनकाल की संख्या के निर्धारण का निर्देश है। इस क्रम को स्वीकार करने से अनेक विसंगतियां आ जाती हैं—

\* आगमों में प्राप्त अम्बड़ एवं ऐतिहासिक पुरुष योगंधरायण के प्रसंग से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये महावीर के शासनकाल में हुए लेकिन संग्रहणी गाथा के क्रम के अनुसार ये पार्श्वकालीन ठहरते हैं।

१. ऋषि पृ. १८।

२. ऋषिसं २/१।

३. ऋषिमं ४४ ;

नारयरिसिपामुक्खे, वीसं सिरिनेमिनाहतित्थम्मि।

पण्णरस पासतित्थे, दस सिरिवीरस्स तित्थम्मि ॥

- \* इस क्रम के अनुसार वर्द्धमान (महावीर) पार्श्वनाथकालीन सिद्ध होते हैं, जबकि ये पार्श्वनाथ के बाद स्वयं चौबीसवें तीर्थंकर हुए।
- \* द्वैपायन ऋषि भगवान् अरिष्टनेमि के काल में हुए, जबकि इस क्रम को स्वीकार करने से ये महावीरकालीन सिद्ध होते हैं।

गहराई से चिन्तन करने पर ऐसा अनुभव होता है कि संग्रहणी गाथा में किए गए इस वर्गीकरण में भी पुनर्विचार की आवश्यकता है। प्राप्त साहित्यिक संदर्भों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि महावीर के शासन-काल में १२ ऋषि होने चाहिए लेकिन भगवान् पार्श्व और भगवान् अरिष्टनेमि के समय में होने वाले ऋषियों के बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। केवल अनुमान किया जा सकता है। कुछ वैदिक ऋषियों के बारे में फिर भी कहा जा सकता है कि ये भगवान् अरिष्टनेमि के समय में हुए। कौन ऋषि किस तीर्थंकर के काल में हुए, इसकी आनुमानिक परिकल्पना यहां प्रस्तुत की जा रही है—

**भगवान् महावीर**—अम्बड़ ( २५ ), आर्द्रक ( २८ ), इन्द्रनाग ( ४१ ), पुष्पशालपुत्र ( ५ ), मंखलि गोशालक ( ११ ), महाकाश्यप ( ९ ), मेतार्यभयालि ( १३ ), वर्द्धमान ( २९ ), वल्कलचीरी ( ६ ), वारत्रक ( २७ ), वृजिकपुत्र ( २ ), साचिपुत्र ( ३८ )—ये बारह ऋषि तीर्थंकर महावीर के शासनकाल में होने चाहिए।

**भगवान् पार्श्व**—अंगर्षि ( ४ ), कूर्मापुत्र ( ७ ), केतलिपुत्र ( ८ ), गर्दभाल, दकभाल ( २२ ), गाथापतिपुत्र तरुण ( २१ ), तेतलिपुत्र ( १० ), पार्श्व ( ३१ ), पिंग ( ३२ ), बाहुक ( १४ ), मधुरायण ( १५ ), मातङ्ग ( २६ ), विदु ( १७ ), संजय ( ३७ ), हरिगिरि ( २४ )—ये चौदह ऋषि भगवान् पार्श्वनाथ कालीन होने चाहिए।

**भगवान् अरिष्टनेमि**—असित देवल ( ३ ), आर्यायण ( १९ ), उद्दालक ( ३५ ), ऋषिगिरि ( ३४ ), तारायण ( ३६ ), द्वैपायन ( ४० ), नारद ( १ ), महाशालपुत्र अरुण ( ३३ ), यम ( ४३ ), याज्ञवल्क्य ( १२ ), रामपुत्र ( २३ ), वरुण ( ४४ ), वर्षप कृष्ण ( १८ ), वायु ( ३० ), वैश्रमण ( ४५ ), शौर्यायण ( १६ ), श्रीगिरि ( ३७ ), सोम ( ४२ )—ये अठारह ऋषि भगवान् अरिष्टनेमि कालीन होने चाहिए।

बीसवें अध्ययन में किसी ऋषि का नाम नहीं है।

### ऋषिमण्डल में ऋषिभाषित के ऋषि

धर्मघोषसूरि कृत ऋषिमण्डल प्रकरण ग्रंथ में भगवान् ऋषभ से लेकर दुःप्रषभ तक के आचार्य एवं

ऋषियों का जीवन-चरित्र वर्णित है। इसमें ऋषिभाषित के जिन ऋषियों का जीवन-चरित्र मिलता है, उनका क्रम इस प्रकार है—नारद<sup>१</sup> (१), वारत्रक<sup>२</sup> (२७), मेतार्यभयालि<sup>३</sup> (१३), इन्द्रनाग<sup>४</sup> (४१), तेतलिपुत्र<sup>५</sup> (१०), आर्द्रक<sup>६</sup> (२८), संजय<sup>७</sup> (३९), अंगर्षि<sup>८</sup> (४), असितदेवल<sup>९</sup> (३), कूर्मापुत्र<sup>१०</sup> (७)।

### ऋषिभाषित के उपदेशों पर अन्य का प्रभाव

डॉ. शूब्रिंग और श्री लल्लन गोपाल का यह अभिमत है कि जिस आचार्य ने इस ग्रंथ का संकलन किया, उसने दूसरी परम्परा के ऋषियों के विचारों को प्रामाणिकता से प्रस्तुत नहीं किया। अधिकांश अध्ययनों में चतुर्याम, पांच महाव्रत, कषाय, परीषह अथवा जैन पारिभाषिक पदावली का प्रयोग है, जैसे—समुद्घात, निकाचित, शैलेशी, निर्जरा, नवकोटिपरिशुद्ध, तीन गुप्त, पांच समिति आदि।

डॉ. सागरमलजी जैन का भी यही मंतव्य है कि जैन आचार्य द्वारा संकलित होने के कारण जैन परम्परा में मान्य कुछ अवधारणाएं भी इसमें प्रतिबिम्बित हो गई हैं।<sup>११</sup> उनके इस कथन में सत्यांश प्रतीत होता है लेकिन ऐसा भी संभव लगता है कि वे ऋषि अपने जीवन के सान्ध्य काल में निवृत्ति मार्ग से प्रभावित हुए हों क्योंकि उपनिषद्कालीन अधिकांश ऋषि निवृत्तिमार्ग से प्रभावित थे, इस बात को उपनिषद्-साहित्य में पदे-पदे देखा जा सकता है।

### ऋषिभाषित की भाषा

ऋषिभाषित प्राकृत भाषा में लिखा गया एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसकी प्राकृत भाषा अर्धमागधी के अधिक निकट है। इसमें महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव कम है। भाषा में कहीं कहीं पैशाची भाषा का प्रभाव भी दिखाई देता है—

करेमि — कलेमि (४/२३)

एरिसे — एलिसे (४/२३)

कहीं-कहीं अपभ्रंश के प्रयोग भी मिलते हैं—

सिणेहु (२७/२)

इसमें तकार बहुल प्राचीन पाठ अधिक मिलते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं यकार श्रुति का प्रयोग भी देखने को मिलता है लेकिन यह परिवर्तन बाद में हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।

१. ऋषिमं गा. ४२, ४३ टी प. ६४।

२. वही गा. ७६, टी प. ९६-९८।

३. वही गा. ८८ प. १०४।

४. वही गा. ९४ टी प. १११।

५. वही गा. ९७ टी प. ११२।

६. वही गा. १०० टी प. ११३।

७. वही गा. ११८ टी प. १२९।

८. वही गा. १२४ टी प. १३५, १३६।

९. वही गा. १२५ टी प. १३६।

१०. वही गा. १२६ टी प. १३६।

११. ऋषि पृ. १७।

### ऋषिभाषित की निर्युक्ति

आचार्य भद्रबाहु ने आवश्यक निर्युक्ति में दस निर्युक्तियां लिखने की प्रतिज्ञा की, उनमें अंतिम ग्रंथ का नाम है—ऋषिभाषित। वर्तमान में सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित—इन दोनों ग्रंथों की निर्युक्तियां अनुपलब्ध हैं। ऐसा संभव लगता है कि आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तियां लिखी थीं लेकिन काल के अन्तराल में इन दोनों का लोप हो गया। कुछ विद्वानों का यह मतव्य है कि आचार्य भद्रबाहु सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित पर निर्युक्ति नहीं लिख पाए, इससे पूर्व ही वे दिवंगत हो गए अथवा ऋषिभाषित में अन्य परम्पराओं के ऋषियों के विचार संकलित होने से उन्होंने स्वयं ही उस पर निर्युक्ति लिखने का विचार त्याग दिया हो।<sup>१</sup>

डॉ. सागरमलजी जैन का मतव्य है कि ऋषिभाषित निर्युक्ति की कुछ गाथाएं यथावत् रूप से अथवा परिवर्तित रूप में ऋषिमण्डल में सुरक्षित हैं<sup>२</sup> लेकिन उनका यह तर्क इस दृष्टि से विमर्शनीय है कि उसमें दश ऋषियों के ही जीवन से सम्बन्धित गाथाएं क्यों हैं? सभी ऋषियों के जीवन-चरित्र का वर्णन क्यों नहीं है? ऐसा संभव लगता है कि ऋषिमण्डल के कर्ता धर्मघोषसूरि को प्रसिद्ध ऋषियों का जीवन-चरित्र लिखना था अतः उन्होंने भगवान् ऋषभ से लेकर अंतिम दुःप्रषभ आचार्य तक के प्रसिद्ध ऋषियों के जीवन-चरित्र का वर्णन किया है। प्रसंगवश ऋषिभाषित के कुछ ऋषि, जिनके बारे में व्याख्या-साहित्य में बहुलता से वर्णन मिलता है, उन दश ऋषियों का भी समावेश उन्होंने कर दिया।

ऋषिभाषित ग्रंथ को गहराई से पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है कि ऋषिभाषित की कुछ निर्युक्ति-गाथाएं इसी ग्रंथ में सुरक्षित रह गई हैं। जैसा कि बृहत्कल्प आदि छेदसूत्रों की निर्युक्तियां भाष्य के साथ मिलकर एक ग्रंथ रूप हो गई हैं। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि ऋषिभाषित में अनेक स्थलों पर पुनरुक्ति मिलती है। कोई भी ग्रंथकार अपने ग्रंथ में इस रूप में पुनरुक्ति नहीं करते। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में आज यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है कि दो समान भाव वाली गाथाओं में ऋषिभाषित की गाथा कौन-सी है तथा निर्युक्ति की कौन-सी है? फिर भी अनेक अध्यायों में संवादी गाथाओं को देखकर यह कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित निर्युक्ति की कुछ गाथाएं आज भी सुरक्षित हैं। इसके कुछ प्रमाण इस प्रकार हैं—

- \* प्रथम अध्ययन में चौथी और पांचवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि चौथी गाथा में तीसरी गाथा की पुनरुक्ति है तथा पांचवीं गाथा छठी गाथा की संवादी है।
- \* दूसरे अध्ययन में तीसरी गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए।
- \* तृतीय अध्ययन में बारहवीं और तेरहवीं गाथा में कुछ अंतर के साथ एक ही विषय की पुनरुक्ति है। इन दोनों गाथाओं में एक गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए।
- \* चौथे अध्ययन में पच्चीसवीं गाथा चौबीसवीं गाथा की व्याख्या रूप हैं तथा तीसरा चरण पुनरुक्त भी है अतः पच्चीसवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए।

१. ऋषि पृ. ९३

२. ऋषि पृ. ९४।

\* पांचवें अध्याय में पांचवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि इसका पूर्वाद्ध तीसरी गाथा के उत्तरार्ध का संवादी है।

\* छठे वल्कलचिरी अध्ययन में आठवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि गाथा पांच से सात—इन तीन गाथाओं का निष्कर्ष इस गाथा में संक्षिप्त रूप में वर्णित है। दसवीं गाथा दूसरी गाथा की संवादी है अतः यह भी निर्युक्ति की होनी चाहिए।

\* पन्द्रहवें अध्ययन में नौवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि इसी की व्याख्या एवं पुनरुक्ति सातवीं-आठवीं गाथा में हुई है। इसी प्रकार अठारह से बीस—ये तीन गाथाएं भी निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि इस विषय की पुनरुक्ति इससे पूर्व की गाथाओं में है। १३ वीं गाथा में ऋषि ने ऋण की बात कही है।<sup>१</sup> यही बात १९ वीं गाथा में पुनरुक्त हुई है अतः इन दोनों में से एक गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए।

\* चौबीसवें अध्याय में १५ वीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि यह दसवीं गाथा की संवादी है।

\* अट्ठावीसवें अध्ययन में नौवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि यह सातवीं-आठवीं गाथा की संवादी है।

\* तीसवें अध्याय में आठवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि यह पांचवीं गाथा की संवादी है।

\* तैंतीसवें अध्याय में दूसरी और तीसरी गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि प्रथम सूत्र में गद्य रूप में कही गई बात की ही पद्य रूप में पुनरावृत्ति हुई है। सतरहवीं गाथा के बाद 'अरुणेण महासालपुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं' का उल्लेख है। इस संकेत से यह संभावना की जा सकती है कि ऋषि का कथन सतरहवीं गाथा तक सम्पन्न हो गया, निष्कर्ष रूप में अठारहवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि सुमित्र अथवा कल्याणमित्र की संगति की बात ऋषि पहले कह चुके हैं।

\* चौत्तीसवें अध्याय में सातवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि प्रथम ६ सूत्रों में ऋषि ने उपसर्गों को सहन करने के जो उपाय गद्य में प्रस्तुत किए हैं, उनका सारांश इस गाथा में है। इस गाथा के बारे में यह भी संभावना की जा सकती है कि यह मूल ऋषि द्वारा कथित गाथा हो।

\* पैंतीसवें अध्ययन में २१-२३—ये तीन गाथाएं निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि इनमें पूर्व गाथाओं में कथित विषय की पुनरुक्ति हुई है। इन तीन गाथाओं को निर्युक्तिकृद् मानने से भी बीसवीं गाथा चौबीसवीं गाथा के साथ विषय से सम्बद्ध है।

\* इकचालीसवें अध्ययन में सातवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि झष—मछली का दृष्टान्त तीसरी-चौथी गाथा में आ चुका है।

\* पैंतालीसवें अध्ययन में छत्तीसवीं गाथा निर्युक्ति की होनी चाहिए क्योंकि इसमें गाथा पैंतीस में आए विषय की ही प्रकारान्तर से पुनरुक्ति है।

१. ऐसा भी संभव लगता है कि १३ वीं गाथा निर्युक्ति की हो। १८-२०—ये तीनों गाथाएं आगे पैंतालीसवें अध्ययन में भी पुनरुक्त हुई हैं।

### व्याख्या ग्रंथ

एक प्रश्न सहज ही मस्तिष्क में कौंधता है कि अपने समय का इतना महत्वपूर्ण ग्रंथ होते हुए भी आचार्य हरिभद्र, मलयगिरि तथा अभयदेवसूरि जैसे व्याख्याकार आचार्यों ने इस पर टीका क्यों नहीं लिखी? यह भी संभव है कि यदि लिखी होगी तो भी मध्यकाल में इस ग्रंथ का पठन-पाठन कम होने से वह टीका लुप्त हो गई हो। वर्तमान में इस ग्रंथ पर एक लघुकाय टीका मिलती है, जो डॉ. वाल्थेर शूब्रिंग के संपादित पाठ के अंत में दी हुई है। इस टीका में किसी टीकाकार का नाम नहीं है। टीकाकार ने प्रायः कठिन शब्दों के लिए 'अज्ञातार्थः' का उल्लेख किया है। ग्रंथ में आई कथाओं का भी टीकाकार ने विस्तार नहीं किया है। यह टीका ग्रंथ के भावार्थ को स्पष्ट करने में पर्याप्त नहीं है।

### ग्रंथ वैशिष्ट्य

यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि ऋषिभाषित ग्रंथ भाव, भाषा और शैली की दृष्टि से भारतीय संस्कृति का उत्कृष्टतम ग्रंथ है। जीवन को उन्नत और प्रभास्वर बनाने के अनेक सूक्त इस ग्रंथ में यत्र-तत्र गुम्फित हैं। प्राकृत भाषा में निबद्ध होने पर भी कहीं कहीं इसमें संस्कृत भाषा से प्रभावित प्रयोग भी हैं। संधि एवं संस्कृत विभक्ति की दृष्टि से निम्न उद्धरण महत्वपूर्ण हैं—

संसाराय (२९/१३), जीविताय (४५/१६), पुणिणं — पुण + इणं (४/५)

इस ग्रंथ में एक ही शब्द के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों पर उसी शब्द का प्रयोग न करके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया गया है, जैसे—

राजा के लिए—नरिंद (२४/९), णरवति (१४/२), अधिव (३३/१७), पत्थिव (२७/६) आदि।

अग्नि के लिए—हुतास (२२/११), हुयवह (१०/४), वण्हि (३६/४), अग्नि (३६/६) आदि।

सूर्य के लिए—सूर (३७/५), आदिच्च (१५/३१, ३९/२), रवि (२४/७), सूरिय (३७/५) आदि।

लेकिन कहीं-कहीं इस ग्रंथ में एक ही शब्द या चरण की पुनरुक्ति भी हुई है, जैसे—णणस्स वयणा ऽचोरे णणस्स वयणा मुणी (४/१६)।

प्राचीन ग्रंथों की यह शैली रही है कि प्रसंगवश एकार्थकों का प्रयोग किया जाता है लेकिन औपदेशिक और आध्यात्मिक ग्रंथ होने के कारण इसमें एकार्थकों का प्रयोग बहुत कम है, फिर भी गद्य भाग में कहीं-कहीं एकार्थकों का प्रयोग है, जो आगम ग्रंथों से साम्य रखते हैं, जैसे—

\* अभिहणति तज्जेति तालेति परितालेति परितावेति उद्देवेति। (३४/३)

\* धुवे णिति ए सासए अक्खए अव्वए अवट्टिए निच्चे। (३१/९)

\* सज्जति रज्जति गिज्जति मुज्जति अज्जोववज्जति। (२४/२)



प्रसंगवश कहीं कहीं निरुक्तों का प्रयोग भी हुआ है लेकिन उसका प्रयोग अत्यन्त स्वल्प है, जैसे—

- \* लोकतीति लोको (३१/२)
- \* गम्ममाणा इति गती (३१/३)
- \* तातीति ताई (११/३) आदि।

इस ग्रंथ का मुख्य भाषागत वैशिष्ट्य है—अनेक सूक्त एवं सुभाषितों का प्रयोग। विविध सूक्तियों के प्रयोग से ग्रंथ की भाषा सरस, मार्मिक, वेधक और प्रभावोत्पादक बन गई है। कहीं कहीं तो इनमें जीवनगत मूल्यों की प्रभावक प्रस्तुति हुई है, जैसे—

- \* नमंसमाणस्स सदा, संती आगम्म वट्टती। (५/३)
- \* अण्णाणं परमं दुक्खं। (२१/३)
- \* पिज्जुज्जोगो परं दुक्खं, तण्हक्खय परं सुहं। (२८/९)
- \* ण हेमं दंतकट्टं तु, चक्कवट्टी वि सादए। (२८/२३)
- \* कोहाविद्धा ण जाणंति, मातरं पितरं गुरुं। (३६/१५)
- \* इच्छंते पोच्छते इच्छा, अणिच्छं तं पि इच्छति। (४०/५)

ग्रंथ में आई सूक्तियों का संकलन परिशिष्ट नं. ३ में कर दिया गया है।

इस ग्रंथ के बहुत कम अध्ययनों में कथाओं का प्रयोग है। जो कथाएं प्रयुक्त हैं, वे सांकेतिक रूप से दी गई हैं, उनका विस्तार पंचतंत्र अथवा जातक से किया गया है। कुछ कथाएं इस ग्रंथ में पुनरुक्त भी हुई हैं, जैसे— वृद्ध सिंह और गीदड़ वाली कथा तीन अध्यायों तथा तैलपात्रधारक की कथा दो स्थानों पर पुनरुक्त हुई है। संभव है भिन्न-भिन्न ऋषि के वक्तव्य होने के कारण यह पुनरुक्ति हुई हो लेकिन विमर्श का बिंदु यह है कि संकलन कर्ता आचार्य का ध्यान इस पुनरुक्ति पर क्यों नहीं गया? अंतिम सुनंदा वाली कथा का विस्तार व्याख्या ग्रंथ के अभाव में नहीं किया जा सका। ग्रंथ में प्रयुक्त कथाओं का संकलन परिशिष्ट न. २ में किया गया है।

उपमा, लौकिक दृष्टान्त एवं उदाहरणों की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत समृद्ध है। अनेक उपमा एवं दृष्टान्तों के प्रयोग से इस ग्रंथ की भाषा में चित्रात्मकता और सरसता उत्पन्न हो गई है। ग्रंथ में अनेक नई उपमाओं का प्रयोग है लेकिन ग्रंथकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि 'दिट्ठंते देसधम्मिंतं' अर्थात् दृष्टान्त की योजना एकदेशीय होती है। बावीसवें अध्याय में नारी को दी गई उपमाएं मौलिक कही जा सकती हैं। इन उपमाओं को माया पर भी घटित किया जा सकता है। छब्बीस एवं बत्तीस—इन दोनों अध्यायों में कृषि के उपकरणों को आध्यात्मिक खेती से उपमित किया है लेकिन उन उपमाओं को परिशिष्ट में समाविष्ट नहीं किया है। ग्रंथ में आई प्रायः उपमाओं का संकलन परि. नं. ४ में कर दिया गया है।

इस ग्रंथ में कुछ गाथाएं एकाधिक अध्ययनों में पुनरुक्त हुई हैं। पुनरुक्ति का एक कारण यह हो सकता है कि अत्यन्त प्रसिद्ध होने के कारण ऋषियों ने इन्हें अपने अध्ययन में उद्धृत कर दिया हो। जैसे—मूलसेके (२/६, १३/६, १५/११) तथा सक्का वण्ही (३/१५, ३६/५) आदि।

चूर्ण और टीका साहित्य की भांति इसमें शब्दों की परिभाषाएं नहीं मिलतीं लेकिन स्वरूप को व्यक्त करने वाली कुछ परिभाषाएं मिलती हैं। जैसे श्रेष्ठ और उत्तम पुरुष कौन ? इस संदर्भ में इस ग्रंथ में दो परिभाषाएं मिलती हैं—

\* लाभम्मि जे ण सुमणो, अलाभे णेव दुम्मणो।

से हु सेट्टे मणुस्साणं, देवाणं व सतक्कतू ॥ (४३/१)

\* जस्स खलु भो ! विसयायारा ण परिस्सवंति इंदिया वा दवेहिं, से खलु उत्तमे पुरिसे त्ति। (१६/१)

ब्राह्मण के स्वरूप को व्यक्त करने वाली परिभाषाएं—

\* सव्विदिएहि गुत्तेहिं, सच्चप्पेही स माहणे। (२६/६)

\* सीलंगेहि णिउत्तेहि, सीलप्पेही स माहणे। (२६/६)

इसी प्रकार पंडित और बाल (३३/२, ३) तथा दुर्मित्र और सुमित्र के स्वरूप (३३/१२, १३) का सुंदर विश्लेषण हुआ है।

छंद की दृष्टि से इसमें कहीं शब्दों का ह्रस्वीकरण तथा कहीं दीर्घीकरण भी हुआ है।

पादपूर्ति रूप जे, य, उ आदि का प्रयोग भी यत्र-तत्र मिलता है। यहां पादपूर्ति रूप 'र' का प्रयोग द्रष्टव्य है—हिंसं लभति हंता र (३०/५)।

### विषय-वैशिष्ट्य

महाभारत के सभापर्व के अनुसार प्राचीन काल में पराविद्या से सम्बन्धित ऋषियों की विविध सभाएं होती थीं, जिनमें अनेक विचारक ऋषि न केवल जगत् की उत्पत्ति और स्वरूप के विषय में चिन्तन करते थे, बल्कि जीवन-व्यवहार को उन्नत और आनंदमय बनाने के सूत्र भी प्रस्तुत करते थे। इस ग्रंथ में भी ऋषियों के अन्तर्मथन से निकली वाणी का संकलन है, जो शाश्वत संदेश देने वाली है।

ऋषिभाषित ग्रंथ में मुख्यतः दर्शन जगत् की गुत्थियां और भाषागत जटिलता न होकर विशुद्ध अध्यात्म का विवेचन अधिक हुआ है। सैंतीसवें ऋषिगिरि अध्ययन में हवन के बारे में वर्णन है। इसके अतिरिक्त कहीं भी धार्मिक क्रियाकाण्डों का वर्णन नहीं है। कायिक क्रियाकाण्ड ही नहीं, वाचिक रूप से होने वाले जप आदि का वर्णन भी इसमें नहीं है। ध्यान के महत्त्व को शीर्ष स्थान पर रखा है। ऋषि गर्दभाल कहते हैं कि जैसे शरीर में शिर का प्रमुख स्थान है, वैसे ही आध्यात्मिक क्रियाओं में ध्यान का मुख्य स्थान है। महाकाश्यप ऋषि के अनुसार जैसे

आतप से संतप्त वस्त्र पानी से शुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन युक्त आत्मा ध्यान के द्वारा पवित्र हो जाती है। (९/२७)

दुःख-मुक्ति के उपायों पर प्रायः सभी धर्मों के आचार्यों ने अपने ढंग से चिन्तन किया है। इस ग्रंथ में भी अनेक ऋषियों ने भिन्न-भिन्न रूपों में दुःख-मुक्ति के उपाय बताए हैं लेकिन उनका फलितार्थ अभिन्न है। नारद ऋषि श्रवण से सब दुःखों की मुक्ति स्वीकार करते हैं। (१/१) ऋषि केतलिपुत्र के अनुसार परिग्रह दुःख का कारण है, जो इसका विच्छेद करके संयम में स्थित हो जाता है, वह दुःखमुक्त हो जाता है। (८/३) ऋषि वृजिकपुत्र मोह को दुःख का कारण मानते हैं। (२/७) कूर्मापुत्र के अनुसार उत्सुकता रखना दुःख का कारण है। (७/१) कुछ ऋषि कर्म को दुःख का कारण मानते हैं। (९/४, १३/५) ऋषि मधुरायण और हरिगिरि पाप को दुःख का कारण मानते हैं। (१५/५, २४/३२) अतः पाप का नाश होने पर ही दुःख का नाश संभव है। (१५/१०) ऋषि आर्यायण आर्य संगति से दुःख-मुक्ति स्वीकार करते हैं। (१९/५) गाथापतिपुत्र तरुण अज्ञान को उत्कृष्ट दुःख का कारण मानते हैं। (२१/३) आर्द्रक ऋषि कामभोगों को दुःख का हेतु मानते हैं। (२८/५)

कहीं-कहीं स्वतंत्र विषयों पर भी ऋषियों ने अपने मौलिक विचार व्यक्त किए हैं, जैसे—तारायण ऋषि ने क्रोध के परिणाम पर, ऋषिगिरि ने सहन करने के उपायों पर तथा ऋषि हरिगिरि ने संसार की अनित्यता का सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है।

### दार्शनिक प्रस्तुति

ऋषिभाषित में प्रसंगवश अनेक दार्शनिक तथ्यों की प्रस्तुति हुई है, जैसे—कर्मवाद, लोकवाद, पंचास्तिकाय, सृष्टिवाद तथा देहात्मवाद आदि।

कर्मवाद भारतीय संस्कृति का मूल आधार है। असमानता होने पर भी प्रायः सभी दार्शनिकों ने अपने अपने ढंग से इसके अस्तित्व को स्वीकृत किया है। श्रमण परम्परा कर्मवाद के संदर्भ में आत्मकर्तृत्व को स्वीकार करती है, जबकि वैदिक परम्परा ईश्वरकर्तृत्व को मान्य करती है। कर्म फल वेदन के सम्बन्ध में एक परम्परा है—अज्ञेयवाद। इसके अनुसार सुख-दुःख के फल-भोग का हेतु अज्ञात है। ऋषिभाषित के अध्यायों में कर्म को प्रतिध्वनि से उपमित किया है। (३०/९) व्यक्ति जैसी ध्वनि करता है, वैसी ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है। इसी प्रकार व्यक्ति जैसे कर्म करता है, वैसे ही उसको फल भोगने पड़ते हैं। आज की भाषा में कर्म को टेपरिकार्डर से उपमित किया जा सकता है।

नवें महाकाश्यप ऋषि को छोड़कर प्रायः सभी ऋषियों ने कर्मवाद की व्यावहारिक प्रस्तुति की है। ग्रंथ के अनेक ऋषियों ने इस बात की पुनरावृत्ति की है कि व्यक्ति स्वकृत कर्मों का भोग करता है, दूसरा तो उसमें निमित्त मात्र है। (१३/५) भगवती सूत्र में भी इसी तथ्य की पुष्टि हुई है कि व्यक्ति आत्मकृत कर्मों का फल

भोगता है, न कि परकृत कर्मों का। अपने सुकृत और दुष्कृत कर्मों की निर्णायक व्यक्ति की आत्मा है। अंगर्षि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि दूसरे लोग कल्याणकारी को पापकारी अथवा पापकारी को कल्याणकारी कह सकते हैं अतः दूसरे के कथन मात्र से चोर साहूकार नहीं हो सकता और न ही साधु असाधु हो सकता है। इस संदर्भ में व्यक्ति की अंतरात्मा ही प्रमाण है। (४/१४, १५)

कहीं-कहीं ग्रंथ में कर्मवाद का विशुद्ध आध्यात्मिक रूप भी प्रस्तुत हुआ है। ऋषि वैश्रमण कहते हैं कि पुण्य और पाप दोनों बंधन और दुःख के कारण हैं। सोने का बहुमूल्य दंडा भी यदि शिर पर पड़ता है तो दुःख की अनुभूति ही होती है। (४५/५०)

इस ग्रंथ में स्पष्ट उद्घोषणा है कि 'णत्थि कम्मं निरत्थंगं'—अर्थात् कर्म कभी निष्फल नहीं होता। कल्याण करने वाला कल्याण को प्राप्त करता है तथा हिंसा करने वाला हिंसा को प्राप्त करता है। (३०/५) कर्म भोग के समय तप आदि के द्वारा कुछ कर्मों के फल को निष्प्रभ किया जा सकता है लेकिन निकाचित कर्मों के फल को तो भोगना ही पड़ता है। (९/१५)

यद्यपि इस ग्रंथ में पंचास्तिकाय का विस्तृत वर्णन नहीं है लेकिन सूत्र रूप में उसका उल्लेख है। पार्श्व ऋषि कहते हैं कि पंचास्तिकाय त्रिकाल में शाश्वत हैं। ऋषि ने षड्द्रव्य का वर्णन नहीं किया, इस बात से यह कल्पना की जा सकती है कि काल की द्रव्य रूप में स्वीकृति परवर्ती मान्यता है। पंचास्तिकाय की स्वीकृति विश्व व्यवस्था के संदर्भ में जैन तत्त्वज्ञान की मौलिक प्रस्थापना है।

दार्शनिक दृष्टि से चार्वाक सम्मत पंचभूतवाद तथा देहात्मवाद आदि का भी उल्लेख मिलता है। इस मत के अनुसार भूतों से चेतना उत्पन्न होती है अतः आत्मा नामक कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। भूतों के नष्ट होने पर आत्मा का नाश हो जाता है। पुण्य और पाप का कोई फल नहीं मिलता। देहात्मवाद या जीवशरीरवाद के अनुसार मस्तक से लेकर पैरों तक तथा त्वचा पर्यन्त जीव है। शरीर ही जीव है। जैसे बीज के दग्ध हो जाने पर पुनः अंकुर की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही शरीर के नाश होने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती। (२०/७, ८) सूत्रकृतांग में ये विचार अजितकेशकंबलि के मत से सम्बन्धित हैं।

इस ग्रंथ में सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी वैदिक अवधारणा का उल्लेख हुआ है। यद्यपि ऋषि ने बहुत संक्षेप में सूत्रात्मक शैली में सृष्टि की उत्पत्ति बताई है लेकिन इस सिद्धान्त का विस्तार मनुस्मृति, अग्निपुराण, मत्स्यपुराण, सुबालोपनिषद्, ब्रह्माण्डपुराण आदि ग्रंथों में मिलता है।<sup>१</sup> ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में इस सिद्धान्त का विस्तार मिलता है। उसके अनुसार जब गर्भ धारण करती हुई और अग्नि को उत्पन्न करती हुई विशाल जलराशि ने विश्व को व्याप्त किया, तब देवताओं का एकमात्र प्राणभूत (प्रजापति) उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण,

१. विस्तार हेतु देखें ऋषि श्रीगिरि पृ. ३०९, ३१० तथा ३७/१ का टिप्पण।

भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा दोनों पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई।<sup>१</sup>

इस ग्रंथ के बावीसवें अध्याय में उल्लेख मिलता है कि ईश्वर ही चेतन और अचेतन सभी धर्मों का आदि कारण है और वही सृष्टि के उत्पाद और विनाश का मूल कारण है लेकिन इस संदर्भ में भगवान् महावीर ने आत्मकर्तृत्व का सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। उनके अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति प्रयत्नजन्य और स्वाभाविक दोनों प्रकार की होती है। इस बात को उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है कि मनुष्य ने अपने प्रयत्न से कृत्रिम पहाड़, नहर आदि बनाए, यह प्रायोगिक कर्तृत्व है तथा प्राकृतिक पहाड़, नदियां आदि वैज्ञानिक कर्तृत्व है।<sup>२</sup>

जैन दर्शन सम्मत लोक का विवेचन भी लोक सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाओं का समाधान करता है। लोकवाद का वर्णन जैन दर्शन सम्मत हुआ है। तेवीसवें अध्याय में 'उडुंगामी जीवा अधेगामी पोग्गला'—इस सूत्र में ऋषि यह कहना चाहते हैं कि शुद्ध जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्वगामी ही होती है। पुद्गल की गति अधोगामी होती है, इसका तात्पर्य गुरुलघु पर्याय वाले पुद्गलों से होना चाहिए। गुरुलघु पर्याय वाले पुद्गलों की अधोगति ही होती है।

### ज्ञान-मीमांसा

ज्ञान के संदर्भ में अंगर्षि स्पष्ट कहते हैं कि जिसके द्वारा आत्मा तथा स्वयंकृत शुभ-अशुभ कर्मों को जाना जा सके, वही ज्ञान अचल और ध्रुव है। (४/४) ऋषि विदु की अवधारणा है कि जिस विद्या से जीवों की गति आगति तथा आत्मभाव का ज्ञान होता है, वही विद्या दुःख से मुक्ति दिला सकती है। वैदिक ऋषि भी प्रकारान्तर से इसी सत्य का संगान करते हैं—'सा विद्या या विमुक्तए'।

इस ग्रंथ में अज्ञान से होने वाली हानियां तथा ज्ञान के माहात्म्य का सुंदर विवेचन मिलता है। ऋषि गाथापतिपुत्र तरुण कहते हैं कि अज्ञान परम दुःख है। अज्ञान से ही व्यक्ति भय का अनुभव करता है। प्रसंगवश जानने की क्रमिक अवस्थाओं के लिए ऋषि ने चार धातुओं का प्रयोग किया है—जाणामि, पासामि, अभिसमावेमि और अभिसंबुज्जामि—जानना, देखना, समझना और अवबोध करना। (२१/२) ऋषि अरुण ने अन्य दानों की अपेक्षा ज्ञान दान को अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। (३३/१०)

सम्पूर्ण ग्रंथ को पढ़ने पर ऐसा लगता है कि ज्ञान-मीमांसा का व्यवस्थित विकास परवर्ती होना चाहिए। प्राचीन होने के कारण इस ग्रंथ में ज्ञान का माहात्म्य तो प्रतिपादित है लेकिन तात्त्विक और दार्शनिक दृष्टि से ज्ञान का विवेचन उपलब्ध नहीं है। फिर भी इस संदर्भ में गंभीर शोध अपेक्षित है।

### आचारशास्त्रीय विवेचन

ऋषिभाषित ग्रंथ को नीतिशास्त्र अथवा आचारशास्त्र का ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमें आचारशास्त्रीय

१. ऋग्वेद १०/९०/१२ ; ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्, बाहू राजन्यः कुतः।

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः, पदभ्यां शूद्रो अजायत ॥

२. विस्तार हेतु देखें भभा १ पृ. ७७, ७८।

अनेक अवधारणाओं की सुंदर प्रस्तुति हुई है। सत्तावीसवें अध्ययन में सच्चे श्रमण की कसौटियां प्ररूपित हैं। वारत्रक ऋषि ने पूरे अध्ययन में श्रमण को किन कार्यों से दूर रहना चाहिए, इसका विशद विवेचन किया है।<sup>१</sup> उन्होंने अध्ययन का प्रारम्भ ही इस बात से किया है कि साधु का श्रेष्ठ चारित्र ही उसकी निराबाध सम्पदा है। (२७/१)

प्रसंगवश इसमें सच्चे ब्राह्मण का स्वरूप भी प्रस्तुत हुआ है, जिसकी तुलना धम्मपद और उत्तराध्ययन के श्लोकों से की जा सकती हैं। बौद्ध और जैन परम्परा में जिस रूप में ब्राह्मण का स्वरूप मिलता है, उसे देखकर लगता है कि ब्राह्मण वर्ग अपने मौलिक आचार से स्खलित हो रहा था। मातङ्ग ऋषि के कथन से भी स्पष्ट आभासित होता है कि उस समय ब्राह्मण वर्ग युद्ध और कलह में संलग्न हो रहा था। इसलिए ऋषि उनसे प्रश्न पूछते हैं कि ब्राह्मण वर्ग की आभा वाले होकर भी तुम लोग युद्ध क्यों सीख रहे हो? (२६/१) इस प्रसंग में ऋषि ने ब्राह्मण के स्वरूप को व्यक्त करने वाली कुछ गाथाओं का उल्लेख किया है।

बौद्ध-साहित्य के सुत्तनिपात के महावर्ग में वशिष्ठ और भारद्वाज के शिष्यों में ब्राह्मण कौन होता है, इस विषय में चर्चा मिलती है। भारद्वाज शिष्य की मान्यता थी कि जन्मना ब्राह्मण होता है लेकिन वशिष्ठ शिष्य कर्मणा ब्राह्मण के पक्ष में था। दोनों अपने विवाद को लेकर बुद्ध के पास पहुंचे। बुद्ध ने विस्तार से उनको समाहित करते हुए कहा कि जैसे वनस्पति में, कीट-पतंगों में, चतुष्पद पशुओं में, जलचर जीवों में जन्मजात जातिगत भेद स्पष्ट दिखाई देता है, वैसा भेद मनुष्यों में दिखाई नहीं देता। केश, शिर, आंख, नाक, ग्रीवा आदि सब अवयव मनुष्यों के प्रायः समान होते हैं अतः मनुष्य जन्म से ब्राह्मण नहीं, अपितु कर्म से ब्राह्मण होता है।<sup>२</sup>

### पाठ-संपादन

वीर निर्वाण के १००० वर्ष तक आगम मौखिक परम्परा के रूप में सुरक्षित रहे। प्राचीन होने के कारण यह ग्रंथ भी अनेक वर्षों तक मौखिक रूप में सुरक्षित रहा अतः मूल लेखक की लिखी हुई अथवा पूर्णतः संशोधित या प्रमाणित कोई प्रति वर्तमान में नहीं मिलती। प्रतिलिपि होने पर भी कोई भी प्रति हूबहू दूसरी प्रति से नहीं मिलती। प्रत्येक प्रति में व्यञ्जनकृत अंतर तो पाया ही जाता है, कहीं-कहीं शब्दकृत अंतर भी मिलता है। प्रतियों में आए पाठान्तर के मुख्य चार कारण हैं— १. परम्परा-भेद २. लिपि दोष ३. मूलपाठ में अन्य ग्रंथ का सम्मिश्रण ४. प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारण।

प्राचीन साहित्य को आज के संदर्भ में संपादित करना दुरुह कार्य है। आज से लगभग हजार वर्ष पूर्व नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि ने भी कुछ कठिनाइयों की चर्चा की थी—

१. द्र २७/२-८।

२. सुत्तनि ३/१९३-२१० पृ. ११६-११९।

- \* सत् सम्प्रदाय (अर्थ-बोध की सम्यक् गुरु-परम्परा) प्राप्त नहीं है।
- \* सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक स्थिति) प्राप्त नहीं है।
- \* अनेक वाचनाएं हैं।
- \* पुस्तकें अशुद्ध हैं।
- \* कृतियां सूत्रात्मक होने के कारण गंभीर हैं।
- \* अर्थ विषयक मतभेद हैं।

इन कठिनाइयों के बावजूद टीकाकार के रूप में वे श्रुत की महान् सेवा कर गए। उन्हीं को आदर्श मानकर हस्तप्रतियों से इस ग्रंथ के संपादन का कार्य किया और यत्किञ्चित् सफलता प्राप्त की।

वैदिकों ने मौखिक परम्परा से भी वेदों के पाठ की बहुत सुरक्षा की। ब्राह्मणवर्ग ने स्वर के आरोह-अवरोह आदि अनेक उच्चारणों से वेदपाठ की सुरक्षा की। आज भी वेदों का अस्खलित पाठ करने वाले अनेक वेदपाठी ब्राह्मण मिलते हैं लेकिन जैन आगमों का बहुत बड़ा भाग काल के अंतराल में विस्मृत एवं लुप्त हो गया। जैन आगम या अन्य साहित्य के पाठ सुरक्षित न रहने का एक मुख्य कारण यह भी रहा कि जैन आचार्यों ने आगम-वाचना को केवल साधु-समुदाय तक ही सीमित रखा, गृहस्थों को वाचना देने का अधिकारी नहीं माना।

आगम-साहित्य को लिपिबद्ध करने का महत्त्वपूर्ण कार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने प्रारम्भ किया। बाद में यति वर्ग ने भी आगम-लेखन में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया। सेठ लोग प्रतिलिपि करवाने में धन का सदुपयोग मानते थे अतः प्रतिलिपि करवाकर साधुओं को दान देने में पुण्य का कार्य मानते थे। गरुड़ पुराण का यह श्लोक इसी बात की पुष्टि करता है—

इतिहास-पुराणाणि, लिखित्वा यः प्रयच्छति।

ब्रह्मदानसमं पुण्यं, प्राप्नोति द्विगुणीकृतम् ॥

हस्तलिखित प्रतियों से प्राचीन ग्रंथों का पाठ-संपादन जटिल, श्रमसाध्य एवं कष्टसाध्य कार्य है। इस बात का अनुभव वे ही कर सकते हैं, जिन्होंने इस क्षेत्र में कार्य किया है। बिना धैर्य एवं स्थिरता के यह कार्य होना कठिन है। हस्तप्रतियों से पाठ मिलाना, छंद की दृष्टि से पाठ देखना, गाथा की मात्राएं गिनना, प्रत्येक पेज में ऊपर-नीचे पाठान्तर की संवादिता मिलाना तथा अन्य ग्रंथों के संदर्भों को मिलाना आदि कार्य न केवल समयसाध्य अपितु श्रमसाध्य भी है। पाठ-संपादन में व्याकरण, कथ्य, पौर्वापर्य आदि का अनुसंधान करना भी अत्यन्त अपेक्षित रहता है। इसके लिए अनुसंधाता को एक-एक शब्द पर ध्यान केन्द्रित करना पड़ता है। गुरुकृपा से इस ग्रंथ में यह सारा कार्य सुगम हो गया।



### सम्पादन की प्रक्रिया

आधुनिक विद्वानों ने पाठ-अनुसंधान एवं शोध-प्रविधि के विषय में पर्याप्त प्रकाश डाला है। पाश्चात्य विद्वान् इस कार्य को चार भागों में विभक्त करते हैं—

- \* सामग्री-संकलन
- \* पाठ-सुधार
- \* पाठ-चयन
- \* उच्चतर आलोचना।

प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादन में हमने चारों बातों का ध्यान रखने का प्रयत्न किया है।

पाठ-संशोधन के लिए हमारे समक्ष मुख्य रूप से इसकी हस्तप्रतियां सहायक बनीं। इसकी ताड़पत्रीय प्रति नहीं मिलने के कारण पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी में लिखी गई प्रतियों का हमने इसके पाठ-सम्पादन में उपयोग किया है। पाठ-संशोधन में यद्यपि सात प्रतियों का उपयोग किया है लेकिन उसमें भी ब, पा और ला प्रति के पाठों को अधिक प्रामाणिक माना है। पाठ-संपादन में हमने किसी एक ही प्रति को प्रमुखता नहीं दी और न ही बहुमत के आधार पर पाठ का निर्धारण किया है। अर्थ मीमांसा, उसका औचित्य और छंद के आधार पर जो पाठ उचित लगा, उसको मूल में रखा तथा शेष को पाठान्तर में दे दिया। पाठ-संपादन में निम्न बिंदु विशेष उल्लेखनीय हैं—

\* इंद्रियविषयों एवं कषाय से सम्बन्धित एक जैसी गाथाओं का हस्तप्रतियों में एवं रूवे, गंधे, रसे अथवा एवं माणे माया लोभे का संकेत मिलता है। वहां यदि एक भी प्रति में पूरी गाथाएं हैं तो हमने उन गाथाओं की पूर्ति की है, जैसे—३८ वें अध्ययन में ६ से ९ तक की गाथाएं।

\* जहां कहीं पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग मिलता है, वहां हमने बहुमत के आधार पर पाठ का निर्धारण किया है, जैसे—भिक्खू और साधू। इन दोनों शब्दों में न मात्रा-भेद है और न ही अर्थ-भेद, ऐसी स्थिति में जो पाठ अधिक प्रतियों में मिला, उसको मूल में रखा है।

लिपिकार की भूल से जहां पाठभेद हुआ, ऐसे पाठान्तरों का प्रायः उल्लेख नहीं किया है लेकिन जहां उस शब्द से अन्य अर्थ निकलने की संभावना थी, उन पाठान्तरों का उल्लेख किया गया है।

इस ग्रंथ के कुछ पाठ एवं गाथाएं अन्य आगम एवं व्याख्या ग्रंथों में भी मिलती हैं, वहां हमने उनके पाठान्तर भी फुटनोट में दिए हैं।

जो गाथाएं ग्रंथ के विषय से असंबद्ध लगीं, प्रतियों में मिलने पर भी उन गाथाओं को हमने मूल क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा है। जैसे— (९/२३/१, २२/१०/१)

\* जहां कहीं किसी भी प्रति में कोई शब्द, चरण या गद्यांश नहीं है, उसका निर्देश हमने पाद-टिप्पण में × चिह्न द्वारा किया है।

\* जहां पाठान्तर एक से अधिक शब्दों या पूरे चरण में है, वहां ' '—इस चिह्न के द्वारा पाठान्तर को दर्शाया गया है।

\* प्रस्तुत ग्रंथ में जहां समान गाथाएं पुनरुक्त हुई हैं, उनमें जिस स्थल पर जैसा पाठ मिला, वहां वैसा ही पाठ रखा है, अपनी ओर से पाठ को संवादी बनाने का प्रयत्न नहीं किया है।

\* डॉ. के. आर. चन्द्रा आदि भाषाशास्त्री विद्वानों के अनुसार प्राचीन अर्धमागधी संस्कृत के निकट थी। जहां कहीं प्रति में हमें संस्कृत प्रधान प्राचीन रूप मिले, वहां मूल पाठ में उनको प्रमुखता दी है लेकिन जहां प्रतियों में पाठ नहीं मिले, उनको वैसा ही रखा है। प्रामाणिकता की दृष्टि से ऐसा करना आवश्यक था अतः इसी ग्रंथ में विद्वानों को जध जह, एते एए, होति होइ आदि दोनो रूप मिलेंगे।

\* यद्यपि इस ग्रंथ में प्राचीन रूप अधिक हैं लेकिन जहां केवल तकारश्रुति के रूप हैं, वहां हमने उन पाठों को प्रधानता नहीं दी है, जैसे—केति केइ, बितितो बितिओ पाठ मिलने पर हमने केइ और बितिओ पाठ को प्रधानता दी है।

\* सप्तमी विभक्ति के लिए य और अंसि विभक्ति वाले प्रयोग प्राचीनता की दृष्टि से स्वीकृत किए गए हैं, जैसे—बुद्धीय, सरीरंसि, लोकंसि आदि।

\* जहां कहीं गाथा या अनुष्टुप् में छंदभंग है, उसका हमने पादटिप्पण में निर्देश कर दिया है।

\* हेमचन्द्र कृत प्राकृत व्याकरण के अनुसार संयुक्त व्यञ्जन से पूर्व का स्वर ह्रस्व हो जाता है। हमें दोनों रूप मिले, वहां प्राचीनता की दृष्टि से हमने दीर्घ रूप को स्वीकृत किया है लेकिन कहीं-कहीं पाठ न मिलने पर ह्रस्व भी स्वीकृत किया है, जैसे—

हुज्ज—होज्ज  
वुच्छामि—वोच्छामि  
संखिज्ज—संखेज्ज आदि।

प्राकृत व्याकरण से प्रभावित सामान्य व्यञ्जन एवं स्वरविशेष से जुड़े पाठों का हमने प्रायः पाठान्तर नहीं लिया है क्योंकि इससे ग्रंथ का कलेवर बढ़ जाता, जैसे—

साहू — साधू  
पण्णा — पन्ना  
विसोही — विसोधी  
होइ — होति आदि।

पाश्चात्य विद्वान् ल्यूमेन ने दशवैकालिक तथा एल्फसडोर्फ ने उत्तराध्ययन का छंद की दृष्टि से अनेक स्थलों पर पाठ-संशोधन एवं विमर्श किया है। उन्होंने छंद तकनीक को उपकरण के रूप में काम में लिया है।

जेकोबी ने छंद के आधार पर गाथा की प्राचीनता और अर्वाचीनता का निर्धारण किया है। हमने भी छंद के आधार पर पाठ-निर्धारण करने का प्रयत्न किया है। अनेक स्थलों पर तो छंद के आधार पर ही पाठ की अशुद्धियां पकड़ी गई हैं। इस ग्रंथ में भी जहां कहीं हमें छंद की दृष्टि से पाठ-संगत नहीं लगा, वहां उसका वैकल्पिक पाठ क्या होना चाहिए, इसका निर्देश पादटिप्पण में कर दिया है, जैसे—

\* ४/२, ११ का टिप्पण।

\* ७/५ का टिप्पण।

\* छंद की दृष्टि से मात्रा को ह्रस्व करने के लिए ~ चिह्न का प्रयोग किया है लेकिन कम्प्यूटर के कारण वह चिह्न मात्रा के साथ मिलकर ऊर्ध्व र की भ्रांति उत्पन्न करता है।

पाठ-संपादन में हमने आर्या की उपजातियों का पृथक् निर्देश नहीं किया है लेकिन आर्या के अतिरिक्त दूसरे छंद में निबद्ध का पादटिप्पण में उल्लेख कर दिया है, जैसे—अनुष्टुप्, रथोद्धता आदि। कहीं-कहीं एक ही गाथा में अनुष्टुप् और आर्या—इन दोनों छंदों का प्रयोग हुआ है, उसका भी पादटिप्पण में संकेत कर दिया गया है।

\* टीकाकार ने जहां विशेष शब्दों का अर्थ किया है, उसका पादटिप्पण में उल्लेख कर दिया है जैसे टीकाकार ने लावण्य का अर्थ मैत्री किया है। (पृ. ११९)

संदर्भ देने की सुविधा हेतु इस ग्रंथ में हमने गद्य और पद्य के क्रमांक एक साथ लगा दिए हैं। पद्य के अंत में मुद्रित पुस्तक के क्रमांक भी लगा दिए हैं, जिससे शोधार्थी को सुविधा हो सके।

संपादन में हमने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि प्रारम्भ से अंत तक एक ही प्रकाशन के संदर्भ दिए जाएं। अलग-अलग प्रकाशित पुस्तकों के संदर्भ देने से एकरूपता नहीं रहती, जैसे—महाभारत के प्रायः जितने प्रकाशन हैं, उनमें संदर्भों की एकरूपता नहीं है। हमें महाभारत के संदर्भों की एकरूपता के लिए अत्यन्त श्रम करना पड़ा। थेरगाथा और थेरगाथा अट्टकहा में दो अलग-अलग प्रकाशनों के संदर्भ हैं। जहां स्थविर का जीवन वर्णित है, वहां उसका प्रकाशन ज्ञानमण्डल मंत्रालय है तथा जहां स्थविर का कथन है, उसका प्रकाशन बुद्ध भारती वाराणसी है।

### ऋषिभाषित का अनुवाद

किसी भी ग्रंथ का एक भाषा से दूसरी भाषा में अनुवाद करना उतना ही कठिन कार्य होता है, जितना कि एक कलाकार को हुबहू चित्र उतारना। जिस भाषा में अनुवाद किया जाता है, उसे आधुनिक भाषा में लक्ष्यभाषा तथा जिस भाषा की सामग्री अनुदित होती है, वह स्रोतभाषा कहलाती है। दोनों भाषा पर पूरा अधिकार किए बिना अनुवाद करना सरल नहीं होता। आधुनिक विद्वानों ने अनुवाद के चार भेद किए हैं—१. शाब्दिक अनुवाद २. शब्द-प्रतिशब्द अनुवाद ३. भावानुवाद ४. छायानुवाद।

इस ग्रंथ में शाब्दिक अनुवाद के साथ भावानुवाद और छायानुवाद का भी ध्यान रखा गया है। अनुवाद

सहज और सरल भाषा में प्रस्तुत हो तथा पाठक को ऐसा अनुभव हो कि मूल भाषा ही पढ़ी जा रही है, इस बात को ध्यान में रखा गया है।

ऋषिभाषित का अनुवाद यद्यपि दो स्थानों से प्रकाशित है—मनोहर मुनि द्वारा तथा महोपाध्याय विनय सागर द्वारा। इसके बावजूद अनेक विद्वानों का चिन्तन था कि इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का अच्छा सम्पादन और अनुवाद होना चाहिए। इस ग्रंथ के अनुवाद में एक कठिनाई यह थी कि इस पर व्याख्या-साहित्य प्राप्त नहीं है। एक टीका मिलती है लेकिन वह भी अपर्याप्त जैसी है। इस ग्रंथ के कुछ पद्यों एवं गद्यांशों का उपयुक्त अनुवाद करना इसलिए भी कठिन हो गया क्योंकि अनेक स्थलों की आज पृष्ठभूमि सुरक्षित नहीं रही। उदाहरण स्वरूप हरिगिरि ऋषि कहते हैं कि सव्वमिणं पुरा भव्वं, इदाणिं अभव्वं (२४/१)। इस गद्यांश का शाब्दिक अनुवाद करना तो सरल है कि पहले सब कुछ भव्य था, अब अभव्य है। इस कथन से ऋषि कहना क्या चाहते हैं, यह आज स्पष्ट नहीं है। इस सूक्त में ऋषि अपने जीवन के बारे में कहना चाहते हैं या तत्कालीन परिस्थितियों की ओर संकेत कर रहे हैं, यह स्पष्ट नहीं है।

पूर्व प्रकाशित पाठ में अनेक स्थलों के पाठ विमर्शनीय हैं। प्रतियों से पाठ मिलाने से अनेक पाठ स्पष्ट हो गए। यहां पूर्व मुद्रित और संपादित-पाठ के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

#### मुद्रित

\* धावंतं सरसं नीरं<sup>१</sup>

\* पाणी य पाणिघातं च<sup>२</sup>

\* सगाहं सरबुद्धं विसं वामहु जोजितं<sup>३</sup>

कहीं कहीं पूरी गाथा का अर्थ विमर्शनीय है। यहां उदाहरण के रूप में कुछ गाथाएं प्रस्तुत की जा रही हैं—मुद्रित पुस्तक में ३८/२० गाथा का अनुवाद इस प्रकार है—

धैर्यशील महापुरुष की शरण लेनी चाहिए, ऐसा समझो। धीर के जैसी शरणागत की रक्षा दुर्ग से युक्त पर्वत शिखर भी नहीं कर सकते। दृप्त सिंह और कुशल—निपुण हस्ति शृगाल का भोज्य नहीं हो सकता।

संपादित ग्रंथ में यही गाथा ३८/२४ में है। यहां इसका अर्थ इस प्रकार है—

#### संपादित

धावंतं सरि संतारं ४५/१२

अप्पियं पाणिघातं च ४५/१९

सगाहं वा सरं बुद्धं, विसं वा महुजोजितं (४५/४४)

१. दौड़ते हुए सरस नीर को देखकर कोई उसका वर्जन नहीं करता। यहां परिवर्तित पाठ के अनुसार अर्थ होना चाहिए कि तीव्र वेग से प्रवाहित तैरने योग्य नदी के जल को देखकर व्यक्ति उसका वर्जन करता है।

२. 'पाणी य पाणिघातं च' इस पाठ का कोई अर्थ नहीं निकलता लेकिन प्रतियों में प्राप्त 'अप्पियं पाणिघातं च' पाठ का अनुवाद इस प्रकार होगा—प्राणी को प्राणघात अप्रिय होता है। यह

पाठ और अर्थ संगत प्रतीत होता है।

३. पूर्व प्रकाशित ग्रंथ में इसका अर्थ मगर से प्रेरित सरोवर, विषमिश्रित नारी (विषकन्या) किया है लेकिन यह अर्थ यहां ठीक नहीं बैठता क्योंकि ऋषि यहां गाथा में यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि साताकारी कर्म भी अंततः दुःखदायी होते हैं। अतः यहां अर्थ होना चाहिए मगरमच्छ से युक्त पुष्पित सरोवर तथा विषभाविता शहद.....।

धीर व्यक्ति शरण को जाने। गरीब व्यक्ति कोड़ी भी नहीं दे सकता। गीदड़ दृप्त सिंह और कुशल हाथी का भेदन नहीं कर सकता।

१८/३ का अनुवाद मुद्रित पुस्तक (१८/१) में इस प्रकार है—

जैसे पक्षी अपनी तीक्ष्ण चोंच से फल को छेद देता है, वैरि राज्य को खण्ड-खण्ड कर देता है, वारिपत्रधर—कमल जल से पृथक् रहता है, वैसे ही विशुद्ध आत्मा अपने पापकर्मों को दूर कर देता है।

इस ग्रंथ में इसका अनुवाद इस प्रकार है—

जैसे पक्षी अपनी तीक्ष्ण चोंच से बिछे हुए रज्जु-जाल अथवा खूटे को छिन्न कर देता है, कमल का फूल जल से पृथक् रहता है, वैसे ही साधक पाप कर्मों से पृथक् रहे।

इसी प्रकार ३३/१ का अनुवाद भी पूर्णतः परिवर्तित है।

अंजणस्स खयं दिस्स—२८/२२ का अर्थ मुद्रित पुस्तक में काजल का क्षय देखकर किया है लेकिन यह अर्थ यहां संगत प्रतीत नहीं होता। यहां अंजन का अर्थ रात्रि होना चाहिए। रात्रि का क्षय देखकर व्यक्ति को संयम में उद्यम करना चाहिए। आंटे में अंजन का अर्थ रात्रि भी मिलता है।

इसमें अनेक ऐसी गाथाएं हैं, जिनका अनुवाद दसों बार बदला है फिर भी अर्थ की दृष्टि से अनेक स्थल-विमर्श की अपेक्षा रखते हैं, जैसे ६/५, ६, १३/८, ४५/४६ आदि।

अनेक गाथाएं ऐसी हैं, जिनके अनेक अर्थ किए जा सकते हैं, जैसे संतस्स करणं (१३/४) गाथा का अनुवाद।

बहुत संभव है कि इस ग्रंथ के अनुवाद में मूल लेखक के भाव को न समझने के कारण कुछ त्रुटियां रह गई हों। विद्वत् समाज ज्ञान की इयत्ता को समझकर उन त्रुटियों पर ध्यान नहीं देगा। अस्वस्थ होते हुए भी साध्वीश्री सिद्धप्रज्ञाजी ने न केवल इसका आद्योपान्त अनुवाद सुना है अपितु अनेक स्थलों पर अपने अमूल्य सुझाव देकर क्लिष्ट स्थलों को सुगम भी बनाया है। प्रो. दामोदरजी शास्त्री ने भी उदारतापूर्वक अपने बहुमूल्य समय का नियोजन किया है।

### ऋषिभाषित के सम्पादन का इतिहास

एकार्थक कोश की परिसम्पन्नता पर सन् १९८४ में पूज्यवरों ने निर्युक्ति-साहित्य के सम्पादन का कार्य करने का इंगित किया। उस समय पाठ-सम्पादन क्या होता है, इसका कोई अनुभव नहीं था। आचार्य तुलसी ने इंगित किया कि एक बार तुम अहमदाबाद में पंडित दलसुखभाई मालवणिया के पास जाकर कार्य सीखो क्योंकि उन्होंने इस क्षेत्र में बहुत कार्य किया है। लगभग चार महीनों तक लालभाई दलपतभाई विद्या मंदिर में कार्य सीखने का मौका मिला। प्रतियों से पाठ मिलाकर प्राचीन और अर्वाचीन गाथा का कैसे निर्धारण किया जाता है, यह कला उन्होंने सिखाई। कनुभाई और के. आर. चन्द्रा का भी सहयोग मिला। वहां रहते हुए जिन पांच निर्युक्तियों पर कार्य

किया, वह 'निर्युक्ति पंचक' के रूप में प्रकाशित हो चुका है।

सन् १९८१ का प्रसंग है। युवाचार्य महाप्रज्ञ (आचार्य महाप्रज्ञ) समणीवृंद को वाचन करवा रहे थे। उस दौरान उन्होंने हमें ऋषिभाषित का एक पद्य सिखाया—

णण्णस्स वयणाऽचोरे, णण्णस्स वयणा मुणी।

अप्पं अप्पा वियाणाति, जे वा उत्तमणाणिणो ॥ (४/१६)

पद्य सिखाने के बाद प्रेरणा देते हुए उन्होंने कहा कि ऋषिभाषित एक महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रंथ है। तुम लोगों को इसका गहराई से अध्ययन करना चाहिए। उनकी प्रेरणा से मैंने मनोहर मुनि द्वारा सम्पादित ऋषिभाषित ग्रंथ पढ़ा। ग्रंथ को पढ़कर अत्यन्त आह्लाद की अनुभूति हुई और ऐसा अनुभव हुआ कि इसका महत्त्व सार्वभौम और सार्वकालिक है। यद्यपि उस समय सम्पादन और अनुवाद क्या होता है, इस बारे में कुछ भी ज्ञान नहीं था लेकिन मेरे मन में प्रारम्भ से ही कुछ नया करने की उमंग थी। इस ग्रंथ के प्रति मेरे मन में अव्यक्त आकर्षण पैदा हो गया और सोचा कि इस ग्रंथ पर भविष्य में कुछ कार्य करना है। अवचेतन मन में प्रकट उस अव्यक्त आकर्षण की ही फलश्रुति माननी चाहिए कि निर्युक्ति और भाष्य के सम्पादन कार्य के बीच में ऋषिभाषित के सम्पादन का कार्य सम्पन्न हो गया।

सन् २००० में जब मैंने आचार्य महाप्रज्ञ के समक्ष ऋषिभाषित पर कार्य करने की अनुज्ञा मांगी तो उन्होंने कहा—'ग्रंथ बहुत अच्छा है लेकिन अनुवाद करना इतना सरल नहीं है।' मैंने निवेदन किया कि पूज्यवर के आशीर्वाद से यह कार्य सरल हो जाएगा।

भिवानी चातुर्मास में जब मैंने पूज्यवर को ऋषिभाषित का कार्य दिखाया तो उन्होंने फरमाया—'अभी इसके अनुवाद को फिर ध्यान से देखो। आचार्यवर के निर्देश से जब इस ग्रंथ के अनुवाद को पुनः देखना प्रारम्भ किया तो ग्रंथ का कायाकल्प हो गया। कुछ विशेष शब्दों पर टिप्पण भी लिखने प्रारम्भ कर दिए। बावीसवें अध्ययन के अनुवाद में तो आमूलचूल परिवर्तन हो गया। सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में इसका संवादी पाठ मिल गया। उस पाठ को देखकर लगा कि पहले जो अनुवाद किया, वह शाब्दिक दृष्टि से ठीक होगा लेकिन संवादी पाठ को देखकर स्पष्ट हो गया कि यह सारा प्रसंग ईश्वरकारणिकवाद से सम्बन्धित है। यद्यपि इस कार्य की सम्पन्नता में समय बहुत लगा है लेकिन आज इसकी परिसम्पन्नता पर मुझे हार्दिक आत्मतोष की अनुभूति हो रही है।

### प्रति-परिचय

इसिभासियाई के सम्पादन में मुख्यतः इन प्रतियों एवं स्रोतों का उपयोग किया गया है—

- (अ) यह प्रति लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १९४३२ है। यह प्रति साफ-सुथरी एवं स्पष्ट अक्षरों वाली है लेकिन लेखन में अशुद्धियां हैं। इसमें कुल २६ पृष्ठ हैं,

अंतिम पृष्ठ खाली है। लिपिकार ने अंत में 'इसिभासितअत्थाहिकारसंगहणी सम्मत्ता। लिखित प्रतापविमलजी' का उल्लेख किया है। इसका लेखन समय लगभग उन्नीसवीं शताब्दी होना चाहिए।

- ( आ ) यह प्रति महावीर आराधना केन्द्र, कोबा (अहमदाबाद) से प्राप्त है। इसकी लम्बाई १०.३० तथा चौड़ाई ४.३० इंच है। यह प्रति अधिक प्राचीन नहीं है। ऐसा संभव लगता है कि ला प्रति को देखकर ही आ प्रति की प्रतिलिपि की गई है। इसका लेखन समय अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी होना चाहिए।
- ( क ) यह प्रति श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर, पाटण से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या ९४२ है तथा प्रति की पत्र संख्या १३ है। प्रति में अक्षर बहुत छोटे लेकिन साफ-सुथरे लिखे हुए हैं। इस प्रति में अंतिम दो संग्रहणियां नहीं लिखी हुई हैं। यह प्रति चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी की होनी चाहिए।
- ( पा ) यह प्रति भी श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर, पाटण से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १८५३४ है। इस प्रति में २३ पत्र हैं। प्रति में अक्षर मोटे एवं साफ-सुथरे हैं। इस प्रति में दोनों संग्रहणी की गाथाएं भी अंत में लिखी हुई हैं। प्रति के अंत में 'इसिभासितअत्थाहिकारसंगहणी सम्मत्ता। शुभं भवतु। साह श्री वच्छासुत साह सहिसकरण पुण्यार्थ पुस्तककारिता। सुतवर्धमानप्रतिपालनार्थ लिखावितं। श्री ग्रंथाग्र ७५०।' का उल्लेख है। प्रति में इसके लेखन का काल निर्दिष्ट नहीं है लेकिन यह प्रति लगभग सोलहवीं शताब्दी की होनी चाहिए।
- ( ब ) यह प्रति शहजादराय प्राच्य विद्या शोध संस्थान, बड़ौत (उ. प्र.) की पाण्डुलिपि संग्रह से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १० है। प्रति में १७ पत्र हैं। प्रति बहुत साफ-सुथरी एवं सुघड़ अक्षरों वाली है। इसमें दोनों संग्रहणी की गाथाएं लिखी हुई हैं। प्रति के अंत में 'इसिभासितअत्थाहिकारसंगहणी सम्मत्ता। छ ॥ शुभं भवतु लेखकपाठकयो : श्रमणसंघस्स च। शुभं भवतु' का उल्लेख है। इसके लेखन का समय पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी होना चाहिए।
- ( ला ) यह प्रति लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर, अहमदाबाद से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या ९५ है। यह प्रति साफ-सुथरी एवं स्पष्ट अक्षरों वाली है। इसमें कुल १५ पत्र हैं, जिसमें अंतिम पत्र खाली है तथा प्रथम पत्र लुप्त है। इसमें दोनों संग्रहणी गाथाओं का समावेश नहीं है। इसके अंत में 'इसिभासियाइं सम्मत्ताइं। शुभं भवतु। कल्याणमस्तु। श्री श्री श्री।।' का उल्लेख है। इसका लेखन समय लगभग चौदहवीं शताब्दी होना चाहिए।
- ( स ) यह प्रति भी श्री हेमचन्द्राचार्य जैन ज्ञानमंदिर, पाटण से प्राप्त है। इसकी क्रमांक संख्या १००८३ है। इस प्रति में १३ पत्र हैं। इस प्रति के अक्षर सुघड़ एवं साफ-सुथरे हैं। यह अन्य प्रतियों की अपेक्षा आकार में अधिक लम्बी है। इसमें दोनों संग्रहणी की गाथाएं नहीं हैं। इसके अंत में 'इसिभासियाइं सम्मत्ताइं। शुभं भवतु। कल्याणमस्तु। श्री।।' का उल्लेख है। इसके लेखन का समय पन्द्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी होना चाहिए।



### कृतज्ञता ज्ञापन

पिछले ३२ सालों से कभी धीमी गति से तो कभी तीव्र गति से आगम का कार्य चलता रहा है। आगम कार्य करते हुए मेरे मस्तिष्क में सदैव गुरुदेव तुलसी की ये पंक्तियां गूंजती रहती हैं—“आज साहित्य की ऐसी स्थिति बन गयी है कि पुराने साहित्य को भुला दिया गया है, जो जीवन का अमर संदेश देता था एवं मानवता को राजपथ की ओर अग्रसर करता था। प्राचीन आगम-साहित्य एवं उनके व्याख्या ग्रंथों को समालोचनात्मक दृष्टिकोण से संपादित करके जनता के समक्ष रखा जाए, यह मेरी हार्दिक इच्छा है क्योंकि इससे भारतीय साहित्यिक निधि की सहज अवगति और प्राचीन आचार्यों की सूक्ष्म मेधा का ज्ञान होता है।” इस कार्य के बीच में अनेक अवरोध आए लेकिन गुरु-कृपा से सारे अवरोध दूर होते गए और मार्ग प्रशस्त होता गया।

गणाधिपति गुरुदेव तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ का नाम मेरे लिए मंगलमंत्र है। प्रतिदिन कार्य के प्रारम्भ में आदि मंगल के रूप में सभी आचार्यों की स्मृति मेरे जीवन की दिनचर्या का स्वाभाविक क्रम बन गया है। इसलिए सारे कर्तृत्व का श्रेय गुरु-चरणों में जाता है। मुझे हर पल यह अनुभव होता रहा है कि उनके शक्ति-संप्रेषण और आशीर्वाद से ही यह कार्य सम्पन्न हो सका है।

आचार्य महाश्रमण का आशीर्वाद प्रतिपल मेरे साथ रहता है। उनका मूक आशीर्वाद और प्रोत्साहन मेरे पथ का पाथेय है। महाश्रमणी साध्वीप्रमुखाजी का निश्छल वात्सल्य नयी आशा और सक्रियता का संचार करने वाला है। उनके मुखारविंद से समय-समय पर अनेक प्रेरणाएं मिलती रहती हैं। मुख्य नियोजिका साध्वी विश्रुतविभाजी का समुचित व्यवस्थागत सहयोग भी इस कार्य की सम्पूर्ति में हेतुभूत बना है। इन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करके मैं उन्नत होना नहीं चाहती बल्कि इनके आशीर्वाद से भविष्य में और अधिक सक्रिय और एकाग्रचित्त होकर कार्य करना चाहती हूँ। साध्वी श्री सिद्धप्रज्ञाजी एवं पं. दामोदर शास्त्री के सहयोग का स्मरण करती हुई मैं उनके लिए यही शुभकामना करती हूँ कि वे भविष्य में ऊर्जासम्पन्न रहकर श्रुतयात्रा में इसी प्रकार सहयोगी बने रहें। नियोजिका समणी मधुरप्रज्ञाजी एवं सभी समणीजी का उदारभाव से मिलने वाला सहयोग भी अविस्मरणीय है। जैन विश्व भारती के अधिकारी गण एवं जगदीश कुर्मी का सहयोग भी मूल्यार्ह है। कम्पोजिंग और सेटिंग में कुसुम सुराणा, प्रूफ से प्रूफ एवं संदर्भ मिलाने में अन्य बहिनों का सहयोग भी उल्लेखनीय है।

मैंने अपने मस्तिष्क के हर न्यूरोन्स पर यह लिखने का प्रयत्न किया है कि जो कुछ भी हुआ, होगा या हो रहा है, उसमें तीन शक्तियां ही कार्य कर रही हैं—१. गुरु की कृपा २. संघ की शक्ति और ३. बुजुर्गों का आशीर्वाद। यह मेरा प्रबल सौभाग्य है कि मैंने इन तीनों शक्तियों का साक्षात्कार किया है। भविष्य में भी ये शक्तियां मुझे लक्ष्योन्मुख बनाकर संघ-प्रभावना में निमित्तभूत बनाती रहेंगी। अंत में ‘उग्रा: न: संतु बाहव:’ इस वैदिक सूक्त को आत्मसात् करती हुई भविष्य के लिए यही संकल्प करना चाहती हूँ कि आत्माराधना और श्रुतदेवी की आराधना में मेरा पुरुषार्थ सदा जीवन्त और जागृत बना रहे तथा शीघ्र ही निर्युक्ति का अगला खंड श्रीचरणों में समर्पित हो सके।

दिनांक : १-७-२०११  
जैन विश्व भारती, लाडनूँ

डॉ. समणी कुसुमप्रज्ञा

## विषय-सूची

	<b>पहला अध्ययन : ऋषि नारद</b>		
१	श्रोतव्य से दुःख-मुक्ति ।	१०	क्रोध, मान आदि लेपों का संकेत ।
२	चतुर्विध श्रोतव्य ।	११	लेप से उपरत होकर पराक्रम करने की प्रेरणा ।
३, ४	साधक का स्वरूप ।	१२	राग-द्वेष से ब्रह्मचर्य की हानि ।
५	उपधानवान् की दुःख-मुक्ति ।	१३	आसक्ति से पाप कर्मों की वृद्धि ।
६	उपासना किसकी ?	१४	क्रोध से दुःख की प्राप्ति ।
७	नारद ऋषि का कथन ।	१५	मोह रूप अग्नि का शमन दुष्कर ।
	<b>दूसरा अध्ययन : ऋषि वृजिक</b>	१६	परिज्ञातकर्मा मुनि को सिद्धि की प्राप्ति ।
१	कर्म दुःख-परम्परा के हेतु ।	१७	असित देविल ऋषि का कथन ।
२	संसारी प्राणियों के दुःख का कारण ।		<b>चौथा अध्ययन : अंगर्षि</b>
३	कर्मों से जन्म-मरण की परम्परा	१	अनुचित कार्य करने वाले की संसार-परम्परा में वृद्धि ।
४, ५	बीज से अंकुर की भांति मोह से कर्मों की परम्परा ।	२	दुष्ट व्यक्ति के साथ रहना कष्ट साध्य ।
६	मूल के सिंचन से फल-प्राप्ति ।	३	मायावी की स्थिति ।
७	दुःख और जन्म-मरण का मूल कारण—मोह ।	४	आत्मज्ञान ही ध्रुव एवं आदरणीय ।
८	अज्ञान के कारण दुःख की प्राप्ति ।	५	मायावी के हृदय को जानना दुःशक्य ।
९	वृजिक पुत्र ऋषि का कथन ।	६	मायावी व्यक्ति की मन-वचन और काया में अनेकरूपता ।
	<b>तीसरा अध्ययन : ऋषि असित देविल</b>	७	मायावी के हृदय को विविध उपमाएं ।
१	निलेप साधक की मुक्ति ।	८	परिग्रही व्यक्ति की भोग-लिप्सा ।
२	लेप रहित साधक का स्वरूप ।	९	आत्मनिरीक्षण से पाप कर्म का निरोध ।
३	राग-द्वेष पूर्वक हिंसा करने से पाप कर्मों का बंधन ।	१०	अधार्मिक को अंत में पश्चात्ताप ।
४	असत्यभाषण से पापकर्म का बंधन ।	११	सुचीर्णकर्मा व्यक्ति की स्थिति ।
५	अदत्त ग्रहण से पापकर्म का लेप ।	१२, १३	अर्धरात्रि में कृत कर्मों का आत्मालोचन करने का निर्देश ।
६	मैथुन सेवन कर्म बंधन का कारण ।	१४, १५	दूसरों के द्वारा किया गया मूल्यांकन अयथार्थ ।
७	परिग्रह से कर्म-बंधन ।	१६	किसी के कथन मात्र से कोई चोर और साधु नहीं ।
८	क्रोध से पाप कर्मों का बंधन ।	१७	दूसरों की प्रशंसा से त्राण नहीं ।
९	प्राणातिपात आदि पांच लेपों का कथन ।		

१८	दूसरों के द्वारा निंदा होने पर भी साधक में आक्रोश नहीं।	१०, ११	स्त्री में आसक्त साधक स्वयं अपना शत्रु।
१९, २०	दूसरों द्वारा की गयी प्रशंसा और निंदा की अयथार्थता।	१२	ऋषि वल्कलचीरी का कथन।
२१, २२	लोक में पदार्थों की स्थिति।		<b>सातवां अध्ययन : ऋषि कूर्मापुत्र</b>
२३	क्रोध न करने का आलम्बन-सूत्र।	१	उत्सुकता दुःख का हेतु।
२४	शीलवान् और सुसमाहित की प्रगति।	२	जनापवाद से तप-संयम की रक्षा असंभव। तथा असत् आचरण से समाधि की विराधना।
२५	शील रथ पर आरूढ़ व्यक्ति का कल्याण।	३	अनौत्सुक्य से सुख-प्राप्ति।
२६	अंगर्षि का कथन।	४	उत्तमार्थ (संधारा) के लिए पराक्रम का निर्देश।
	<b>पांचवां अध्ययन : ऋषि पुष्पशाल</b>	५	साधक को निस्पृह होकर आत्महित हेतु विहरण करने का संकेत।
१	मान को पार करके विनय में स्थित रहने का निर्देश।	६	ऋषि कूर्मापुत्र का कथन।
२	पुष्पशाल ऋषि द्वारा शयन आदि का त्याग।		<b>आठवां अध्ययन : ऋषि केतलि ( तेतलि )</b>
३	नमस्कार करने वाले के पास शांति का निवास।	१	राग-द्वेष से संसार-वृद्धि तथा वीतरागता से निर्वाण।
४	प्राणातिपात, असत्य आदि के परित्याग का निर्देश।	२	राग-द्वेष की ग्रंथि का छेद होने पर बंधन-मुक्ति। कोशिकार कीट की उपमा।
५	क्रोध-मान के परिज्ञाता का आत्मज्ञान।	३	दुःख को जानकर उसके छेदन का निर्देश।
६	पुष्पशाल ऋषि का कथन।	४	ऋषि केतलिपुत्र का निर्देश।
	<b>छठ्ठा अध्ययन : ऋषि वल्कलचीरी</b>		<b>नौवां अध्ययन : ऋषि महाकाश्यप</b>
१	शरीर अक्षम होने पर एकान्त वन में अनशन का निर्देश।	१	जब तक जन्म-परम्परा, तब तक कर्म-बंधन।
२	नारी से सम्पर्क का वर्जन।	२	कर्म क्षीण न होने से हस्त-छेदन, पाद-छेदन आदि अनेक दुःख।
३	ज्ञान रूपी लगाम से रहित व्यक्ति की स्थिति।	३	कर्म-क्षय से शाश्वत-सुख की प्राप्ति।
४	अज्ञानी एवं चंचल व्यक्ति का भव-भ्रमण।	४	दुःख का मूल कारण—कर्म।
५, ६	पुष्प के उदाहरण से अनुशासित व्यक्ति की तुलना।	५	संसार की परम्परा के मूल कारण पूर्वकृत पुण्य-पाप।
७	मनुज की पराधीनता और विधि की बलवत्ता।	६	पुण्य-पाप से ही भोग प्रायोग्य वस्तुओं की प्राप्ति।
८	धृतिमान् और समाहित साधक की स्थिति।	७	संवर-निर्जरा से पुण्य-पाप का नाश।
९	स्वच्छंद व्यक्ति की भव-परम्परा।		

८	मिथ्यात्व और अविरति कर्म-ग्रहण के कारण।	२७	ध्यान से सम्यग्दर्शन युक्त आत्मा का शोधन।
९	कर्म से ही नानाविध संतान और भोग की प्राप्ति।	२८	स्वर्ण की भांति तप से अनादिकालीन कर्म-परम्परा का नाश।
१०,११	कर्म-आगमन के द्वार एवं उनके निरोध के उपाय।	२९	वस्त्र-शोधन एवं कर्मों की परम्परा में एकदेशीय दृष्टान्त की योजना।
१२	निर्जरा के उपाय।	३०	आवर्जन, समुद्घात, योग-निरोध आदि अवस्थाओं से सिद्धि की प्राप्ति।
१३	सांसारिक प्राणी के निरन्तर निर्जरा।	३१	निर्लेप एवं अनाकुल साधक की सिद्धि।
१४	स्कंध और वृक्ष की भांति जीव के शुभ-अशुभ कर्मों का संचय।	३२	योगों का असंग होने पर भव-परम्परा का निरोध।
१५	निकाचित कर्मों का अवश्य वेदन।	३३	समस्त आवरणों का क्षय होने पर सुख-प्राप्ति।
१६	अंजलि में स्थित जल की भांति बद्ध, स्पृष्ट और निहत कर्मों का क्रमशः क्षय।	३४	सब प्राणियों की नित्यानित्य स्थिति।
१७	दुष्कृत कर्मों की निर्जरा हेतु तप का निर्देश।	३५	जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित मार्ग का आचरण करने वाले धन्य।
१८	कर्म-क्षय से अनेक ऋद्धियों की प्राप्ति।	३६	महाकाश्यप ऋषि का कथन।
१९	तप-संयम से विद्यालब्धि, औषधिलब्धि आदि का ज्ञान।		<b>दशवां अध्ययन : ऋषि तेतलिपुत्र</b>
२०	साधक को पापकारी लब्धियों के त्याग का निर्देश।	१	स्वकृत कर्म ही उत्तरदायी।
२१	दुर्लभ सम्यक्त्व को प्राप्त करके अप्रमत्त रहने का निर्देश।	२	तेतलिपुत्र की दयनीय स्थिति।
२२	कर्मों के आदान और बंध का निरोध होने पर भव-परम्परा का नाश।	३	तेतलिपुत्र द्वारा अनेक प्रकार से आत्महत्या का प्रयत्न।
२३	दोषों का आगमन रुकने एवं शास्त्र के अनुसार चिकित्सा करने पर व्याधि का क्षय।	४	पोट्टिला द्वारा प्रतिबोध।
२३/१	प्राणी का शाश्वत धन है—धर्म।	५	तेतलिपुत्र की अन्तर्दृष्टि का जागरण।
२४	कर्मादान का निरोध तथा सम्यक् मार्ग का अनुसरण करने से कर्म-क्षय।	६	ऋषि तेतलिपुत्र का कथन।
२५	सम्यग्दृष्टि के अनंतानुबन्धी का नाश।		<b>ग्यारहवां अध्ययन : ऋषि मंखलिपुत्र</b>
२६	सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्ज्ञान से पाप का शोधन।	१	सम्यग्ज्ञानी ही त्राता।
		२	परिस्थितियों में कम्पन का अनुभव करने वाला त्राता नहीं।
		३	निष्कंप साधक ही त्राता।
		४	असम्मूढ नेता द्वारा लक्ष्य की प्राप्ति।

५	वैद्य कर्म में निपुण वैद्य द्वारा असाध्य रोगों की चिकित्सा।	३	प्रतिबद्ध साधक दोनों लोकों में अप्रतिष्ठित।
६	संयोग निष्पन्न कार्य को करने में कौन समर्थ ?	४	अकाम की गति।
७	शक्तिसम्पन्न और बुद्धिमान् द्वारा विद्या-सिद्धि।	५	सकाम की गति।
८	मोक्ष-मार्ग की रचना के विज्ञाता द्वारा ही सिद्धि की प्राप्ति।	६	बाहुक ऋषि का कथन।
९	ऋषि मंखलिपुत्र का कथन।		<b>पन्द्रहवां अध्ययन : ऋषि मधुरायण</b>
	<b>बारहवां अध्ययन : ऋषि याज्ञवल्क्य</b>	१	साता जन्य सुख से अभिभूत दुःखी के दुःख की उदीरणा कौन करता है ?
१	जब तक लोकैषणा, तब तक वित्तैषणा।	२	दुःखी प्राणियों के दुःख की उदीरणा कौन करता है ?
२	गाय और कपोत की भांति भिक्षा का निर्देश।	३	सत् दुःख की उदीरणा होती है या असत् की ?
३	निर्दोष भिक्षा की गवेषणा।	४	दुःख का नाश होने पर हस्त-छेदन आदि वेदना नहीं।
४	मुनि वेश के अनुरूप संयममार्ग के आचरण का निर्देश।	५	अशांति का मूल कारण—पाप।
५	ऋषि याज्ञवल्क्य का कथन।	६	दुःख का मूल पूर्वकृत पाप।
	<b>तेरहवां अध्ययन : ऋषि मेतार्यभयालि</b>	७-९	जड़ से लता की भांति पाप का सद्भाव होने पर दुःख की उत्पत्ति।
१	लावण्य क्यों नहीं ? ऋषि का प्रश्न।	१०	पाप का नाश होने पर दुःख का नाश।
२	ऋषि के द्वारा दूसरों का पराभव न करने का संकल्प।	११	मूल का सिंचन करने पर फल की उत्पत्ति।
३	साधक का संसारी व्यक्तियों से प्रश्न।	१२	अन्य प्राणियों को दुःख देने से दुःख का बंधन।
४	भव-परम्परा असत् नहीं।	१३	व्यक्ति स्वयं ही दुःख का कर्ता एवं भोक्ता।
५	स्वयं कृत कर्म ही सुख-दुःख के कारण।	१४	अज्ञानी व्यक्ति के पाप कर्म का बंधन।
६	मूल का सिंचन करने पर फल की उत्पत्ति।	१५	मोहग्रस्त व्यक्ति की स्थिति।
७	असत् का कभी लोप नहीं होता।	१६	भोगासक्त व्यक्ति की स्थिति।
८	जो जिसका होता है, वह उसी को मिलता है।	१७	अहंकारग्रस्त व्यक्ति की स्थिति।
९	मेतार्यभयालि ऋषि का कथन।	१८	बुद्धिहीन व्यक्ति की स्थिति।
	<b>चौदहवां अध्ययन : ऋषि बाहुक</b>	१९, २०	सुखार्थी के पाप-कर्म की वृद्धि।
१	अयुक्त से जुड़ा हुआ युक्त प्रमाण नहीं।	२१	आत्महित के लिए पाप कर्म का वर्जन।
२	समण और माहण को स्वयं को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं।	२२	असत् का नाश संभव नहीं।
		२३	जन्म का नाश होने पर दुःखों से मुक्ति।

२४, २५	कुत्ते और सिंह से अज्ञानी व्यक्ति की तुलना।	१०	विदु ऋषि का कथन।
२६, २७	वृद्धि प्राप्त व्रण, अग्नि आदि का समूल उच्छेद ही श्रेयस्कर।		<b>अट्टारहवां अध्ययन : ऋषि वर्षप कृष्ण</b>
२८	प्रच्छन्न पापकर्म की दुःख-परम्परा।	१	प्रमत्त और असंयत के पापकर्म का बंधन।
२९	अग्नि की भांति मिथ्यात्व की वृद्धि दुःखदायी।	२	प्राणातिपात आदि अठारह पाप का निरोध एवं इंद्रिय-निग्रह से मोक्ष-प्राप्ति।
३०	निर्धूम अग्नि, आदान रहित ऋण आदि का उदाहरण।	३	कमल के पुष्प की भांति साधक का पाप कर्म से अलिप्त रहने का संकेत।
३१	नए कर्मों का बंधन होने से पूर्वकृत की निर्जरा।	४	वर्षप कृष्ण ऋषि का कथन।
३२	दुःख के कारणों का विनाश करने का निर्देश।		<b>उन्नीसवां अध्ययन : ऋषि आर्यायण</b>
३३	मधुरायण ऋषि का कथन।	१	पहले सब कुछ आर्य।
	<b>सोलहवां अध्ययन : ऋषि शौर्यायण</b>	२	आर्यत्व में उपस्थित रहने का निर्देश।
१	उत्तम पुरुष का लक्षण।	३	अनार्य की संगति दुःख का कारण।
२	मनोज्ञ में राग एवं अमनोज्ञ विषयों में द्वेष का निषेध।	४	आर्य मार्ग, आर्य कर्म एवं आर्य मित्र का संधान करने का उल्लेख।
३	इन्द्रियां ही संसार और मोक्ष का कारण।	५	आर्य के साथ संगति करने वाला दुःख-मुक्त।
४	कछुए की भांति इंद्रियों को संयमित करने का निर्देश।	६	आर्य ज्ञान आदि की उपासना का संकेत।
५	इंद्रिय और योगों पर नियंत्रण का संकेत।	७	आर्यायण ऋषि का कथन।
६	शौर्यायण ऋषि का कथन।		<b>बीसवां अध्ययन : उत्कल</b>
	<b>सतरहवां अध्ययन : ऋषि विदु</b>	१	उत्कलों का नामोल्लेख।
१	महाविद्या वही, जो सब दुःखों से मुक्त करे।	२	दंड उत्कल का स्वरूप।
२	दुःख-विमोचनी विद्या का स्वरूप।	३	रज्जु उत्कल का स्वरूप।
३	रोग की चिकित्सा के हेतु।	४	स्तेनोत्कल का स्वरूप।
४	मोक्ष-प्राप्ति के हेतु।	५	देश उत्कल का स्वरूप।
५	शल्य का नाश करने वाला कौन?	६	सर्व उत्कल का स्वरूप।
६	कर्मों का नाश करने वाला कौन?	७, ८	चार्वाक के अनुसार आत्मा और जीवन का स्वरूप।
७	सावद्य कार्यो को जानकर अतीत के पाप कर्मों की निंदा करने का संकेत।		<b>इक्कीसवां अध्ययन : ऋषि गाथापतिपुत्र तरुण</b>
८	सावद्य कार्य से विरत रहने का उल्लेख।	१	लोक के बारे में ऋषि का अज्ञान।
९	समस्त परकीय भाव सावद्य।	२	अज्ञान दुःख का कारण।

- ३ संसार-परम्परा का मूल कारण—अज्ञान ।
- ४ अज्ञान के कारण पशु-पक्षी भी दुःखी ।
- ५ अज्ञान के कारण जन्म, बुढ़ापा आदि ।
- ६ अज्ञान के संबंध में ऋषि का अनुभव ।
- ७ अज्ञान को प्रकट करने के उदाहरण ।
- ८ वृद्ध सिंह का उदाहरण ।
- ९ अज्ञान के कारण मूढ़ सिंह और सर्प का विनाश ।
- १० अज्ञान से ग्रस्त मूढ़ भद्रा का उदाहरण ।
- ११ अज्ञान के कारण विद्या की सिद्धि नहीं ।
- १२ ज्ञानयोग से विद्या-सिद्धि ।
- १३ गाथापतिपुत्र तरुण ऋषि का कथन ।
- बावीसवां अध्ययन : ऋषि गर्दभ**
- १ ज्ञान और अज्ञान के आधार पर कर्मों का परिशाटन ।
- २ (चेतन-अचेतन) धर्मों का प्रारंभ पुरुष—ईश्वर से ।
- ३ पित्तजन्य रोग या फोड़े की भांति चेतन-अचेतन धर्म पुरुष से संबंधित ।
- ४-९ स्त्री के लिए विविध उपमाओं का प्रयोग ।
- १०, १०/१ जिन ग्राम या नगरों में स्त्री प्रशासिका, उनका विनाश ।
- ११ भय किससे ?
- १२ शंकास्पद वस्तु का ज्ञान आवश्यक ।
- १३ हिंसा आदि आस्रव परिज्ञातव्य ।
- १४ वस्तु के विनाशी और अविनाशी स्वरूप के ज्ञान का निर्देश ।
- १५ वस्तुओं के मूल कारण और परिणाम का ज्ञान आवश्यक ।
- १६ ध्यान का महत्त्व ।
- १७ गर्दभाल ऋषि का कथन ।
- तेईसवां अध्ययन : ऋषि रामपुत्र**
- १ दो प्रकार के मरणों का उल्लेख ।
- २ ऋषि का अनुभव एवं भविष्य का संकल्प ।
- ३ रामपुत्र ऋषि का कथन ।
- चौबीसवां अध्ययन : ऋषि हरिगिरि**
- १ पहले भव्य और अब सब कुछ अभव्य ।
- २ संसार की स्थिति का चित्रण तथा ऋषि का संकल्प ।
- ३ जिन प्रज्ञप्त धर्म की आवश्यकता ।
- ४ सद्धर्म का पालन सदैव हितकर ।
- ५ रथचक्र की भांति सुख-दुःख की गतिशीलता ।
- ६ परिभ्रमण का कारण—आसक्ति ।
- ७ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा आदि सभी पदार्थ क्षणभंगुर ।
- ८ यौवन, रूप आदि की अनित्यता ।
- ९ देवेन्द्र, दानवेन्द्र आदि सभी मरणधर्मा ।
- १० व्यक्ति एवं वस्तु पर अनित्यता का प्रहार ।
- ११ देवेन्द्र, दानवेन्द्र आदि के पुण्य का उदय ।
- १२ संसार में विविधता का दर्शन ।
- १३ देव, दानव और मानव सब पर अनित्यता का प्रभाव ।
- १४ अनित्यता को रोकना असंभव ।
- १५ अनित्यता द्वारा छोटे-बड़े सब प्राणियों का नाश ।
- १६ अनित्यता के समक्ष सब संकल्प विफल ।
- १७ छाया की भांति अनित्यता का अनुगमन ।
- १८ कर्म के सद्भाव में अनित्यता की विविधता ।



१९	कर्म के अनुसार अवस्था ।	३	सद्गतिगामी कौन ?
२०	प्रतिध्वनि की भांति कर्म का प्रभाव ।	४	शुद्ध साधु की विशेषता ।
२१	पूर्वकृत कर्मों के आधार पर गोत्रों की रचना ।	५	नारी के प्रति विराग ।
२२	अनित्यता का मूल कारण—कर्म ।	६	जड़ का नाश होने पर वृक्ष का नाश ।
२३	अशुभ-शुभ कर्मों के अनुसार ही बंधन और मुक्ति ।	७	आसक्ति-मुक्ति में तीन दृष्टान्त ।
२४	पूर्वकृत कर्मों का भोग अवश्यंभावी ।	८	रथ-चक्र में तैल की भांति मुनि को शरीर चलाने के लिए आहार का निर्देश ।
२५, २६	मोह का नाश होने पर अन्य कर्मों का भी नाश ।	९, १०	आहार करने के उद्देश्य में लाक्षाकार एवं बाण बनाने वाले का दृष्टान्त ।
२७	कर्मों के अनुसार फल-प्राप्ति ।	११	अम्बड़ परिव्राजक का कथन ।
२८	कर्मों से विविध संसार-परम्परा ।		<b>छब्बीसवां अध्ययन : ऋषि मातङ्ग</b>
२९, ३०	मोहग्रस्त व्यक्ति की स्थिति ।	१	धर्म के सम्बन्ध में ऋषि का प्रश्न ।
३१	मूढ़ व्यक्ति की कीचड़ में फंसे हाथी से उपमा ।	२	राजा (क्षत्रिय), वणिक् और ब्राह्मण का विपरीत धर्म ।
३२	स्वकृत पाप से दुःख की अनुभूति ।	३	विवेकशील ब्राह्मण कौन ?
३३	चंचल सुख में आसक्त व्यक्ति को दुःख प्राप्ति ।	४	माहण कौन नहीं होता ?
३४	राज्य का आश्रय लेने पर भी व्यक्ति की मृत्यु ।	५	माहण का कर्तव्य ।
३५	मोहान्ध व्यक्ति को निंदा में रस ।	६, ७	माहण का स्वरूप ।
३६, ३७	मोहग्रस्त व्यक्ति का क्रिया-कलाप ।	८	ब्राह्मण को दिव्य कृषि करने का निर्देश ।
३८, ३९	कर्मों के बंधन और निर्जरा में अन्य कोई निमित्त नहीं ।	९-१५	दिव्य कृषि को विविध उपमाएं ।
४०	कर्म-मुक्ति हेतु समाधि के संधान का निर्देश ।	१६	दिव्य कृषि से आत्मशुद्धि ।
४१	सभी प्राणियों में नित्यता और अनित्यता का अस्तित्व ।	१७	मातंग ऋषि का कथन ।
४२	सर्वज्ञ-प्रणीत मार्ग का अनुगमन करने वाला सदैव सुखी ।		<b>सत्ताईसवां अध्ययन : ऋषि वारत्रक</b>
४३	हरिगिरि ऋषि का कथन ।	१	श्रेष्ठ चारित्र ही साधु की निराबाध सम्पदा ।
	<b>पच्चीसवां अध्ययन : ऋषि अम्बड़</b>	२	मुनि का गृहस्थ के साथ चिर-संवास का निषेध ।
१	अम्बड़ परिव्राजक का यौगंधरायण से प्रश्न ।	३	स्नेह-बंधन का त्याग कर निर्वाण-प्राप्ति हेतु प्रयत्न ।
२	दुर्गतिगामी कौन ?		

४	मोह के कारण आत्महित का नाश।	२२	संयम में उद्यम करने का निर्देश।
५	स्वप्न, प्रहेलिका आदि का प्रयोग श्रामण्य से बहुत दूर।	२३	उंच-नीच का भाव अतात्त्विक।
६	साधु को विविध उत्सवों में भाग लेने का निषेध।	२४	पुरुषार्थ द्वारा फल-प्राप्ति।
७	ऐहलौकिक सुख में आसक्त साधक श्रामण्य से दूर।	२५	आर्द्रक ऋषि का कथन।
८	आत्महित में संलग्न रहने का उपदेश।		<b>उनतीसवां अध्ययन : ऋषि वर्द्धमान</b>
९	वारत्रक ऋषि का कथन।	१	स्रोत के संबंध में शिष्य का प्रश्न।
	<b>अट्ठाईसवां अध्ययन : ऋषि आर्द्रक</b>	२	सुप्त और जागृत में अन्तर।
१	कामभोग दुर्गतिवर्धक।	३	श्रोत्र विषयक शब्द में राग-द्वेष न करने का निर्देश।
२	भोगासक्ति दुर्गति का कारण।	४	विविध शब्दों में सम रहने वाले साधक के कर्म-प्रवाह का निरोध।
३	कामभोगों में आसक्ति से क्लेश।	५	चक्षु विषयक रूप में राग-द्वेष न करने का निर्देश।
४	कामभोगों की भयावहता।	६	रूप में सम रहने से कर्म-प्रवाह का निरोध।
५	कामवासना दुःख का कारण।	७	घ्राण विषयक गंध में राग-द्वेष न करने का निर्देश।
६	काम मूर्च्छित प्राणी का संसार-भ्रमण।	८	गंध में सम रहने से कर्म-प्रवाह का निरोध।
७, ८	कामभोगों से तृप्ति नहीं।	९	जिह्वा विषयक रस में राग-द्वेष न करने का निर्देश।
९	तृष्णा का क्षय सुख का कारण।	१०	विविध रसों में सम रहने से कर्म-प्रवाह का निरोध।
१०	कामभोग में आसक्त राजा भी दुर्गतिगामी।	११	त्वक् विषयक स्पर्श में राग-द्वेष न करने का निर्देश।
११	काम मूर्च्छित एवं आहार-प्रतिबद्ध को क्लेश की प्राप्ति।	१२	विविध स्पर्शों में सम रहने से कर्म-प्रवाह का निरोध।
१२	अपराधी के लिए संसार दुस्तर।	१३	इंद्रियां ही बंधन और निर्वाण का हेतु।
१३	आत्मकृत अपराध से वेदना की प्राप्ति।	१४	उच्छृंखल इंद्रियों द्वारा उत्पथगमन।
१४	मोहमूढ़ व्यक्ति का आत्मपतन।	१५	दान्त इंद्रियों द्वारा सन्मार्ग की प्राप्ति।
१५-१७	कामग्रह से अभिभूत प्राणी की दुर्दशा।	१६	मनोविजय के द्वारा कर्म के साथ संघर्ष।
१८	कामना रहित की मुक्ति।		
१९, २०	कामभोगों में आसक्त पापी की संसार-वृद्धि।		
२१	स्वर्ण की भांति आत्मा को शुद्ध रखने का निर्देश।		

१७	कषाय से मुक्त होकर किया गया तप ही सार्थक ।	१०	पांच अस्तिकायों का त्रैकालिक अस्तित्व ।
१८	अनेक गुणों से युक्त साधक को देवता के द्वारा नमस्कार ।	११	अर्हत् पार्श्व का कथन ।
१९	विरत और दान्त की दुःख-मुक्ति ।		<b>बत्तीसवां अध्ययन : ऋषि पिंग</b>
२०	वर्द्धमान ऋषि का कथन ।	१	दिव्य कृषि करने का निर्देश ।
	<b>तीसवां अध्ययन : ऋषि वायु</b>	२, ३	आध्यात्मिक कृषि से संबंधित अनेक प्रश्न एवं उत्तर ।
१	सत्य की प्रतिष्ठा ।	४, ५	दिव्य कृषि के लाभ ।
२	कृतकर्म का परलोक में भोग ।	६	परिव्राजक पिंग ऋषि का कथन ।
३, ४	बीज की भांति कर्म के अनुसार सुखद या दुःखद फल ।		<b>तेतीसवां अध्ययन : ऋषि अरुण</b>
५	कल्याण से कल्याण तथा हिंसा से हिंसा की प्राप्ति ।	१	दो कारणों से अज्ञानी एवं ज्ञानी की पहचान ।
६	दुःख देने का परिणाम दुःख ।	२	अज्ञानी के लक्षण ।
७	यथार्थ का अंकन ।	३	पंडित के लक्षण ।
८	ध्वनि के अनुसार प्रतिध्वनि ।	४	असभ्यवाणी और दुष्कृत कर्म का फल ।
९	कर्म का सिद्धान्त प्रतिध्वनि के समान ।	५	सुभाषित भाषा और सुकृत कर्म से यशः प्राप्ति ।
१०	वायु ऋषि का कथन ।	६	अज्ञानी व्यक्तियों के साथ संसर्ग का निषेध ।
	<b>इकतीसवां अध्ययन : ऋषि पार्श्व</b>	७	अज्ञानियों के साथ सम्पर्क के दुष्फल ।
१	लोक एवं गति विषयक विविध प्रश्न ।	८	साधु के साथ संपर्क का निर्देश ।
२	लोक के प्रकार एवं स्वरूप ।	९	सज्जन के साथ संगति का सुफल ।
३	गति का स्वरूप एवं प्रकार ।	१०	सद्धर्म वाक्य का दान अमृत के समान ।
४	जीव और पुद्गल का परिणमन ।	११	सद्धर्म रूप जलदान से मानस-शुद्धि ।
५	दो प्रकार की वेदनाएं ।	१२	दुर्मित्र कौन ?
६	पदार्थ की क्षणभंगुरता तथा मोक्षगामी साधक की विशेषताएं ।	१३	सन्मित्र कौन ?
७	संसारी जीवों के कर्म-विपाक का स्थान ।	१४	संसर्ग से ही गुण और दोष की प्राप्ति ।
८	संबुद्ध एवं संवृत मुनि के कर्मबंधन नहीं ।	१५	नदियों का पानी समुद्र के संसर्ग से खारा ।
९	लोक का त्रैकालिक अस्तित्व ।	१६	सुमेरु पर्वत के आश्रय से पक्षी भी स्वर्णाभ ।
		१७	मिथिला के राजा संजय की कल्याणमित्र के संसर्ग से सद्गति ।
		१८	जितेन्द्रिय साधक को कल्याणमित्र के संसर्ग का निर्देश ।

- १९ अरुण ऋषि का कथन।  
**चौतीसवां अध्ययन : ऋषि ऋषिगिरि**
- १ पांच कारणों से साधक को सहन करने का निर्देश।  
 २ अप्रत्यक्ष रूप से कहे गए कठोर वचन को सहन करने की विधायक सोच।  
 ३ प्रत्यक्ष रूप से कहे गए कठोर वचन को सहन करने की विधायक सोच।  
 ४ डंडे या लाठी के प्रहार को सहन करने की विधायक सोच।  
 ५ शरीर के छेदन-भेदन को सहन करने की विधायक सोच।  
 ६ प्राणघात के कष्ट को सहन करने की विधायक सोच।  
 ७ साधक को प्रसन्न रहने का निर्देश।  
 ८ अप्रतिज्ञ माहण कौन ?  
 ९ दीन व्यक्ति की स्थिति।  
 १० लोक की स्थिति जानकर भिक्षु को निरहंकारी रहने का संकेत।  
 ११ सुखी साधक कौन ?  
 १२ कर्मरज से मुक्त कौन ?  
 १३ अर्हत् ऋषिगिरि का कथन।  
**पैंतीसवां अध्ययन : ऋषि उद्दालक**
- १ पाप कर्म-बंध के चार स्थान।  
 २, ३ क्रोध का परिणाम।  
 ४, ५ अहंकार का परिणाम।  
 ६, ७ माया का परिणाम।  
 ८, ९ लोभ का परिणाम।  
 १० चार कषाय को जीतने का निर्देश।
- ११, १२ क्रोध को उत्पन्न करने वाले निमित्तों के परित्याग का कथन।  
 १३, १४ ज्ञान के द्वारा आत्महित के आचरण का उपदेश।  
 १५ आत्महित के लिए जागृति का निर्देश।  
 १६ दूसरों को गलती करते देख मौन करने का निर्देश।  
 १७ निर्जरा से आत्महित।  
 १८ आत्मजागृति के लिए अट्टालिका का रूपक।  
 १९ धर्माचरण में जागृत रहने का निर्देश।  
 २० आत्मधन को चुराने वाले चोरों का संकेत।  
 २१ प्रमत्त की दुर्गति।  
 २२ अज्ञात अट्टालिका में जगने वाले व्यक्ति की स्थिति।  
 २३ जागृत व्यक्ति सदा सुखी।  
 २४ जागृत व्यक्ति का दोषों से बचाव।  
 २५ उद्दालक ऋषि का कथन।  
**छत्तीसवां अध्ययन : ऋषि तारायण**
- १ क्रोध तुष की भांति सारहीन।  
 २ क्रोध के निग्रह का निर्देश।  
 ३ क्रोध के लिए विविध उपमाएं।  
 ४ मूल अग्नि से भी क्रोधाग्नि अधिक बलशाली।  
 ५ क्रोधाग्नि का उपशमन दुष्कर।  
 ६, ७ क्रोधाग्नि से इहलोक और परलोक दोनों का नाश।  
 ८ क्रोध रूपी अंधकार की दुर्जेयता।  
 ९ क्रोध से अनेक गुण निष्प्रभ।  
 १० क्रोध से उत्कृष्ट संयम भी निस्सार।  
 ११ क्रोध की विषधर से उपमा।  
 १२, १३ क्रोध से गंभीर तप राशि भी फलशून्य।

- १४ क्रोध से उत्पन्न हानियां।
- १५ क्रोधाविष्ट की स्थिति।
- १६ क्रोध से होने वाली दुर्गति।
- १७, १८ क्रोध के निग्रह का निर्देश।
- १९ तारायण ऋषि का कथन।
- सैंतीसवां अध्ययन : ऋषि श्रीगिरि**
- १ पहले जलमय पृथ्वी।
- २ अण्डे के संतप्त होने पर लोक की सृष्टि।
- ३ हवन आदि क्रियाकाण्ड के लिए ऋषि का संकल्प।
- ४ संसार माया रूप।
- ५ ईर्या समिति का कथन।
- ६ श्रीगिरि ऋषि का कथन।
- अड़तीसवां अध्ययन : ऋषि साचिपुत्र बुद्ध**
- १ आत्यन्तिक सुख का स्वरूप।
- २, ३ मनोज्ञ और अमनोज्ञ भोजन, शयन आदि का प्रभाव।
- ४ ज्ञानियों का अनुशासन—अनासक्ति।
- ५-९ पांच इंद्रियों से लगने वाले दोष के परिहार का निर्देश।
- १० जागृत भिक्षु की पांचों इंद्रियां सुप्त।
- ११-१३ व्याधि की भांति मोह-क्षय के दो उपाय।
- १४ संवेग और निर्वेद किसके ?
- १५ सर्वज्ञ की वाणी का प्रभाव।
- १६ सर्वज्ञ का उपदेश।
- १७, १८ साधक के लिए अरण्य और आश्रम में कोई भेद नहीं।
- १९ भावितात्मा के लिए प्रत्येक स्थान साधना में सहयोगी।
- २० कामी व्यक्ति की मनःस्थिति।
- २१ कर्मक्षय के निमित्त।
- २२ आवश्यक हिंसा भी निरर्थक।
- २३ योग्य व्यक्ति के द्वारा ही कार्यसिद्धि।
- २४ शरण किसकी ?
- २५-२७ मुनि वेश के विश्वास के विरुद्ध मार्ग का निषेध।
- २८ कार्य-निष्पत्ति के लिए कार्य-कारण की आवश्यकता।
- २९ भावितात्मा को आत्मचिंतन करने का निर्देश।
- ३० अर्थ-लोलुप व्यक्ति की स्थिति।
- ३१ दम्भपूर्ण आचरण को उपमा।
- ३२ केवल मीठा बोलने वाला स्वभाव से दुर्बल।
- ३३ वेशधारियों के भावों को जानने का निर्देश।
- ३४ साचिपुत्र बुद्ध ऋषि का कथन।
- उनचालीसवां अध्ययन : ऋषि संजय**
- १ पाप कर्म न करने वाले साधक को देवता द्वारा नमस्कार।
- २ पाप करने वाले के जीवन में घोर अंधकार तथा अनवद्य कार्य करने वाले के जीवन में प्रकाश।
- ३, ४ पुनः पुनः पाप कर्म न करने का निर्देश।
- ५ पाप कर्म होने पर मायारहित आलोचना करणीय।
- ६ राजा संजय का संकल्प।
- ७ संजय ऋषि का कथन।
- चालीसवां अध्ययन : ऋषि द्वीपायन**
- १ इच्छा को अनिच्छा में बदलने का निर्देश।
- २ अनिच्छा से इच्छा पर विजय।
- ३ इच्छा से अभिभूत व्यक्ति की स्थिति।

४	इच्छा से होने वाली स्थितियां।	२	साधक के लिए पापकारी कार्य अकल्प्य।
५	इच्छा करने वाले के प्रति इच्छा की विरक्ति।	३	अर्हत् सोम ऋषि का कथन।
६	शक्ति के अनुसार आलोचना करने का निर्देश।		<b>तेतालीसवां अध्ययन : ऋषि यम</b>
७	द्वीपायन ऋषि का कथन।	१	मनुष्यों में श्रेष्ठ कौन ?
	<b>इकचालीसवां अध्ययन : ऋषि इन्द्रनाग</b>	२	यम ऋषि का कथन।
१	आजीविका के लिए बल-प्रयोग करने से तप प्रदूषित।		<b>चवालीसवां अध्ययन : ऋषि वरुण</b>
२	आजीविका के लिए तप करने वालों का पुण्य फलहीन।	१	आत्मनियंता कौन ?
३	वर्तमान सुख में आसक्त व्यक्ति की दुःखद परिणति।	२	वरुण ऋषि का कथन।
४	मोह रूपी मल्ल से प्रेरित व्यक्ति की स्थिति।		<b>पैंतालीसवां अध्ययन : ऋषि वैश्रमण</b>
५	आहार-लोलुप व्यक्ति की स्थिति।	१	कामभोगों का फल नरक।
६	घी में पड़ी हुई मक्खी एवं मधुबिंदु का दृष्टान्त।	२	मुमुक्षु की विशेषताएं।
७	विषयासक्त व्यक्ति को मछली की उपमा।	३	पाप करने वाला आत्महित से दूर।
८	सर्वज्ञ-शासन को छोड़ने वाले मूढ़ व्यक्ति का आत्महनन।	४, ५	मोहग्रस्त व्यक्ति की स्थिति।
९	अज्ञानी को विष की उपमा।	६	मोह और अहंकारग्रस्त व्यक्ति को वृद्ध सिंह की उपमा।
१०	आजीविका के लिए तप करने वाला तप-आजीवी।	७	पापकर्ता व्यक्ति को दुःख का वेदन।
११-१३	दोषपूर्ण साधक कौन ?	८	पाप की वृद्धि किसके ?
१४	मासिक तप करने वाला भी धार्मिक नहीं।	९	वर्तमानिक सुख में ग्रस्त व्यक्ति का भविष्य।
१५	अज्ञात घरों से सामुदानिक भिक्षा का निर्देश।	१०	आत्मकृत कर्मों का फलभोग।
१६, १७	शुद्ध भिक्षा की एषणा।	११	अभय कौन ?
१८	अर्हत् इन्द्रनाग ऋषि का कथन।	१२	दोषभीरु कौन ?
	<b>बयालीसवां अध्ययन : ऋषि सोम</b>	१३	पाप कर्मों के उदय से व्यक्ति दुःखी।
१	अल्प से बहुत की एषणा का संकेत।	१४	जब तक कर्म-फल, तब तक जीवन।
		१५	जीजिविषा की तीव्रता।
		१६	जीवित दशा में ही सुखानुभूति।
		१७	आहार-ग्रहण के दो कारण।
		१८	आत्मौपम्य भाव।

१९	प्राण-घात के वर्जन का निर्देश।	४३	ऋद्धि गौरव के अहंकार से होने वाली हानि।
२०	अहिंसा का महत्त्व।	४४	साता कर्म भी परिणाम में दुःखदायी।
२१, २२	दयावान् मुनि का महत्त्व एवं अहिंसक जीवन की प्रेरणा।	४५	लिंगधारी असंयमी साधु।
२३	जिनेन्द्र की वाणी का प्रभाव।	४६	कामनाओं का दुष्फल।
२४	जिन-वाणी का सम्मान नहीं करने वाले की स्थिति।	४७	तृष्णा का बंधन काटने वाला सुखी।
२५	जिन-वाणी को सुनने का फल।	४८	कार्य-कारण की परम्परा।
२६	जिन-वाणी को सुनकर होने वाली प्रसन्नता।	४९	साधु के लिए आहार करने के कारण।
२७	जिनेन्द्र की वाणी रसायन के समान लाभप्रद।	५०	बंधन दुःख देता है चाहे वह सोने का हो या लोहे का।
२८-३०	जिनवाणी श्रवण से होने वाली प्रसन्नता को व्यक्त करने में विविध उपमाएं।	५१	वन में जाकर विधिपूर्वक देह के व्युत्सर्ग का निर्देश।
३१-३३	जिनशासन का महत्त्व।	५२	देहरक्षा के लिए भोजन का निर्देश।
३४	जिनशासन से प्राप्त उपलब्धियां।	५३	संयम में पराक्रम करने का संकेत।
३५	आज्ञा का लोप दुःखदायक।	५४	वैश्रमण ऋषि का कथन।
३६	आज्ञा का पालन हितकर।		<b>प्रथम संग्रहणी</b>
३७	जिनेन्द्र की आज्ञा के उल्लंघन का परिणाम।	१	किस तीर्थंकर के समय में कितने प्रत्येकबुद्ध ऋषि ?
३८	जिनवाणी से विरत न होने की प्रेरणा।	२-६	पैंतालीस ऋषियों के नामों का उल्लेख।
३९-४२	जिनेन्द्र देव की आज्ञा-पालन में विविध उपमाओं का प्रयोग।		<b>द्वितीय संग्रहणी</b>
		१-५	पैंतालीस अध्ययनों की विषय-वस्तु का संक्षिप्त कथन।





पढमं नारदज्झयणं

प्रथम अध्ययन : नारद



## १. ऋषि नारद

देवर्षि नारद का वर्णन तीनों परम्पराओं में मिलता है। जैन परम्परा में वासुदेव-प्रतिवासुदेव की भांति नारद भी एक पद है। प्रत्येक वासुदेव के समय में होने के कारण ये भी नौ होते हैं। इनके नाम इस प्रकार मिलते हैं—भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, चतुर्मुख, नवमुख और उन्मुख। तिलोय पण्णत्ति<sup>१</sup> और त्रिलोकसार<sup>२</sup> में अंतिम तीन नामों में अंतर है—दुर्मुख, नरमुख, अधोमुख। हरिवंश पुराण में आठवें नारद का नाम नरवक्त्र है।<sup>३</sup>

औपपातिक सूत्र में आठ ब्राह्मण परिव्राजकों में आठवें परिव्राजक का नाम नारद है। इनमें अंबड और द्वीपायन का नाम भी ऋषिभाषित के ऋषियों से सम्बन्धित है।<sup>४</sup> समवायांग के अनुसार नारद आगामी भव में विजय नामक इक्कीसवें तीर्थंकर बनेंगे<sup>५</sup> लेकिन इनका सम्बन्ध किस नारद से है, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है।

ऋषिभाषित के प्रथम अध्ययन से सम्बन्धित नारद भगवान् अरिष्टनेमि के समय में हुए, ऐसी संभावना की जा सकती है। इस अध्ययन में वर्णित चातुर्याम धर्म के वर्णन से भी स्पष्ट है कि ये भगवान् अरिष्टनेमि के समय में हुए। इनका विशेषण कच्छुल्ल नारद भी मिलता है।<sup>६</sup>

ज्ञातार्थकथा के सोलहवें अध्ययन में नारद के व्यक्तित्व का निरूपण मिलता है। उसके अनुसार नारद देखने में अतिभद्र और विनीत थे लेकिन कभी-कभी उनका हृदय कलुषित हो जाता था। वे माध्यस्थत्रत युक्त, आश्रितों के लिए सौम्य, प्रियदर्शन और सुरूप थे। वे स्वच्छ और अखण्ड वस्त्र धारण करते थे। उनका वक्षस्थल कृष्ण मृग के चर्म से बने उत्तरासंग से सुशोभित था। हाथ में दण्ड-कमण्डलु तथा मस्तक जटा मुकुट से दीपित था। वे यज्ञोपवीत, कलाई पर रुद्राक्ष-माला तथा वृक्षों की छाल पहनते थे। उनके हाथ में कच्छभी वीणा थी।<sup>७</sup> वे संगीतप्रिय<sup>८</sup>, कलहप्रिय<sup>९</sup> तथा कोलाहलप्रिय थे। अवपतनी, उत्पतनी आदि अनेक विद्याओं<sup>१०</sup>

१. तिप ४/१४६९;

भीम-महाभीम-रुद्रा, महरुद्रो दोण्णि काल-महाकाला।  
दुम्मुह-निरयमुहाधोमुहणामा णव य णारदा॥

२. त्रिसा गा. ८३४ ;

भीम-महाभीम-रुद्रा, महरुद्रो कालओ महाकालो।  
तो दुम्मुह णिरयमुहा, अहोमुहो णारदा एदे॥

३. हरिपु ६०/५४८, ५४९।

४. औप ९६।

५. सम २५२/३, २५१/४।

६. ज्ञा. १/१६/१८५।

७. आ. हेमचन्द्र कृत अभिधान चिन्तामणि नाममाला में सरस्वती की वीणा का नाम कच्छपी और नारद की वीणा का नाम महती है। (अभि २/२०२, २०३ ; सरस्वत्यास्तु कच्छपी, नारदस्य तु महती)

८. वैदिक परम्परा के अनुसार नारद ऋषि ने ही वीणा का आविष्कार किया तथा गन्धर्वों में प्रमुख हुए ( भारतीय व्यक्ति कोश पृ. १२४)

९. देवता और मनुष्यों में कलह के बीज बोने के कारण इन्हें कलिप्रिय कहा जाता है। वैदिक परम्परा में इनका एक विशेषण कलिकारक भी मिलता है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार सभी नारद कलहप्रिय और महायुद्धप्रिय होने के कारण वासुदेव के समान अधोगति को प्राप्त करते हैं ( तिप. ४/१४७०; कलह-महाजुद्धपिया, अधोगया वासुदेव व्व। ) लेकिन भव्य होने के कारण अंत में मोक्ष प्राप्त करते हैं। ( त्रिसा. ८३५; कलहपिया कदाई, धम्मरदा वासुदेवसमकाला। भव्वा णिरयगदिं ते, हिंसा-दोसेण गच्छंति।।)

१०. छांदो उपनिषद् (७/१/२ पृ. ७१३) में इन्हें विविध विद्याओं का ज्ञाता कहा है।

से युक्त थे।<sup>१</sup>

औपपातिक सूत्र के अनुसार ये चार वेद, इतिहास, निघण्टु के ज्ञाता, षष्टितंत्र (सांख्य मत का ग्रंथ) में निपुण, गणितविद्या, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छंद, निरुक्त आदि ब्राह्मण ग्रंथों के ज्ञान से युक्त थे।<sup>२</sup> दिगम्बर परम्परा में नारद को दिव्यपुरुष अथवा शलाका पुरुषों<sup>३</sup> के अन्तर्गत रखा है।

नारद की उत्पत्ति का विस्तृत वर्णन आवश्यक चूर्णि में बत्तीस योग-संग्रह के अन्तर्गत शौच योग में मिलता है। भगवान् अरिष्टनेमि के दो शिष्य—धर्मघोष और धर्मयश एक बार अशोक वृक्ष के नीचे श्रुत का परावर्तन कर रहे थे। पूर्वाह्न से अपराह्न होने पर भी वृक्ष की छाया में प्रत्यावर्तन नहीं हुआ। धर्मघोष ने सोचा कि यह धर्मयश की लब्धि है तथा धर्मयश ने इसे धर्म घोष की लब्धि माना लेकिन दोनों के वहां से हटने पर भी वृक्ष की छाया में परिवर्तन नहीं हुआ। उन्होंने भगवान् अरिष्टनेमि से इसका रहस्य पूछा। भगवान् ने कहा—‘शौर्यपुर नगर में राजा समुद्रविजय के राज्य में यज्ञयश नामक तापस रहता था। उसकी पत्नी का नाम सौमित्री<sup>४</sup> और पुत्र यज्ञदत्त था। पुत्रवधू सोमयशा के पुत्र का नाम नारद था। पति और पत्नी दोनों एकान्तर तप करते थे। पारणे में उच्छ्वृत्ति से आजीविका चलाते थे। वे बालक नारद को अशोकवृक्ष के नीचे छोड़कर उच्छ्वृत्ति ग्रहण करने जाते थे। एक बार वैश्रमण जाति के जृम्भक देव ने बालक को वृक्ष के नीचे देखा और अवधिज्ञान से जाना कि यह उनके ही देवलोक से च्युत हुआ है। गर्मी से बालक को कठिनाई न हो, इस अनुकम्पा से देवों ने छाया को स्तम्भित कर दिया। साथ ही कुछ गुप्त विद्याएं भी उसे सिखा दीं। देवताओं का प्रिय होने के कारण बड़ा होने पर विद्याजृम्भक देवों ने उसे प्रज्ञप्ति आदि विद्याएं भी सिखा दीं। वह मणि की पादुका एवं सोने की कुंडिका के साथ आकाश में भ्रमण करता रहता था।

एक बार वह द्वारिका नगरी गया। वहां वासुदेव कृष्ण ने उससे पूछा—‘शौच क्या है?’ वह उत्तर देने में असमर्थ रहा। उसने सीमंधर और युगंधर तीर्थंकर से इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त किया कि सत्य ही शौच है। एक ही पद से उसने सत्य को अनेक पर्यायों के साथ धारण कर लिया। नारद ने द्वारिका आकर वासुदेव को सत्य ही शौच है, यह बताया। वासुदेव ने प्रतिप्रश्न किया कि सत्य क्या है? नारद इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। नारद ने इस विषय पर चिन्तन करना प्रारम्भ किया, गहराई में उतरने पर उन्हें जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसके बाद वे

१. ज्ञा १/१६/१८५ ; इमं च णं कच्छुल्लनारए—दंसणेणं अइभदए विणीए अंतो-अंतो य कलुसहियए मज्झत्थ-उवत्थिए य अल्लीण-सोमपियदंसणे सुरूवे अमइल-सगल-परिहिए कालमियचम्म-उत्तरासंग-रइयवच्छे दंड-कमंडलु-हत्थे जडामउड-दित्तसिए जन्नोवइय-गणेत्तिय-मुंजमेहला-वागलधरे हत्थकय-कच्छभीए पियगंधव्वे धरणगोयरप्पहाणे संवरणावरणि-ओवयणुप्पयणि-लेसणीसु य संकामणि-आभिओगि-पण्णत्ति-

गमणि-थंभिणीसु य बहूसु विज्जाहरीसु विज्जासु विस्सुयजसे।

२. औप १७।

३. मुख्यतः तिरेसठ शलाकापुरुष होते हैं लेकिन नारद नियमतः भव्य होते हैं अतः इनकी गणना शलाकापुरुषों में की गई है। (जैनेन्द्र भाग ४ पृ. ९, १०)

४. ऋषिमं ४२ टी प. ६४; ऋषिमण्डल की वृत्ति में पत्नी का नाम सोममित्रा मिलता है।

शौचवादी प्रत्येकबुद्ध हो गए।<sup>१</sup> ऋषिमण्डल वृत्ति के अनुसार देवताओं ने उसे लिंग दिया और वे प्रव्रजित हो गए। यह नवम नारद से सम्बन्धित घटना है। ऋषिभाषित के प्रथम अध्ययन का कथन करके वे मोक्ष को प्राप्त हो गए।<sup>२</sup>

चूर्ण की इस कथा से स्पष्ट है कि ये ऋषिभाषित के ही शौचवादी ऋषि हैं। आवश्यक चूर्ण में भी इस कथा के बाद 'पठमं अज्ज्ञयणं सोच्चमेव वदति' का उल्लेख है। वहां 'सोयव्व' पाठ न होकर 'सोच्च' पाठ है, जो शौच शब्द का वाचक है। इस प्रसंग को देखकर यह संभावना की जा सकती है कि इस अध्ययन में 'सोयव्व' के स्थान पर 'सोयमेव वदति, सोयमेव पवदति' पाठ होना चाहिए। 'सोय' पाठ अर्थ की दृष्टि से भी संगत प्रतीत होता है। चूंकि सभी हस्तप्रतियों में 'सोयव्व' पाठ मिलता है अतः हमने उसी पाठ को प्रधानता देकर उसका अर्थ श्रोतव्य किया है।

बौद्ध परम्परा में नारद का वर्णन कहां-कहां उपलब्ध है, इसका विस्तृत शोध डॉ. सागरमलजी जैन ने प्रस्तुत किया है।<sup>३</sup> बौद्ध-साहित्य में चौबीस बुद्धों की परम्परा में इनको नवें बुद्ध के रूप में स्वीकृत किया है। अंगुत्तर निकाय में उल्लेख मिलता है कि पटरानी भद्रा की मृत्यु से शोकविह्वल मुण्ड राजा नारद ऋषि के उपदेश से सम्बुद्ध हुए।<sup>४</sup> बौद्धों के इंद्रिय जातक में ब्राह्मण तापस के रूप में जो नारद का उल्लेख मिलता है, वही ऋषिभाषित के नारद ऋषि होने चाहिए। वहां नारद और असित<sup>५</sup> देवल का नाम एक साथ मिलता है।<sup>६</sup> महाभारत शांतिपर्व में भी नारद और असित देवल का संवाद मिलता है। इन दोनों संदर्भों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये दोनों ऋषि समकालीन रहे हैं तथा ये दोनों अरिष्टनेमि के समय के ऋषि होने चाहिए।<sup>७</sup>

वैदिक परम्परा में मनु ने आर्यावर्त के प्रारम्भ में दस महर्षियों के नाम बताए हैं, जिनमें एक नाम नारद है।<sup>८</sup> भागवत के अनुसार ये ब्रह्मा के दश पुत्रों में एक थे। ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार नारद के जन्म से पूर्व अनावृष्टि चल रही थी। उनके जन्म के समय वर्षा हुई अतः जलदान करने के कारण इनका नाम नारद पड़ा तथा दूसरे बालकों को नार (ज्ञान) देने के कारण उनका नाम नारद पड़ा। ये जातिस्मर तथा महाज्ञानी थे।<sup>९</sup> वैदिक परम्परा में नारद को प्रजापतियों में एक माना है। गरुड़ पुराण में विष्णु के तेरहवें अवतार के रूप में नारद का उल्लेख है।<sup>१०</sup>

१. आवनि ८८४, ८८५, आवचू २ पृ. १९४, हाटी २ पृ. १४४।

२. ऋषिमं ४२, ४३ टी प. ६४।

३. ऋषिभाषित : एक अध्ययन पृ. २३, २४।

४. अंगु ५/१० पृ. ४१४-१९।

५. जातक में असित देवल के स्थान पर काल देवल नाम भी मिलता है। (जातक, इंद्रिय जातक ४२३, भा. ४ पृ. १२३)

६. जातक, इंद्रिय जातक ४२३, भा. ४ पृ. १२१-२७।

७. महा शांति २८१/२-३८।

८. मनु १/३५ ;

मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ, पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।

प्रचेतसं वसिष्ठं च, भृगुं नारदमेव च ॥

९. ब्रह्माण्ड १/२१/८ पृ. १२४;

ददाति नारं ज्ञानं च, बालकेभ्यश्च बालकः।

जातिस्मरो महाज्ञानी, तेनायं नारदाभिधः ॥

१०. गरुड़पु. १/१९६/९।

वैदिक मान्यता के अनुसार ये देवताओं का दौत्यकर्म करने वाले ऋषि हैं तथा ब्रह्मा के श्राप से ये गंधर्व हुए।<sup>१</sup> नारद के जन्म से सम्बन्धित अनेक पौराणिक कथाएं मिलती हैं। ब्रह्मवैवर्तपुराण में इनको ब्रह्मा के कंठप्रदेश से उत्पन्न माना है।<sup>२</sup> भागवत के अनुसार नारद ब्रह्मा की गोद से तथा कोई परम्परा उनको ब्रह्मा के कपाल से उत्पन्न मानती है।<sup>३</sup> कोई आचार्य इनको ब्राह्मण के दश मानस पुत्रों में एक मानते हैं, जो उनकी जंघा से उत्पन्न हुए।<sup>४</sup> विष्णु पुराण में इन्हें कश्यप और दक्ष की कन्या का पुत्र माना है। महाभारत के अनुसार इन्होंने तीन लाख श्लोकों वाला महाभारत देवताओं को सुनाया था।<sup>५</sup> इन्होंने दक्ष के पुत्रों को सांख्यज्ञान का उपदेश दिया था, जिससे वे सब के सब विरक्त होकर संन्यस्त हो गए थे।<sup>६</sup> वेदों में इनके नाम के आगे भिन्न-भिन्न नाम मिलते हैं, जैसे—ऋग्वेद में पर्वत नारद, अथर्ववेद में कण्व नारद आदि। इससे स्पष्ट है कि वैदिक-साहित्य में भी नारदों की परम्परा मान्य है। महाभारत में इनके लिए ब्रह्मर्षि, देवर्षि, परमेष्ठिज, परमेष्ठी, परमेष्ठिपुत्र और सुरर्षि आदि नामों का प्रयोग हुआ है।<sup>७</sup> ह

नारद के नाम से स्वतंत्र उपनिषद्, पुराण और स्मृतियां भी मिलती हैं, जैसे—नारदपरिव्राजकोपनिषद्, नारदोपनिषद्, नारदपुराण और नारद स्मृति आदि।

नारदऋषि का महत्त्व इस बात से आंका जा सकता है कि गीता में श्रीकृष्ण ने इन्हें देवर्षियों में प्रमुख माना है।<sup>८</sup> इस अध्ययन में भी इनके नाम के आगे लगा 'देव' शब्द संभवतः इनके देवताओं से सम्पर्क को द्योतित करने वाला होगा। ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार सारे वेद इनसे निकलते हैं अतः ये देवर्षि कहलाते हैं।<sup>९</sup> ब्रह्माण्डपुराण में शिव, नारद आदि की भक्ति को उत्तम भक्ति के रूप में स्वीकार किया है।

इस अध्ययन में नारद ऋषि श्रवण और शौच का महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। जैन आगमों में चार दुर्लभ अंगों में एक दुर्लभ अंग है—श्रुति अर्थात् श्रवण।<sup>१०</sup> भगवती सूत्र में भी पर्युपासना के दश लाभों में प्रथम श्रवण है।<sup>११</sup> दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है कि श्रवण से ही व्यक्ति कल्याणकारी और पापकारी कार्यों का ज्ञान कर सकता है।<sup>१२</sup>

१. ब्रह्माण्ड १/१२/७ पृ. ६९ ;

नारदो गुरुशापेन, गंधर्वश्च बभूव सः ।

२. ब्रह्माण्ड १/८/२६ पृ. ३९ ; कंठदेशाच्च नारदः ।

३. भारतीय पृ. १२४ ।

४. आप्टे पृ. ५०४ ।

५. महा आदि १/१२३, १२४ ।

६. ब्रह्माण्ड १/१/१११ पृ. २ ।

७. महाभारतनामानुक्रमणिका पृ. १८१ ।

८. गीता १०/२६ ; देवर्षीणां च नारदः ।

९. ब्रह्माण्ड १/२/३५/९५ पृ. ५४ ;

नारदः पर्वतश्चैव, कश्यपस्यात्मजावुभौ ।

ऋषति वेदान्यस्मात्ते, तस्माद्देवर्षयः स्मृताः ॥

१०. उ ३/१ ।

११. भ २/१११/१ ;

सवणे नाणे य विष्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे ।

अण्हण्णए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धी ॥

१२. दश ४/२३/११ ; सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।

ऋषि ने मुख्यतः चार श्रोतव्यों को प्रस्तुत किया है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य। ऋषि के अनुसार इन चार श्रोतव्यों से अधिक शौच—पवित्र कोई वस्तु नहीं है। (सोयव्वातो परं नत्थि सोयं ति) भारत में शौचवादी परम्परा अत्यन्त प्राचीन रही है। ज्ञाताधर्मकथा के थावच्चापुत्र अध्ययन में विस्तार से इसका वर्णन प्राप्त होता है। नारद ऋषि ने बाह्य शौच की अपेक्षा आंतरिक शौच को अधिक महत्त्व दिया है। उन्होंने अहिंसा, सत्य अस्तेय और अपरिग्रह—इनको शौच माना है।

सामान्यतः श्रुत-वाचन के समय किए जाने वाले तप को उपधान कहा जाता है लेकिन इस अध्ययन में ऋषि ने उपधान को विशिष्ट तप का वाचक मानकर सत्य, दत्त और ब्रह्म—इन तीनों को उपधान के रूप में स्वीकृत किया है। यहां उन्होंने अहिंसा का उपधान के रूप में उल्लेख क्यों नहीं किया, यह खोज का विषय है। इस पूरे संदर्भ से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नारद ऋषि बाद में निवृत्तिमार्ग के उपासक बने।<sup>१</sup> छांदोग्य उपनिषद् में एक प्रसंग मिलता है कि नारद ने महर्षि सनत्कुमार को कहा कि मुझ मंत्रवेत्ता को आत्मवेत्ता बनने का उपदेश दें, जिससे मैं शोकसागर से दूर हो सकूँ। निवेदन करने पर उन्होंने नारद को आत्मविद् बनाया।<sup>२</sup>

१. वैदिक परम्परा के अनुसार जनता को निवृत्तिमार्ग का उपदेश देने के कारण दक्ष ने इनको भ्रमणशील रहने का श्राप दिया। (पौराणिक संदर्भ कोश, पृ. ३९८) इस प्रसंग से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि ब्राह्मण परिव्राजक होते हुए भी ये श्रमण धर्म से प्रभावित हुए। उनका चातुर्याम रूप शौचधर्म

इसी तथ्य की पुष्टि करता है।

२. छांदो ७/१/३ पृ. ७४३, ७४४, नारद के विस्तार हेतु देखें चरित्र कोश पृ. २४४, २४५, पौराणिक संदर्भ कोश पृ. ३९७, ३९८, महाभारत, ब्रह्मवैवर्तपुराण, ब्रह्माण्डपुराण आदि ग्रंथ।





## १. नारदञ्जयणं : नारद अध्ययन

१. सोयव्वमेव वदति<sup>१</sup>, सोयव्वमेव पवदति, जेण समयं<sup>२</sup> जीवे सव्वदुक्खाण मुच्चति। तम्हा सोयव्वातो परं नत्थि सोयं<sup>३</sup> ति<sup>४</sup>, देवनारदेण अरहता इसिणा बुइतं।

ऋषि श्रोतव्य (सुनने योग्य) सिद्धान्त का ही कथन करता है। श्रोतव्य सिद्धान्त का ही विशेष रूप से कथन करता है, जिससे प्राणी सब दुःखों से मुक्त हो जाता है इसलिए श्रोतव्य से अधिक और कोई पवित्र नहीं है, अर्हत् देवर्षि नारद ने ऐसा कहा है।

२. पाणातिपातं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे, पढमं सोयव्वलक्खणं। मुसावादं तिविहं तिविहेणं णेव बूया ण भासए, बितियं सोयव्वलक्खणं। अदत्तादाणं<sup>५</sup> तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे, ततियं सोयव्वलक्खणं। अब्बंभ-परिग्गहं तिविहं तिविहेणं णेव कुज्जा ण कारवे, चउत्थं सोयव्वलक्खणं।<sup>६</sup>

प्रथम श्रोतव्य लक्षण—व्यक्ति तीन करण<sup>७</sup> तीन योग<sup>८</sup> से प्राणातिपात न करे, दूसरों से प्राणातिपात न करवाए (और न ही प्राणातिपात करने वाले का अनुमोदन करे)।<sup>९</sup>

द्वितीय श्रोतव्य लक्षण—व्यक्ति तीन करण तीन योग से न स्वयं मृषा—असत्य बोले, न दूसरों से बुलवाए (और न ही मृषा बोलने वाले का अनुमोदन करे)।

तृतीय श्रोतव्य लक्षण—व्यक्ति तीन करण तीन योग से अदत्त का ग्रहण न करे, दूसरों से अदत्त ग्रहण न कराए (और न ही अदत्त ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करे)।

चौथा श्रोतव्य लक्षण—व्यक्ति तीन करण और तीन योग से अब्रह्म और परिग्रह का सेवन न स्वयं करे न दूसरों को इसमें प्रवृत्त करे (और न ही प्रवृत्त होने वाले का अनुमोदन करे)।

### ३. सव्वं च सव्वहिं चेव, सव्वकालं च सव्वहा।

निम्ममत्तं विमुत्तिं च, विरतिं चेव सेवते<sup>१०</sup> ॥ १ ॥

साधक सर्व द्रव्य, क्षेत्र और काल में पूर्ण रूप से निर्ममत्व, निर्लोभता और विरति की आराधना करता है।

१. वदती (स, ब)।

२. यहां तृतीया के स्थान पर प्रथमा विभक्ति का प्रयोग हुआ है।

३. तस्माच्छ्रोतव्यात् परं न किञ्चिदस्ति श्रोतव्यं। सोयं ति शौचमिति पुस्तकानां पाठः वृद्धलेखकानां भ्रम इति नाद्रियते। (ऋषु. पृ. १३१) टीकाकार ने 'सोयं' का अर्थ श्रोतव्य ही किया है लेकिन यहां यह अर्थ-विमर्शनीय है। यहां 'सोय' का अर्थ शौच होना चाहिए।

४. ती (ब)।

५. अदत्तादाणं (अ, ब), °दाण (पा)।

६. नारद ऋषि भगवान् अरिष्टनेमि के समयवर्ती हैं इसलिए उन्होंने

अब्रह्म और परिग्रह को एक साथ करके चातुर्याम धर्म की व्याख्या की है।

७. कृत, कारित और अनुमोदित—ये तीन करण हैं।

८. मन वचन और काय—ये तीन योग हैं।

९. सूत्रकार ने तीन करण तीन योग का प्रयोग किया है लेकिन व्याख्या में कृत और कारित—इन दो करणों का ही उल्लेख है। अनुवाद तीन करण तीन योग के आधार पर ही किया गया है।

१०. सेवतो (अ, स)।

#### ४. सव्वतो विरते दंते, सव्वतो परिनिव्वुडे।

सव्वतो विप्पमुक्कप्पा, सव्वत्थेसु समं चरे ॥ २ ॥

सब ओर से विरत, उपशान्त, परिनिर्वृत (शान्त) और प्रतिबंध रहित साधक सब विषयों में समता का आचरण करे, औदासीन्य रखे।

#### ५. सव्वं सोयव्वमादाय, अडयं उवहाणवं।

सव्वदुक्खप्पहीणे उ, सिद्धे भवति णीरणे ॥ ३ ॥

सब प्रकार के श्रोतव्य को ग्रहण करके उपधानवान् (स्वाध्याय विषयक तप में रत) साधक परिव्रजन करता हुआ सब दुःखों को नष्ट करके कर्ममल रहित होकर सिद्ध हो जाता है।

६. 'सच्चं चेषोपसेवती'<sup>१</sup>, दत्तं चेषोपसेवती, बंभं चेषोपसेवती, सच्चं चेषोपधाणवं, दत्तं चेषोपधाणवं, बंभं चेषोपधाणवं।<sup>२</sup>

साधक सत्य की ही उपासना करता है, दत्त की ही उपासना करता है तथा ब्रह्मचर्य की ही उपासना करता है क्योंकि सत्य ही उपधान (तप) है, दत्त ही उपधान है तथा ब्रह्म ही उपधान है।

७. एवं से सिद्धे<sup>३</sup> बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं<sup>४</sup> ताई णो पुणारवि इच्चत्थं<sup>५</sup> हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (देवर्षि नारद) कहता हूँ।

१. अडयं ति अटमान इति मन्यामहे (ऋवृ. पृ. १३१)।

२. × (पा, ब, हे)।

३. इस सूत्र में ऋषि ने अहिंसा का उल्लेख क्यों नहीं किया, यह खोज का विषय है।

४. शूब्रिंग की संपादित पुस्तक में 'सिद्धे' पाठ नहीं है।

५. भगवती सूत्र में केवली को अलमस्तु कहा है, जिसका अर्थ है जिसके लिए किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना शेष न

रहा हो। (अलमस्तु पर्याप्तं भवतु, नातः परं किञ्चिद् ज्ञानान्तरं प्राप्तव्यमस्यास्तीति (भटी १/२०९ टी पृ. ६७, ६८))

६. प्रो. शूब्रिंग ने इच्चत्थं के स्थान पर 'इत्थत्थं' पाठ को स्वीकृत किया है।

७. बोधि का संबंध अध्ययन से नहीं अपितु इन्ट्यूशन से है। बुद्ध तीन प्रकार के होते हैं—१. ज्ञानबुद्ध २. दर्शनबुद्ध

३. चारित्रबुद्ध। (टाणं ३/१७७)

बीयं वज्जियपुत्तञ्जयणं

द्वितीय अध्ययन : वृजिकपुत्र



## २. ऋषि वृजिकपुत्र

दूसरे अध्याय के उपदेष्टा ऋषि हैं—वृजिकपुत्र। आगम और उसके व्याख्या-साहित्य में वज्जिपुत्र—वृजिकपुत्र नामक किसी ऋषि का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। महोपाध्याय विनयसागरजी ने इसकी संस्कृत छाया वात्सीपुत्र की है लेकिन 'वज्जिय' की संस्कृत छाया वज्जिक, वर्जिक अथवा वृजिक होनी चाहिए।

बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लिखित वात्सीपुत्र के साथ ऋषिभाषित के 'वज्जियपुत्र' की तुलना करना संभव नहीं लगता। बौद्धों की थेरगाथा में 'वज्जिपुत्र' नाम से तीन स्थविरों के उपदेशों का संकलन है। प्रथम वज्जिपुत्र वैशाली के अमात्य पुत्र हैं, ये प्रव्रजित होकर अरण्य में ध्यान करते थे। घटना विशेष से संविग्न होकर ये अर्हत् पद को प्राप्त हुए।<sup>१</sup> दूसरे वज्जिपुत्र वैशाली के एक लिच्छवी राजकुमार थे, जो भगवान् का उपदेश सुनकर प्रव्रजित होकर अर्हत् पद को प्राप्त हुए।<sup>२</sup> तीसरे वज्जित स्थविर कौशल के ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए। प्रव्रज्या ग्रहण करके ये भी अर्हत् पद को प्राप्त हुए।<sup>३</sup> इन तीनों में किसके साथ ऋषिभाषित के ऋषि की तुलना की जाए, यह कहना कठिन है क्योंकि थेरगाथा में निर्दिष्ट तीनों के उपदेशों के साथ ऋषिभाषित के उपदेश की संगति नहीं है। डॉ. सागरमलजी जैन ने संभावना व्यक्त की है कि पूर्व में ये औपनिषदिक ऋषियों की परम्परा में जुड़े हों किन्तु बाद में बुद्ध से प्रभावित होकर बौद्ध परम्परा से जुड़ गए लेकिन इस संदर्भ में अभी और गहन विमर्श की अपेक्षा है। जातककालीन भारतीय संस्कृति में पंडित मोहनलाल मेहता ने उल्लेख किया है कि बुद्ध की विद्यमानता में ही बौद्धधर्म अठारह भागों में विभक्त हो गया था। उन अठारह भेदों में स्थविरवादी परम्परा में वृजिकपुत्र नामक स्थविर का उल्लेख है।<sup>४</sup> अध्ययन की विषयवस्तु बौद्धधर्म के सिद्धान्तों के अनुरूप है अतः यह संभावना की जा सकती है कि ये वही वृजिकपुत्र ऋषि होने चाहिए, जिनका ऋषिभाषित के ऋषि के साथ सम्बन्ध हो सकता है।

ऋषि ने इस अध्ययन में दुःख और कर्मवाद के सिद्धान्त की चर्चा की है। उन्होंने एक बहुत बड़े रहस्य का उद्घाटन किया है कि व्यक्ति दुःख से भयभीत होकर उससे बचना चाहता है लेकिन उसके कारणभूत अशुभ कार्यों से बचना नहीं चाहता। प्रथम श्लोक में 'किच्चा' शब्द का प्रयोग विशेष अर्थ का द्योतक है। भगवती सूत्र<sup>५</sup> में 'किच्चा' शब्द माया या इन्द्रजाल के अर्थ में प्रयुक्त है।<sup>६</sup> भागवत में 'कृत्या' का तात्पर्य है—ऐसी मारक शक्ति का

१. थेरगाथा १/६२ पृ. २७।

२. थेरगाथा १/११९ पृ. ५१।

३. थेरगाथा १/१६८ पृ. ७९।

४. अठारह भेदों के चार्ट हेतु देखें जातककालीन भारतीय

संस्कृति पृ. २४२।

५. भ ३/१९७।

६. कृत्या शब्द के विस्तार हेतु देखें अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन पृ. ३७३-७६।

प्रयोग, जो स्वयं के लिए ही अहितकर बन जाए। वहां कृत्या के प्रयोग से सम्बन्धित कुछ कथाएं भी मिलती हैं।<sup>१</sup>

ऋषि के अनुसार दुःख का मूल कारण हिंसा है। व्यक्ति जन्म-मरण आदि दुःखों का उपशमन तभी कर सकता है, जब वह हिंसा से बचे। ऋषि ने कर्मवाद से सम्बन्धित एक बड़ी समस्या को समाहित किया है कि कर्म और आत्मा—इन दोनों में पहले कौन था तथा इनका सम्बन्ध कैसे हुआ? ऋषि कहते हैं कि जैसे बीज से अंकुर तथा अंकुर से बीज उत्पन्न होते हैं, वैसे ही कर्म और संसारी आत्मा अनादि काल से सम्बद्ध हैं। पूर्वबद्ध कर्मों के कारण संसारी आत्मा मोह से नए-नए कर्मों का उपार्जन करती रहती है और उनकी परम्परा चलती रहती है।

ऋषि के अनुसार कर्मबंधन की इस समस्या का स्थायी समाधान तभी हो सकता है, जब दुःख के मूल कारण मोह को ही नष्ट कर दिया जाए। उत्तराध्ययन सूत्र इसी सत्य को प्रकट करता है कि जिस व्यक्ति के मोह नहीं होता, उसका दुःख नष्ट हो जाता है।<sup>२</sup> मोह और अज्ञान के कारण व्यक्ति परिस्थितियों को दुःख का कारण मानता है लेकिन ऋषि वृजिकपुत्र कहते हैं कि जैसे सिंह बाण आने के मूल कारण को समाप्त कर देता है, वह बाण को दोष नहीं देता, वैसे ही व्यक्ति को बाह्य परिस्थितियों को दोष न देकर मोह और अज्ञान को नष्ट करना चाहिए, जिससे उसे पुनः दुःख की प्राप्ति न हो। ऋषि ने यहां सिंहवृत्ति के साथ श्वानवृत्ति का उल्लेख क्यों नहीं किया, यह खोज का विषय है। सम्पूर्ण अध्ययन कर्मवाद के सूक्ष्म रहस्य को व्यावहारिक जीवन के साथ जोड़कर उसकी प्रस्तुति करता है।

१. भाग ९/४/४६।

२. उ ३२/८ ; दुःखं हयं जस्स न होइ मोहो।

## २. वज्जियपुत्तञ्जयणं : वृजिकपुत्र अध्ययन

१. जस्स भीता पलायंति, जीवा कम्माणुगामिणो।  
तमेवादाय गच्छंति, किच्चा<sup>१</sup> दिण्णं<sup>२</sup> व वाहिणी ॥ १ ॥  
वज्जियपुत्तेण अरहता इसिणा बुद्धं<sup>३</sup>।

कर्म के अनुगामी जीव जिस दुःख से भयभीत होकर पलायन करते हैं, कर्म के कारण वे पुनः उसी दुःख को प्राप्त करते हैं। जैसे माया (कृत्या) का प्रयोग करके विदीर्ण करने वाली सेना पुनः शत्रु सेना की पकड़ में आ जाती है, ऐसा अर्हत् वज्जियपुत्त (वृजिकपुत्र) ऋषि ने कहा।

२. दुक्खा परिवित्तसंति पाणा, मरणा जम्मभया य सव्वसत्ता।  
तस्सोवसमं गवेसमाणे, 'अप्पे<sup>४</sup> आरंभतासए<sup>५</sup> ण सत्ते ॥ २ ॥

प्राणी सभी ओर से दुःख से त्रस्त हैं, सब सत्त्व जन्म और मरण के भय से पीड़ित हैं, दुःख के उपशमन की खोज करते हुए भी कुछ प्राणी आत्मा में हिंसा से भय नहीं खाते हैं।

३. गच्छति<sup>६</sup> कम्महि सेऽणुबद्धे, पुणरवि आयाति से सयंकडेणं।  
जम्मण-मरणाइ अट्टे, पुणरवि आयाति से सकम्मसित्ते ॥ ३ ॥

व्यक्ति अपने कर्मों से अनुबद्ध होकर परिभ्रमण करता है। स्वयं कृत कर्मों के द्वारा वह पुनः संसार में आता है और जन्म-मरण के दुःख से पीड़ित होकर अपने कर्मों से सिक्त होकर पुनः-पुनः संसार में आता है।

४. बीया अंकुरणिप्फत्ती<sup>७</sup>, अंकुरातो पुणो बीयं<sup>८</sup>।  
बीए संबुज्जमाणम्मि<sup>९</sup>, अंकुरस्सेव संपदा ॥ ४ ॥

५. बीयभूताणि कम्माणि, संसारम्मि अणादिए।  
मोहमोहितचित्तस्स, ततो कम्माण संतती ॥ ५ ॥

बीज से अंकुर की निष्पत्ति होती है तथा अंकुर से पुनः बीज उत्पन्न होते हैं। बीज के स्फुट होने पर ही अंकुरों की संपदा बढ़ती है। इस अनादि संसार में बीज के समान कर्म हैं। मोह से मूढ़ चित्त वाले व्यक्ति के कर्मों की परम्परा बढ़ती रहती है।

- 
१. भगवती सूत्र (३/१९७) में 'किच्चा' शब्द माया, इंद्रजाल, जादू-टोना के अर्थ में प्रयुक्त है। अथर्ववेद में कृत्या के प्रयोग का विस्तृत वर्णन है। भागवत (९/४/४६) में कृत्या (मायावी शक्ति प्रयोग) से सम्बन्धित कथाएं मिलती हैं। दूसरों पर इसका गलत प्रयोग करने से वह स्वयं उसी के लिए विनाशक बन जाती है।
२. यहां सप्तमी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति का प्रयोग है। (ऋवृ)
३. × (क, स)।
४. अण्णे (स, हे), अप्पे त्ति आत्मनि (ऋवृ पृ १३१)।
५. °भभीरुए (पु)।
६. गच्छंति (पा, हे)।
७. °णिप्पत्ती (अ, आ)
८. छंद की दृष्टि से 'बियं' पाठ होना चाहिए।
९. कहीं कहीं 'संजुज्जमाणम्मि' पाठ भी मिलता है।



६. मूलसेके<sup>१</sup> फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं।  
फलत्थी सिंचती मूलं, फलघाती ण सिंचती ॥ ६ ॥

मूल का सिंचन करने से फल की उत्पत्ति होती है। मूल का घात करने से फल भी नष्ट हो जाता है। फल का इच्छुक व्यक्ति मूल का सिंचन करता है। फल को नष्ट करने वाला व्यक्ति मूल का सिंचन नहीं करता।

७. मोहमूलमणिव्वाणं, संसारे सव्वदेहिणं।  
मोहमूलाणि दुक्खाणि, मोहमूलं च जम्मणं ॥ ७ ॥

संसार में सब प्राणियों के लिए अनिर्वाण—अशांति का मूल मोह है। सभी दुःखों का मूल मोह है तथा जन्म का मूल भी मोह ही है।

८. दुक्खमूलं च संसारे, अण्णाणेण समज्जितं।  
मिगारिच्च सरुप्पत्ती, हणे<sup>३</sup> कम्माणि मूलतो ॥ ८ ॥

प्राणी इस संसार में अज्ञान से अर्जित दुःखमूलक कर्मों को वैसे ही समूल नष्ट कर दे, जिस प्रकार सिंह<sup>३</sup> बाण के उत्पत्ति-स्थल अर्थात् उसके प्रयोक्ता को नष्ट कर देता है।

९. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (वृजिकपुत्र ऋषि) कहता हूँ।

१. मूलस्सेते (अ, आ, पा, ब, हे)।

२. तह (हे)।

३. श्वान और सिंह का यह दृष्टान्त इसी ग्रंथ के पन्द्रहवें अध्ययन में विस्तार से दिया है। (द्र १५/२४, २५)

ततियं देविलज्झयणं

तृतीय अध्ययन : देविल



### ३. ऋषि असित देविल

ऋषिभाषित के तीसरे अध्ययन के ऋषि हैं—असित देविल।<sup>१</sup> सूत्रकृतांग में इनके लिए महापुरुष और तप्ततपोधन विशेषण मिलता है।<sup>२</sup> इसकी चूर्ण में ऋषि का परिव्राजक के रूप में उल्लेख है, जिन्होंने सचित्त जल, बीज और हरियाली का सेवन करते हुए वनवास में सिद्धि प्राप्त की।<sup>३</sup>

सूत्रकृतांग के टीकाकार ने आसिल और देविल को भिन्न-भिन्न ऋषि माना है।<sup>४</sup> पौराणिक संदर्भ कोश के अनुसार असित कश्यप के पुत्र तथा देवल के पिता थे। आदिपर्व तथा मत्स्यपुराण में इनके पिता का नाम प्रत्यूष मिलता है।<sup>५</sup> मुनि पुण्यविजयजी के अनुसार देविल ऋषि का नाम है तथा असित उनका गोत्र होना चाहिए।<sup>६</sup> गहराई से विमर्श करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि असित नाम गोत्र का वाचक नहीं होना चाहिए। उनके नाम के आगे असित विशेषण लगने का एक कारण यह संभव है कि उन्होंने असितगिरि आश्रम में साधना की थी अतः आश्रम के आधार पर उनके नाम के आगे असित विशेषण लग गया हो। आवश्यक चूर्ण में आई देवलासुत की कथा के आधार पर यह बौद्धिक कल्पना की जा सकती है कि एक सफेद बाल आने पर उन्होंने सोचा कि मुझे सफेद बाल आने से पूर्व ही संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए था, इस कारण उनके नाम के आगे असित विशेषण जुड़ गया हो, फिर भी यह तर्क विमर्शनीय है।<sup>७</sup>

ऋषिमण्डल ग्रंथ की टीका में इनके संदर्भ में जो गाथा आती है, वह ऋषिभाषित में वर्णित उपदेश की पूर्णतः संवादी है। वहां कहा गया है कि व्यक्ति को सर्वकाम से विरत होना चाहिए। इस अध्ययन को कहकर देवलासुत राजर्षि सिद्धि गति को प्राप्त हो गए।<sup>८</sup> राजर्षि ने सर्वकामों से विरक्त होने की प्रेरणा क्यों दी, उसकी पृष्ठभूमि जानने के लिए आवश्यक चूर्ण में वर्णित उनके गृहस्थ जीवन के घटना प्रसंग को संक्षेप में जानना आवश्यक है।

१. (सूत्रकृतांग १/३/६३) में आसिल देविल नाम मिलता है। आवश्यक निर्युक्ति गा. में देविलासुत और उसकी चूर्ण में देवलासुत और देविलासुत—ये दोनों नाम मिलते हैं लेकिन यहां असित देविल पाठ होना चाहिए।
२. महाभारत शल्यपर्व में भी इनके लिए 'महातपस्वी' विशेषण का प्रयोग हुआ है। महा शल्य ५०/२३; असितो देवलश्चैव, तस्मिन्नेव महातपाः। परमं योगमास्थाय, ऋषियोगमवाप्तवान् ॥
३. सूचू १ पृ. ९६; एतेसिं पत्तेयबुद्धाणं वणवासे चैव वसंताणं, बीयाणि हरिताणि य भुंजंताणं ज्ञानान्युत्पन्नानि।
४. सूटी १ पृ ६४ ; आसिलो नाम महर्षिस्तथा देविलो।
५. पौराणिक पृ. ६७, महा आदि ६७/२६, मत्स्यपु. २०३/७ पृ. १४८०।
६. सूचू १ पृ ९५ की टिप्पण संख्या ८।
७. आवश्यक निर्युक्ति, उसकी चूर्ण और ऋषिमण्डल में इनके नाम के आगे असित विशेषण नहीं है। महाभारत के शांतिपर्व २८१/१) में असित देवल नाम का प्रयोग हुआ है।
८. ऋषिमं १२५ ; भवियच्चं भो! खलु सव्वकामविरएण एयमज्झयणं। भासित्तु देविलासुतरायरिसी सिवसुहं पत्तो ॥

उज्जयिनी नगरी में देवलासुत नामक राजा राज्य करता था, उसकी पत्नी का नाम लोचना था। राजा अपनी पत्नी पर बहुत अधिक अनुरक्त था। एक दिन राजा के बाल बनाते समय रानी ने सफेद बाल को उखाड़कर कहा—‘धर्मदूत आ गया’। उसे देखकर राजा चिन्तन करने लगा कि मेरे पूर्वज सफेद बाल आने से पूर्व प्रव्रजित हो गए थे लेकिन मैं प्रव्रजित नहीं हो सका। इस घटना से प्रतिबुद्ध होकर राजा देवलासुत अपने पुत्र पद्मरथ को राज्य देकर प्रव्रजित हो गया।<sup>१</sup> रानी ने राजा को अपने गर्भ के बारे में अवगति नहीं दी और राजा के साथ संन्यास ग्रहण कर लिया। गर्भ क्रमशः बढ़ने लगा। अपयश के भय से तापसों ने प्रच्छन्न रूप से रानी की सार-संभाल की। रानी लोचना पुत्री पैदा करते ही दिवंगत हो गई। पुत्री का नाम अर्धसंकाशा रखा गया।

कालान्तर में वह यौवन को प्राप्त हो गई। एक दिन पिता के अटवी से लौटने पर वह उनकी सेवा कर रही थी। पिता उसके यौवन पर आसक्त हो गया। कामासक्त होकर वह उसे पकड़ने के लिए दौड़ा। कुटिया के काष्ठ की ठोकर खाकर वह गिर गया। गिरने पर वह आत्मालोचन करने लगा कि काम में आसक्त होकर मैंने इहलोक और परलोक के फल को नहीं जाना। चिन्तन करते-करते राजर्षि संबुद्ध हो गए। उन्हें अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया। विरक्त होकर उन्होंने अपनी पुत्री को साध्वियों को सौंप दिया और कालान्तर में वे सिद्ध हो गए। अर्धसंकाशा भी सिद्धिगति को प्राप्त हो गई। चूर्णिकार स्पष्ट कहते हैं कि ‘मनुष्यों को सर्वकामों से विरक्त होना चाहिए’ इस विषय पर राजर्षि देवलासुत ने एक अध्ययन कहा।<sup>२</sup>

बौद्ध परम्परा के इंद्रिय जातक में इन्हें नारद का ज्येष्ठ भाई माना है।<sup>३</sup> मज्झिमनिकाय में असित देवल ऋषि का सम्माननीय ऋषि के रूप में उल्लेख मिलता है। ऋषि बनने के बाद उनकी सात ब्राह्मणों के साथ ब्राह्मण वर्ण की श्रेष्ठता पर वाद-विवाद हुआ, ऐसा उल्लेख मिलता है।<sup>४</sup> प्रो. सागरमलजी जैन ने बौद्ध एवं वैदिक परम्परा में असित देवल के अनेक संदर्भों को प्रस्तुत किया है।<sup>५</sup> महाभारत शांतिपर्व में असित देवल को वृद्ध तथा बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कहा है।<sup>६</sup> शल्यपर्व में इनके लिए धर्मनिष्ठ, पवित्र, दान्त, महातपस्वी, अक्रोधी आदि अनेक सम्मानजनक विशेषणों का प्रयोग हुआ है।<sup>७</sup> भागवत में वर्णन मिलता है कि राजा परीजित ने जब अनशन ग्रहण करने का निश्चय किया, तब पराशर, देवल आदि अनेक ऋषि वहां उपस्थित हुए। वेदान्त ब्रह्मसूत्र में शंकराचार्य ने इन्हें धर्मसूत्रकार के रूप में उल्लिखित किया है।<sup>८</sup> शंकराचार्य के उद्धरण से स्पष्ट है कि उनके समक्ष ऋषि देवल का कोई ग्रंथ

१. महाभारत शांतिपर्व (२३६/३-२८) में प्राप्त उल्लेख के अनुसार असित देवल जेगीषव्य के उपदेश से प्रभावित होकर गृहस्थधर्म का त्याग करके संन्यासी बने।

२. आवनि ८९७, आवचू २ पृ. २०२, २०३ आवहाटी २ पृ. १५०, ऋषिमण्डल १२५, टी. प. १३६।

३. जातक, इंद्रियजातक ४२३, भा. ४ पृ. १२३।

४. मज्झिम ४३/२ पृ. ९३०-३३।

५. ऋषि पृ. २९, ३०।

६. महा शांति २८१/२ ; आसीनं देवलं वृद्धं, बुद्ध्वा बुद्धिमतां वरम्।

७. महा शल्य ५१/२-५।

८. वेदान्त ब्रह्मसूत्र १/४/२८ देवलप्रभृतिभिश्च कैश्चिद्धर्मसूत्रकारैः स्वग्रंथेष्वश्रितः।

उपस्थित था। शंकराचार्य के अनुसार देवल ने अपने धर्मसूत्र में सांख्य का प्रतिपादन किया है।<sup>१</sup> याज्ञवल्क्य स्मृति के व्याख्याकार राजा अपरादित्य ने भी “तत्र देवलः” कहकर उनके ग्रंथ का विस्तृत उद्धरण दिया है, जो सांख्य मत से प्रभावित है। आदिपर्व के अनुसार इन्होंने पितरों को पन्द्रह लाख श्लोक वाला महाभारत सुनाया था।<sup>२</sup> महाभारत के शांतिपर्व<sup>३</sup> में असित देवल और नारद का एक साथ उल्लेख मिलता है, जहां उन्होंने नारद के सृष्टि विषयक प्रश्नों का उत्तर दिया था।<sup>४</sup> दोनों परम्पराओं में नारद और असित देवल का एक साथ उल्लेख मिलने से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये दोनों ऋषि तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समकालीन रहे होंगे। सूत्रकृतांग के टीकाकार ने भी इनको त्रेता और द्वापर युग का माना है।<sup>५</sup> इनको समकालीन मानने में एक तर्क उपस्थित होता है कि प्रथम नारद अध्ययन में जहां चातुर्यामि धर्म का वर्णन है, वहां असित देवल ने पांच महाव्रतों का उल्लेख किया है। इस उल्लेख से इन्हें महाभारतकालीन ऋषि मानने में बाधा उपस्थित होती है क्योंकि भगवान् अरिष्टनेमि ही नहीं, पुरुषादानीय पार्श्व तक भी चातुर्यामि की परम्परा चली है लेकिन इस तर्क के आधार पर इन्हें अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। यह भी शोध का विषय है कि उस समय वैदिक साहित्य में पांच यमों/व्रतों का उल्लेख मिलता है अथवा चार का? तीनों परम्पराओं में प्राप्त अनेक संदर्भों को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि ये अपने समय के सम्माननीय और प्रसिद्ध ऋषि रहे होंगे।

इस अध्ययन के प्रारम्भ में ऋषि ने लेप से उपरत रहने की प्रेरणा दी है। टीकाकार ने लेप का अर्थ कर्म अथवा कषाय किया है।<sup>६</sup> लेप से उपरत व्यक्ति ही संसार-सागर को पार करके सिद्धिगति को प्राप्त कर सकता है। आत्मा के ऊपर जितने अधिक लेप लगते जाते हैं, आत्मा उतनी ही भारी होती जाती है। यहां ज्ञाताधर्मकथा में वर्णित तुम्बे का दृष्टान्त तुलनीय है।<sup>७</sup> अंतर इतना ही है कि ज्ञाताधर्मकथा में जहां प्राणातिपात आदि अठारह पापों को लेप रूप में स्वीकृत किया है, वहां ऋषिभाषित में प्राणातिपात आदि पांच आस्रव तथा चार कषायों को लेप के रूप में स्वीकार किया है। आचारांग में भी ‘लेप’ को पाप के रूप में स्वीकार किया है।

लेप से मुक्त होने पर साधक सारी कामनाओं और आसक्तियों से रहित हो जाता है। वह सांसारिक स्नेहों और वर्जनीय कार्यों से उपरत हो जाता है। बाह्य दृष्टि से वह सब प्रकार के वस्त्र आदि के ग्रहण का परित्याग कर देता है। वह पूर्णरूपेण संवृत, उपशान्त और संयमित हो जाता है।

१. लल्लनजी गोपाल ने इस संदर्भ में एक स्वतंत्र लेख लिखा है (Aspects of Jainology Vol II) द्र हिन्दी खंड पृ. ९८-१०४।  
२. महा आदि १/१२३, १२४, महाभारत में उल्लिखित असित देवल के उद्धरणों के लिए देखें महाभारतनामानुक्रमणिका पृ. २९।  
३. महा शांति २८१/२-३८।

४. गीता १०/१३ में भी नारद और असित देवल का एक साथ उल्लेख है।  
५. सूटी १ पृ. ६४ ; पूर्वस्मिन् काले त्रेताद्वापरादौ।  
६. ऋष्वृ पृ. १३१; लेपः कर्म कषायो वा।  
७. ज्ञा १/६/२-४।

ग्रंथकार दृष्टान्त के माध्यम से ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहते हैं कि जैसे दही के संयोग से दुग्धत्व का विनाश होता है अथवा विष डालने से दूध विनाश को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही राग और द्वेष ब्रह्मचर्य का विनाश करने वाले हैं। यहां 'ब्रह्मचर्य' शब्द मैथुन-विरति के रूप में प्रयुक्त न होकर आत्मरमण के अर्थ में होना चाहिए। यह भी संभव है कि पांच महाव्रतों में ब्रह्मचर्य का पालन दुष्कर है अतः ऋषि ने प्रतीक रूप में ब्रह्मचर्य का उल्लेख करके बाकी के चार महाव्रतों का भी इसी में समाहार कर दिया हो।

कषाय लेप में क्रोधविजय दुष्कर है अतः ऋषि उपमा द्वारा समझाते हुए कहते हैं कि दावाग्नि से दग्ध वन के वृक्ष पुनः उग सकते हैं लेकिन क्रोधाग्नि से दग्ध व्यक्ति दुःख से मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार बाह्य अग्नि को जल से बुझाना संभव है लेकिन लोभ रूपी अग्नि को सारे समुद्रों के जल से बुझाना भी संभव नहीं है। यहां ऋषि का मोहशब्द से तात्पर्य लोभ होना चाहिए। आदि और अन्त को ग्रहण किया जाए तो प्रथम कषाय क्रोध तथा अंतिम लोभ है। अंत में ऋषि उद्घोषणा करते हैं जिस व्यक्ति को ये बंधन अथवा लेप परिज्ञात हो जाते हैं, वह बंधनों को छिन्न करके सिद्धिगति को प्राप्त कर लेता है।

### ३. देविलज्झयणं : देविल अध्ययन

१. भवितव्वं खलु भो! सव्वलेवोवरतेणं। लेवोवरतां खलु भो! जीवा अणेगजम्मजोणीभयावत्तं अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चातुरंतं संसारसागरं वीतीकंता सिवमतुलमयलमव्वाबाहमपुणब्भवमपुणरावत्तयं सासतं ठाणमब्भुवगता चिट्ठंति।

साधक को सब लेपों से उपरत होना चाहिए। लेप रहित जीव अनेक जन्म और योनियों से भयंकर आवर्त वाले, अनादि-अनंत दीर्घ पथ वाले चातुरंत संसार-सागर का अतिक्रमण करके शिव, अतुल, अचल, अव्याबाध, अपुनर्भव, अपुनरावृत्त तथा शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लेते हैं।

२. से भवति सव्वकामविरते सव्वसंगातीते सव्वसिणेहऽतिक्कंते सव्ववारियपरिनिव्वुडेऽ सव्वकोहोवरते सव्वमाणोवरते सव्वमायोवरते सव्वलोभोवरते सव्ववासादाणोवरतेऽ सुसव्वसंबुडे सुसव्वसव्वोवरते सुसव्वसव्वोवसंते सुसव्वपरिवुडे, णो कत्थई सज्जति य, तम्हा सव्वलेवोवरते भविस्सामि त्ति कट्टु, असितेणं देविलेणं अरहता इंसिणा बुद्धंति।

लेप रहित होने के कारण वह साधक सब कामों से विरत, सब आसक्तियों से रहित, सब प्रकार के स्नेहों से अतिक्रान्त, सब प्रकार के वर्जनीय कार्यों से उपरत होता है। वह समस्त प्रकार के क्रोध, मान, माया और लोभ से रहित होता है। वह सब प्रकार के वास-वस्त्र को ग्रहण करने से मुक्त होता है। वह पूर्णरूपेण संवृत, पूर्ण रूपेण उपरत, पूर्णरूपेण उपशान्त और पूर्णरूपेण परिवृत-संयमी होता है। वह किसी भी पदार्थ में कहीं भी आसक्त नहीं होता इसलिए मैं भी सब लेपों से उपरत बनूंगा, ऐसा अर्हत् असित देविल ऋषि ने कहा।

१. °वलित्ता (पा, हे), लेप का अर्थ है आत्मा को आवृत करने वाला तत्त्व अथवा आसक्ति। टीकाकार ने 'लेप' का अर्थ कर्म अथवा कषाय किया है। (ऋवृ पृ. १३१; लेपः कर्म कषायो वा।) प्रकाशित पुस्तक तथा अ, पा, ब, स प्रति में 'लेवोवलित्ता' पाठ है। टीकाकार के अनुसार यहां लेपोपलिप्त व्यक्ति अनादि अनंत संसार में भ्रमण करता है, यह पाठ लुप्त हो गया है। सीधा लेवोवरता से पाठ मिलता है। यहां टीकाकार का मंतव्य संगत प्रतीत होता है। (ऋवृ पृ १३१)

२. दूसरे अध्ययन की आठवीं गाथा के उत्तरार्ध से लेकर तीसरे अध्ययन के प्रथम सूत्र के सासतं तक का पाठ आ और ला प्रति में नहीं है।

३. °वीरियप° (पु), °वारिप° (ब)।

४. इस सूत्र में ऋषि ने प्रायः आंतरिक विशेषताओं को उजागर किया है। 'वासादाणोवरते' विशेषण इन विशेषणों से अतिरिक्त प्रतीत होता है। लेप से उपरत होने पर भी साधक वस्त्र आदि का त्याग करे, यह आवश्यक नहीं है। संभव है ऋषि का यहां तात्पर्य जिनकल्प से हो।

५. सज्जती (आ, हे), सज्जई (स)।

६. कुछ प्रतियों में ऋषि का नाम देविल मिलता है लेकिन सूयगडो एवं अ प्रति में 'देविल' पाठ मिलता है। आवश्यकनिर्युक्ति की कथा में 'देविलासुत' पाठ है। यहां ऋषि का नाम देविल तथा असित उनका विशेषण होना चाहिए।



३. सुहुमे व बायरे वा, पाणे जो तु विहिंसती।  
रागदोसाभिभूतप्पा, लिप्पते पावकम्मुणा ॥ १ ॥

जो व्यक्ति राग-द्वेष के वशीभूत होकर सूक्ष्म या बादर प्राणियों की हिंसा करता है, वह पाप कर्मों से लिप्त होता है।

४. जो मुसं भासते किंचि, अप्पं वा जइ वा बहुं।  
अप्पणट्टा परट्टा वा, लिप्पते पावकम्मुणा<sup>१</sup> ॥

जो व्यक्ति अपने लिए या दूसरों के लिए अल्प या बहुत किंचित् भी असत्य बोलता है, वह पापकर्म से लिप्त होता है।

५. अदिन्नं गिणहते जो उ, अप्पं वा जइ वा बहुं।  
अप्पणट्टा परट्टा वा, लिप्पते पावकम्मुणा ॥

जो व्यक्ति अपने लिए या दूसरों के लिए अधिक या अल्प अदत्त ग्रहण करता है, वह पाप कर्म से लिप्त होता है।

६. मेहुणं सेवते जो उ, तेरिच्छं दिव्व-माणुसं।  
रागदोसाभिभूतप्पा, लिप्पते पावकम्मुणा ॥

जो व्यक्ति राग और द्वेष से अभिभूत होकर तिर्यञ्च, दिव्य या मनुष्य सम्बन्धी मैथुन का सेवन करता है, वह पाप कर्म से लिप्त होता है।

७. परिग्गहं गिणहते जो उ, अप्पं वा जइ वा बहुं।  
गेही मुच्छाय दोसेणं, लिप्पते पावकम्मुणा ॥२ ॥

जो व्यक्ति अल्प या बहुत परिग्रह को ग्रहण करता है, वह गृद्धि—आसक्ति और मूढ़ता के दोष के कारण पाप कर्मों से लिप्त होता है।

८. क्रोधं जो उ उदीरेई<sup>२</sup>, अप्पणो वा परस्स वा।  
तं निमित्ताणुबंधेणं, लिप्पते पावकम्मुणा ॥३ ॥

एवं जाव मिच्छादंसणसल्ले

जो व्यक्ति अपने या पराए क्रोध की उदीरणा<sup>३</sup> करता है, वह उस निमित्त के अनुबन्ध से पाप कर्मों से लिप्त होता है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन शल्य पाप तक कहना चाहिए।

१. कुछ प्रतियों में गा. ४ से ७ तक की गाथाएं नहीं मिलती हैं।

२. उदीरे हि (ला, पा, ब, स), उदीरेति (हे)।

३. जो कर्म निश्चित समय से पूर्व प्रयत्न विशेष के द्वारा उदयावलिका में प्रविष्ट कराया जाता है, वह उदीरणा है,

पंचसंग्रह में सहज प्राप्त उदय को संप्राप्ति उदय तथा उदीरणा द्वारा किए गए उदय को असंप्राप्ति उदय कहा है। (पंचसंग्रह २५३ टी.)

१. पाणातिवातो<sup>१</sup> लेवो, लेवो अलियवयणं अदत्तं च ।

मेहुणगमणं लेवो, लेवो परिग्गहं चव ॥ ४ ॥

प्राणातिपात लेप है, असत्यवचन और अदत्त का ग्रहण लेप है। मैथुन का सेवन लेप है तथा परिग्रह लेप है।

१०. कोधो बहुविधो लेवो, लेवो माणो य बहुविधविधीओ ।

माया य बहुविधो लेवो, लोभो वा बहुविधविधीओ ॥ ५ ॥

क्रोध बहुविध लेप है। मान भी अनेक प्रकार से बहुविध लेप है। माया और लोभ भी अनेक प्रकार से बहुविध लेप हैं।

११. तम्हा ते तं विकिञ्चित्ता, पावकम्मपवड्डणं ।

उत्तमद्ववरग्गाही<sup>२</sup>, वीरियत्ताएँ परिव्वए ॥ ६ ॥

इसलिए साधक पाप कर्म बढ़ाने वाली इन प्रवृत्तियों का विवेक करे और परम मोक्ष को प्राप्त कराने वाले पराक्रम (पंडितवीर्य) से युक्त होकर परिव्रजन करे।

१२. खीरे दूसिं<sup>३</sup> जधा पप्प<sup>४</sup>, विणासमुवगच्छति ।

एवं रागो य<sup>५</sup> दोसो य<sup>६</sup>, बंभचेरविणासणा ॥ ७ ॥

जिस प्रकार खटाई को प्राप्त करके दूध विनाश (विकृति) को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही राग और द्वेष—ये दोनों तत्त्व ब्रह्मचर्य (आत्मरमण) का विनाश करने वाले हैं।

१३. जधा खीरं पधाणं तु, मुच्छणा जायते दधिं ।

एवं गेहिप्पदोसेणं<sup>७</sup>, पावकम्मं पवड्डती ॥ ८ ॥

जिस प्रकार दही का जामण देने से दूध दही बन जाता है, वैसे ही आसक्ति और द्वेष से पाप कर्म बढ़ जाते हैं।

१४. रण्णे दवग्गिणा दड्ढा, रोहंते<sup>८</sup> वणपादवा ।

कोहग्गिणा तु दड्ढाणं, 'दुक्खाणं ण णिवत्तती'<sup>९</sup> ॥ ९ ॥

वन में दावाग्नि द्वारा जले हुए वन-वृक्ष पुनः उग जाते हैं लेकिन क्रोधाग्नि से दग्ध व्यक्ति की दुःखों से निवृत्ति नहीं होती।

१. पाणाति<sup>१</sup> (हे) ।

२. उत्तिम<sup>२</sup> (पा) ।

३. दूसि का अर्थ दूध जमाने का जामण (तक्र) भी होता है प्रज्ञाटी प. ३५९ ; दूसिमिति देशीवचनाद् दुष्यमेतत् मथितं तक्रम् । यहां टीकाकार द्वारा किया गया 'विष' अर्थ भी संगत बैठता है क्योंकि अगली गाथा में यही बात है। दूसरी बात जामण से दूध विनाश को प्राप्त नहीं होता बल्कि उसका पर्याय-परिवर्तन होता है। बृभा (५९१५) की टीका में 'दूषणा' का अर्थ अम्लरसता किया है। यह अर्थ यहां संगत बैठता है

क्योंकि अम्लता—खटाई से दूध विनाश को प्राप्त हो जाता है। परस्पर संवादी होने से इनमें एक गाथा निर्युक्ति की संभव है।

४. पप्पा (ब) ।

५, ६. व (आ) ।

७. °सेण (पा) ।

८. रोहंती (आ, ला, पा, ब, स) ।

९. दुक्खी दुक्खा ण णिव्वुती (अ, आ, ला, ब) ।

१५. सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहिं।  
सव्वोदधिजलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ ॥ १० ॥

बाहर की अग्नि को पानी से बुझाना संभव है लेकिन मोह रूपी अग्नि को समस्त समुद्रों के जल से बुझाना भी संभव नहीं है।

१६. 'जस्स एते'<sup>१</sup> परिण्णाता, जाती-मरणबंधणा।  
से छिन्नजातिमरणे<sup>२</sup>, सिद्धिं गच्छति<sup>३</sup> णीरे ॥ ११ ॥

जिस व्यक्ति को जन्म और मरण के ये बंधन परिज्ञात<sup>४</sup> हो जाते हैं, वह जन्म और मरण के बंधनों को तोड़कर कर्मरज से रहित होकर सिद्धिगति को प्राप्त कर लेता है।

१७. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (असित देविल ऋषि) कहता हूँ।

१. जस्सेते (अ, आ, पा)।

२. °जाती° (आ, ला, ब, स)।

३. गच्छंति (स)।

४. परिज्ञात का अर्थ है—ज्ञ परिज्ञा से जानकर प्रत्याख्यान परिज्ञा से प्रत्याख्यान करना।

## चउत्थं अंगरिसिद्धयणं

## चतुर्थं अध्ययन : अंगर्षि



## ४. अंगर्षि

ऋषिभाषित के चौथे अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—अंगर्षि। वैदिक और बौद्ध परम्परा में अंगिरस ऋषि के नाम का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। संभवतः इसी कारण प्रकाशित पुस्तकों में इस अध्याय के ऋषि का नाम अंगिरस कर दिया गया है अन्यथा अंगरिसि की संस्कृत छाया अंगर्षि होनी चाहिए। अथर्ववेद में भारद्वाज ऋषि का उल्लेख है, जो इंद्र के लिए सूक्तों का गान करते हैं<sup>१</sup> लेकिन यहां इनके नाम के आगे प्रयुक्त भारद्वाज शब्द गोत्र का निर्देश करने वाला होना चाहिए।

डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार छांदोग्य उपनिषद्<sup>२</sup> और सुत्तनिपात में वर्णित अंगिरस तथा ऋषिभाषित, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यक चूर्ण के ऋषि एक ही व्यक्ति हैं। जिनके कथानक को तीनों परम्पराओं ने अपने-अपने ढंग से प्रस्तुत किया है।<sup>३</sup> थेरगाथा में अंगिरस मुनि की प्रशस्ति में लिखा गया है कि जैसे मेघ रहित आकाश में चन्द्रमा सूर्य की भांति प्रकाशित होता है, वैसे ही अंगिरस महामुनि अपने यश से सारे संसार को प्रकाशित कर रहे हैं।<sup>४</sup> वैदिक परम्परा में भगवान् अरिष्टनेमि के लिए अंगिरस शब्द का प्रयोग हुआ है।

अंगिरस और अंगर्षि के बारे में गहराई से चिन्तन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों भिन्न-भिन्न ऋषि होने चाहिए। फिर भी यह शोध का विषय है कि इन दोनों को एक ही माना जाए या भिन्न? थेरगाथा अट्टकहा<sup>५</sup> तथा सुत्तनिपात में अंगिरस भारद्वाज के जीवन तथा उपदेशों का वर्णन है लेकिन इनके साथ ऋषिभाषित के अंगर्षि की तुलना करना कठिन है। आवश्यक चूर्ण के प्रथम भाग में अंगर्षि का उल्लेख मिलता है।<sup>६</sup> इसी चूर्ण के दूसरे भाग में बत्तीस योग संग्रह के अन्तर्गत आर्जव संग्रह में इनका जीवन-प्रसंग मिलता है। ये दोनों उल्लेख ऋषिभाषित के ऋषि से सम्बन्धित ही होने चाहिए।

चंपा नगरी के कौशिकार्य नामक उपाध्याय के दो शिष्य थे—अंगर्षि और रुद्रक। अंगक स्वभाव से भद्र और विनीत था अतः उसका नाम अंगर्षि कर दिया गया। रुद्रक मायावी और दुष्ट स्वभाव का था। एक दिन दोनों उपाध्याय के लिए लकड़ी लाने जंगल में गए। अंगर्षि अटवी में लकड़ी काटने चला गया लेकिन रुद्रक दिन भर क्रीड़ा करता रहा। विकाल में याद आने पर वह लकड़ी लाने गया। उसने सामने से आते हुए अंगर्षि को लकड़ी का भार लाते हुए देखा। रुद्रक ने सोचा—‘आज उपाध्याय रुष्ट होकर मुझे निष्कासित कर देंगे। उसी समय योगयशा नामक महिला अपने पुत्र पंथक को आहार देकर लकड़ी का भार लेकर आ रही थी। रुद्रक ने उसे मारकर खड्डे में

१. अथर्व २/१२/२।

२. छांदो १/२/१०।

३. ऋषि पृ. ३२।

४. थेरगाथा २१/१२६१ पृ. २२६;

चन्दो यथा विगतबलाहके नभे, विरोचति वीतमलो व भाणुमा।

एवं पि अङ्गीरस त्वं महामुनि, अतिरोचसि यससा सब्बलोकं॥

५. थेरगाथा ३/२१९ पृ. ६३, सुत्तनिअट्ट १/७, पृ. १३९।

६. आवचू १ पृ. ४६०; उवसमे जहा अंगरिसिस्स।

डाल दिया और लकड़ी का भार लेकर अन्य मार्ग से उपाध्याय के पास पहले पहुंच गया। उसने उपाध्याय से कहा कि आपके भद्र शिष्य ने योग्यशा को मार दिया है। जब अंगर्षि उपाध्याय के पास आया तो गुरु ने उसे कठोर स्वरो में उपालम्भ दिया। उसने उस उपालम्भ को सम्यक् रूप से ग्रहण किया। शुभ अध्यवसाय से उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। केवलज्ञान उत्पन्न होने पर देवता महोत्सव करने आए। सन्निहित देवताओं ने कहा—‘रुद्रक ने असत्य बोला है। यथार्थ का ज्ञान होने पर लोगों ने रुद्रक की भर्त्सना की। रुद्रक ने चिंतन किया कि सचमुच मैंने असत्य बोला है। आत्मचिंतन करते हुए वह भी संबुद्ध होकर प्रत्येकबुद्ध बन गया। इधर उपाध्याय और उनकी पत्नी भी दीक्षित हो गए। उन्हें भी कैवल्य उत्पन्न हो गया।’

अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि इस बात से करते हैं कि परिग्रह की रक्षा करने वाला व्यक्ति येन-केन प्रकारेण गलत कार्य करके भी उसकी रक्षा करता है और उसके कारण दीर्घ संसार में भ्रमण करता रहता है। सूयगडो में भी इसी तथ्य का उद्घाटन हुआ है कि परिग्रही व्यक्ति हिंसा करते हुए अपने वैर को बढ़ाता रहता है, वह कभी दुःखमुक्त नहीं हो सकता।<sup>१</sup>

ऋषि ने मायावी व्यक्तियों की मानसिकता का चित्रण किया है कि भित्तिचित्र और काष्ठ पर उकेरी हुई आकृतियों को समझना सरल है लेकिन मायावी के गूढ़ हृदय को समझना अत्यन्त कठिन है क्योंकि उसके मन, वचन और काया में एकरूपता नहीं होती। कुटिल व्यक्तियों का हृदय तृण, स्थाणु, बांस के झुरमुट, लता एवं वल्लि की भांति टेढा होता है। उत्तराध्ययन निर्युक्ति में कुटिलता के लिए कर्मर्दी (एक प्रकार का गुल्म) का काष्ठ, हाथी का अंकुश और वृन्त की उपमा दी गई है।<sup>२</sup>

गूढ़ और मायावी व्यक्ति आत्महित को नहीं जानते हुए सदैव अपने दोषों को छिपाता रहता है। ऋषि का स्पष्ट मतव्य है कि वही शाश्वत ज्ञान है, जिससे व्यक्ति अपने अच्छे-बुरे कार्यों की समीक्षा कर सके। ऋजु व्यक्ति चाहे एकान्त में पाप करे या समूह में, वह उसकी आत्मालोचना करके पाप कर्मों से निवृत्त हो जाता है।

ऋषि ने परिग्रही व्यक्ति की मनोदशा का चित्रण करते हुए कहा है कि वह भोग की प्राप्ति और उसकी रक्षा के चिन्तन में ही लगा रहता है। इसके अतिरिक्त वह कुछ भी नहीं सोचता है। व्यक्ति स्वयं ही अपने शुभ या अशुभ कर्मों का ज्ञाता होता है। दूसरा व्यक्ति उसकी सही समीक्षा नहीं कर सकता। छद्मस्थ व्यक्ति कल्याणकारी मनुष्य को पापकारी तथा पापकारी को कल्याणकारी बता सकता है। वह चोर की प्रशंसा और साधु की निंदा कर

१. आवनि ८८२, आवचू २ पृ. १९३, आवहाटी २ पृ. १४३,  
ऋषिमण्डल १२४ टी. प. १३५, १३६।

२. सू. १/१/३।

३. उनि ४८६ ;

सुचिरं पि वंकुडाई, होहिंति अणुज्जइज्जमाणाई।  
कर्मदिदारुगाई, गर्यकुसाई च बेंटाई॥

सकता है लेकिन लोगों के कहने मात्र से चोर साहूकार और असाधु साधु नहीं हो सकता। व्यावहारिक जीवन में तटस्थ रहने का श्रेष्ठ उपाय है—अपने स्वभाव में रमण। दूसरे के द्वारा की गई प्रशंसा और निंदा में सम रहना। ऋषि प्रकृति के माध्यम से प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि संसार में विष, अमृत, सूर्य, चन्द्र आदि अपने-अपने स्वभाव में स्थित हैं, ये अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते तो मैं अपने स्वभाव को क्यों छोड़ूं? गीता में भी इसी तथ्य को दृढ़ता के साथ प्रस्तुत किया गया है कि अपने आत्मस्वभाव के धर्म में निधन श्रेयस्कर है, कषाय आदि परधर्म भयावह हैं।<sup>१</sup>

जैन आगमों में 'भावियप्पा' (भावितात्मा) शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>२</sup> इस अध्ययन में ऋषि ने स्वयं को भावित करने के मनोवैज्ञानिक सूत्र प्रस्तुत किए हैं। अंगर्षि दूसरों को उपदेश न देकर स्वयं को भावित करते हुए कहते हैं—'यदि मुझ असाधु को साधु मानकर कोई मेरी प्रशंसा करता है तो वह भाषा मेरी असमाहित आत्मा को त्राण नहीं दे सकती। यदि मैं शान्त, पवित्र और साधु हूं फिर भी कोई मेरी निंदा करता है तो मेरी सुसमाहित आत्मा को वह भाषा आक्रुष्ट नहीं कर सकती। अज्ञानी व्यक्ति की प्रशंसा और क्रोधी व्यक्ति की निंदा उल्लू की प्रशंसा और काक की निंदा के समान है, वह संसार में पग-पग पर प्राप्त होती रहती है। उसमें उलझने वाला व्यक्ति कभी विकास नहीं कर सकता। ऋषि स्वयं को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि लोगों की जो इच्छा हो, वह मेरे बारे में बोलें, मैं उनकी वाणी के आधार पर क्रोध करके अपनी आत्मा का अहित क्यों करूं? ऋषि अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं कि इस प्रशस्त चिन्तन के द्वारा मैं प्रतिक्षण मध्यस्थ रहता हूं और किसी के आक्रुष्ट होने पर क्रोध नहीं करता। सम रहने के लिए भारतीय ऋषियों ने यह चिंतन प्रस्तुत किया है कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति सत्य कह रहा है तो मैं क्रोध क्यों करूं, स्वयं को सुधारूं। यदि कोई असत्य कह रहा है तो फिर क्रोध की आवश्यकता ही नहीं है।

निष्कर्ष की भाषा में ऋषि कहते हैं कि जैसे रथ का पहिया तैल को प्राप्त करके गतिमान हो जाता है, वैसे ही शीलवान् और सुसमाहित साधक ज्ञान-दर्शन रूपी सारथी युक्त रथ पर आरूढ़ होकर अपनी आत्मा को उन्नति के पथ पर ले जा सकता है।

१. गीता ३/३५ ; स्वधर्म निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः।

२. प्रज्ञा १५/४३।



## ४. अंगरिसिञ्जयणं : अंगर्षि अध्ययन

आयाणरक्खी पुरिसे, परं किंचि ण जाणती<sup>१</sup> ।

आदान<sup>२</sup>—परिग्रह की रक्षा करने वाला व्यक्ति दूसरी कोई बात नहीं जानता ।

१. असाहुकम्मकारी खलु अयं पुरिसे पुणरवि पावेहिं कम्मेहिं चोदिज्जती णिच्चं संसारम्मि<sup>३</sup>,  
अंगरिसिणा भारद्वाएणं अरहता इसिणा बुद्धतं ।

अनुचित कार्य करने वाला यह पुरुष बार-बार पाप कर्मों से प्रेरित होकर नित्य संसार में भ्रमण करता है, भारद्वाज गोत्रीय अर्हत् अंगर्षि ने ऐसा कहा है ।

२. 'णो संवसितुं'<sup>४</sup> सक्कं<sup>५</sup>, सीलं जाणित्तु माणवा ।

परमं खलु पडिच्छन्ना, मायाए दुट्टमाणसा ॥१॥

दुष्ट मानसिकता वाले व्यक्ति माया से बहुत अधिक घिरे रहते हैं । उनके स्वभाव को जानने के बाद किसी भी पुरुष का उनके साथ रहना संभव नहीं होता ।

३. णियदोसे णिगूहंते, चिरं पि<sup>६</sup> णोवदंसए ।

किह मं कोवि<sup>७</sup> ण जाणे, जाणं<sup>८</sup> णत्तहियं<sup>९</sup> सयं ॥२॥

मायावी व्यक्ति अपने दोषों को छिपाते हुए चिरकाल तक उन्हें प्रकट नहीं होने देता । वह अपने आत्महित को नहीं जानते हुए ऐसा सोचता है कि कोई भी किसी भी प्रकार से मेरे दोषों को न जाने ।

४. जेण जाणामि अप्पाणं, आवी वा जइ वा रहे ।

अज्जयारिं अणज्जं वा, तं णाणं अयलं धुवं ॥३॥

जिस ज्ञान के द्वारा मैं प्रकट में या एकान्त में स्वयं के आर्य-अनार्य (अच्छे-बुरे) कर्मों को जानता हूँ, वही ज्ञान अचल है, ध्रुव है ।

१. अध्ययन का प्रारंभ अनुष्टुप् छंद के दो चरणों से हुआ है । ये दोनों चरण इसी अध्ययन की सातवीं गाथा में पुनरुक्त हुए हैं । संभव लगता है कि लिपिकारों की असावधानी या किसी अन्य कारण से ये चरण अध्ययन के प्रारंभ में भी लिख दिए गए हैं । यहां ये दोनों चरण असंगत से प्रतीत होते हैं क्योंकि ऋषि असाधु कर्म करने वाले व्यक्तियों से अध्ययन का प्रारंभ करता है और फिर मायावी और परिग्रही आदि व्यक्तियों की स्थिति का चित्रण करता है । हमने इसको मूल क्रमांक में नहीं रखा है । सभी हस्तप्रतियों में ये चरण इसी क्रम में मिलते हैं ।

२. टीकाकार ने 'आदान' का अर्थ कर्मोपादान किया है लेकिन

यहां 'आदान' का अर्थ परिग्रह होना चाहिए । (ऋवृ पृ. १३२; आदानं कर्मोपादानम्)

३. सोमपीति (पा) ।

४. ण संवसता (पा, ब, हे) ।

५. सक्का (पु, ला) ।

६. पी (अ, ब, स) ।

७. कोयि (आ, ला), कोइ (अ, हे) ।

८. ज्जाणे (ला, स) यहां 'जाणं' पाठ शतृ प्रत्यय का रूप होना चाहिए ।

९. णत्थहियं (स) ।

५. सुयाणि<sup>१</sup> भित्तिं चित्तं, कट्टे वा सुणिवेसितं ।  
मणुस्सहिदयं पुणिणं, गहणं दुव्वियाणकं ॥४॥

भित्ति पर चित्र तथा काष्ठ पर कुरेदी हुई सुंदर आकृतियों को समझना सरल है लेकिन मानव का हृदय गूढ़ है, उसे समझना अत्यन्त कठिन है ।

६. अण्णहा स मणे होति, अण्णं कुणति कम्मणा ।  
अण्णमण्णाणि भासंतो, मणुस्सगहणे हु से ॥५॥

जो व्यक्ति मन से अन्यथा सोचता है, कर्म से अन्यथा करता है तथा वचन से अन्यथा बोलता है, वह मनुष्य गहन—मायावी होता है । (मायावी व्यक्ति के मन, वाणी और क्रिया में एकरूपता नहीं होती ।)

७. तण्खाणु-कंटक-लता-घणाणि वल्लीघणाणि गहणाणि ।  
सढ-णियडिसंकुलाइं<sup>२</sup>, मणुस्सहिदयाइं गहणाणि<sup>३</sup> ॥६॥

जैसे तृण, स्थाणु, कंटक—बांस के झुरमुट, लताएं, वल्लियां और गहन—वृक्षाच्छन्न प्रदेश—ये सब गहन होते हैं, वैसे ही शठता और माया से संकुल मनुष्यों के हृदय भी गहन होते हैं ।

८. भुंजित्तुच्चावए भोए, संकप्पे कडमाणसे ।  
आदाणरक्खी पुरिसे, परं किंचि ण जाणति ॥७॥

परिग्रह की रक्षा करने वाला पुरुष अच्छे या बुरे भोगों को भोगकर पुनः उन भोगों को प्राप्त करने का मानसिक संकल्प करता रहता है, इसके अतिरिक्त वह और कुछ भी नहीं जानता ।

९. अदुवा परिसामज्झे, अदुवा वि रहे कडं ।  
ततो णिरिक्ख<sup>४</sup> अप्पाणं, पावकम्मा णिरुंभति ॥८॥

साधक व्यक्ति परिषद् के मध्य या एकान्त में किए गए अपने कार्यों का आत्मनिरीक्षण करके पाप कर्मों का निरोध कर देता है ।

१०. दुप्पचिण्णं सपेहाए, अणायारं च अप्पणो ।  
अणुवट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा परितप्पती ॥९॥

जो व्यक्ति अपने दुश्चीर्ण कर्म और अनाचार को देखता हुआ भी धर्म में सदा अनुपस्थित रहता है, वह जीवन के अंत समय में पश्चात्ताप करता है ।

११. सुप्पचिण्णं<sup>५</sup> सपेहाए, आयारं वावि अप्पणो ।  
सुपत्तिट्ठितो<sup>६</sup> सदा धम्मे, सो पच्छा तु ण तप्पती<sup>७</sup> ॥१०॥

जो व्यक्ति अपने सुचीर्ण कर्म और उत्तम आचार की समीक्षा करके धर्म में सदा सुप्रतिष्ठित रहता है, वह जीवन के अंत समय में पश्चात्ताप नहीं करता ।

१. सुहाणि (आ), सुयाणि त्ति स्थाने सुज्ञातं (ऋवृ पृ. १३२) ।

२. \*संकुलाई (अ)

३. घणाणि (अ, आ, ला, ब) ।

४. णिरिण (पा) ।

५. सुप्पइण्णं (पा, हे) ।

६. छंद की दृष्टि से यहां 'पत्तिट्ठितो' अथवा 'सुपट्ठितो' पाठ होना चाहिए ।

७. तिप्पती (आ) ।

१२. पुव्वरत्तावरत्तम्मि, संकप्पेण बहुं कडं।  
सुकडं<sup>१</sup> दुक्कडं वावि, कत्तारमणुगच्छति<sup>२</sup> ॥११॥

पूर्वरात्र और अपररात्र में यह आत्मालोचन करना चाहिए कि सुकृत और दुष्कृत कर्म कर्ता का अनुगमन करते हैं। मैंने भी संकल्पपूर्वक बहुत कर्म किए हैं।

१३. सुकडं दुक्कडं वावि, अप्पणो यावि जाणति।  
ण य णं अण्णो विजाणाति, सुकडं णेव दुक्कडं ॥१२॥

व्यक्ति स्वयं ही अपने सुकृत और दुष्कृत कर्मों को जानता है। दूसरा व्यक्ति दूसरे के सुकृत या दुष्कृत को नहीं जान सकता।

१४. णरं कल्लाणकारिं पि, पावकारि त्ति बाहिरा।  
'पावकारिं पि ते'<sup>३</sup> बूया, सीलमंतो त्ति बाहिरा ॥१३॥

१५. चोरं पि ता पसंसंति, मुणी वि गरिहिज्जती।  
'ण से इत्तावताऽचोरे'<sup>४</sup>, ण से इत्तावताऽमुणी ॥१४॥

बाह्य दृष्टि वाले व्यक्ति कल्याणकारी मनुष्य को भी पापकारी बतलाते हैं तथा पापकारी मनुष्य को भी शीलवान् बतलाते हैं। वे चोर की भी प्रशंसा करते हैं और मुनि की भी गर्हा—निंदा करते हैं। इतने मात्र से चोर साहूकार और मुनि अमुनि नहीं हो जाता।

१६. गण्णस्स वयणाऽचोरे, गण्णस्स वयणा मुणी।  
अप्पं अप्पा वियाणाति, जे वा उत्तमणाणिणो ॥१५॥

किसी दूसरे के कथन मात्र से चोर साहूकार नहीं होता और असाधु साधु नहीं होता। व्यक्ति स्वयं अपने आपको अच्छी तरह जानता है अथवा जो उत्तमज्ञानी हैं, वे जान सकते हैं।

१७. जइ मे परो पसंसात्ति, असाधुं साधु माणिया।  
ण मे सा तायए भासा, अप्पाणं असमाहितं ॥१६॥

यदि मुझ असाधु को साधु मानकर कोई दूसरा व्यक्ति मेरी प्रशंसा करता है तो वह भाषा मेरी असमाहित आत्मा को त्राण नहीं दे सकती।

१८. जइ मे परो विगरहात्ति<sup>५</sup>, साधुं संतं णिरंगणं।  
ण मे 'सा कोसए'<sup>६</sup> भासा, अप्पाणं सुसमाहितं ॥१७॥

यदि मैं साधु हूँ, शान्त, पवित्र और लेप रहित हूँ फिर भी कोई दूसरा व्यक्ति मेरी गर्हा करता है तो मेरी सुसमाहित आत्मा को उसकी भाषा आक्रुष्ट नहीं कर सकती।

१. सुक्कडं (ब)।

२. °च्छई (ब, स, हे)।

३. °कारिंति णं (पु), पावं पि ते णरे (पा)।

४. ण से हु ताव ते चोरे (ब)।

५. व गर° (ब, पा)।

६. सऽक्को° (पु)।

१९. जं उलूका पसंसंति, जं वा णिंदंति वायसा ।

णिंदा वा सा पसंसा वा, वायुजाले<sup>१</sup> व्व गच्छती ॥१८ ॥

उल्लू जिसकी प्रशंसा करते हैं या काक जिसकी निंदा करते हैं, वह प्रशंसा अथवा निंदा—दोनों ही वायुजाल (तेज हवा) की भांति उड़ जाती है।

२०. जं च बाला पसंसंति, जं वा णिंदंति कोविया<sup>२</sup> ।

णिंदा वा सा पसंसा वा, पप्पा ति कुरुए जगे ॥१९ ॥

अज्ञानी व्यक्ति जिसकी प्रशंसा करते हैं अथवा कुपित व्यक्ति जिसकी निंदा करते हैं, वह निंदा अथवा प्रशंसा इस मायावी जगत् में प्राप्त होती रहती है।

२१. जो जत्थ विज्जती<sup>३</sup> भावो, जो वा जत्थ ण विज्जती ।

सो सभावेण सव्वो वि, लोकम्मि तु पवत्तती ॥२० ॥

जो पदार्थ जहां विद्यमान है अथवा जो जहां विद्यमान नहीं है, वह सब इस लोक में स्वाभाविक रूप से प्रवर्तित होता है।

२२. विसं वा अमत्तं वावि, सभावेण उवट्ठितं ।

चंद-सूरा मणी जोती, तमो अग्गी दिवं खिती ॥२१ ॥

इस संसार में विष या अमृत सब स्वाभाविक रूप से विद्यमान हैं। इसी प्रकार चंद्र, सूर्य, मणि, ज्योति, अंधकार, अग्नि, स्वर्ग और पृथ्वी का स्वाभाविक अस्तित्व है।

२३. वदतु<sup>४</sup> जणे जं से इच्छितं, किं णु कलेमि उदिण्णमप्पणो ।

भावेत<sup>५</sup> मम णत्थि एलिसे, इति संखाय ण संजलामहं<sup>६</sup> ॥ २२ ॥

लोगों की जो इच्छा हो, वह मेरे बारे में बोलें। मैं अपने आपमें क्रोध की उदीरणा क्यों करूं? स्वयं को भावित करूं कि यह मेरा स्वभाव नहीं है, यह जानकर मैं उन लोगों पर तनिक भी क्रोध नहीं करता।

१. वायूजा<sup>१</sup> (स, पा) ।

२. प्रकाशित पुस्तक तथा अ, ब और हे प्रति में कोविदा पाठ है लेकिन यहां कुपित अर्थ में 'कोविया' पाठ होना चाहिए क्योंकि ऊपर १८ वीं गाथा में उल्लू और वायस का प्रयोग है, वैसे ही नीचे की गाथा में उल्लू अज्ञानी का तथा वायस कुपित का वाचक होना चाहिए।

३. विज्जति (आ) ।

४. वंदतु (ब), वदंतु (अ, ला, मु) ।

५. भावित (मु) ।

६. यह गाथा प्रसंग के अनुसार विषय से सम्बद्ध है लेकिन भाषा की दृष्टि से पैशाची भाषा का प्रभाव है। टीकाकार ने भाषा के आधार पर इस गाथा को अन्यकर्तृकी मानते हुए कहा है— 'इदं तु लश्रुतिगर्भं वैतालीयमन्यस्य कस्यचित् कवेः कृतिरिव दृश्यते' (ऋवृ पृ. १३२)। विषय से संबद्ध होने के कारण हमने इसको मूल पाठ के अन्तर्गत रखा है।

२४. अक्खोवज्जणमादाय, सीलवं सुसमाहिते ।

अप्पणा चेवमप्पाणं, चोदितो वहते रहं ॥२३॥

जैसे रथ का पहिया स्नेह को प्राप्त करके रथ को गतिमान् करता रहता है, वैसे ही शीलवान् और सुसमाहित मुनि स्वयं द्वारा स्वयं को प्रेरित करता हुआ आगे बढ़ता रहता है ।

२५. सीलक्खरहमारूढो, णाणदंसणसारही ।

अप्पणा चेव अप्पाणं, चोदित्ता<sup>१</sup> सुभमेधती<sup>२</sup> ॥२४॥

ज्ञान और दर्शन रूपी सारथी तथा शील रूपी चक्र से युक्त रथ पर आरूढ़ होकर साधक स्वयं के द्वारा स्वयं प्रेरित होकर शुभ और कल्याणकारी स्थिति को वृद्धिंगत करता है ।

२६. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् भारद्वाज गोत्रीय अंगर्षि) कहता हूँ ।

१. जे दित्ता (पा), जइत्ता (हे) ।

पच्चीसवीं गाथा इस ग्रंथ की निर्युक्ति की गाथा हो ।

२. गा. २४ और २५ में विषय की पुनरुक्ति है। संभव है यह

पंचमं पुष्कसालपुत्तज्झयणं

पंचम अध्ययन : पुष्पशालपुत्र



## ५. ऋषि पुष्पशालपुत्र

पांचवें अध्ययन के उपदेष्टा ऋषि हैं—पुष्पशालपुत्र। पुष्पशालपुत्र का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति एवं उसकी चूर्णि में मिलता है। चूर्णि में विस्तार से इनके जीवन का घटना प्रसंग मिलता है। वहां विनय के द्वारा बोधि या सामायिक-प्राप्ति के प्रसंग में इनका उल्लेख हुआ है। ये मगध जनपद में गोब्वरग्राम के वासी थे। इनके पिता का नाम पुष्पशाल तथा मां का नाम भद्रा था। पिता के नाम पर इनका नाम पुष्पशालपुत्र हो गया। एक दिन उसने माता-पिता से पूछा कि धर्म क्या है? उन्होंने कहा—“माता-पिता के प्रति विनय रखना और उनकी सेवा करना ही धर्म है।” इस बात से प्रेरित होकर वह प्रतिदिन देवता की भांति माता-पिता की सेवा करने लगा। एक दिन ग्रामभोजिक उसके घर आया। माता-पिता ने उसका आतिथ्य किया। बालक ने सोचा—“ये माता-पिता से भी अधिक पूज्य हैं क्योंकि ये इनको सम्मान दे रहे हैं। यह सोचकर उसने ग्रामभोजिक की सेवा प्रारम्भ कर दी। इस प्रकार भोजिक आदि की शुश्रूषा करते-करते वह क्रमशः श्रेणिक की शुश्रूषा करने लगा।

एक बार भगवान् महावीर राजगृह में समवसृत हुए। राजा श्रेणिक अंतःपुर की ऋद्धि के साथ भगवान् को वंदना करने आया। श्रेणिक की विनय-भक्ति देखकर उसने भगवान् से कहा—‘मैं आपकी शुश्रूषा करूंगा क्योंकि आप श्रेणिक के भी पूज्य हैं।’ भगवान् ने कहा—‘मैं प्रवचन माता के प्रति प्रणत हूँ।’, यह सुनकर पुष्पशालपुत्र संबुद्ध हो गया। इस प्रकार विनय करते हुए उसे बोधि प्राप्त हो गई।<sup>१</sup>

आवश्यक चूर्णि में एक और पुष्पशाल का उल्लेख मिलता है<sup>२</sup> लेकिन उसके नाम के आगे पुत्र का उल्लेख नहीं है तथा वह कथा सामान्य राग-द्वेष युक्त गायक से सम्बन्धित है, जिसका ऋषि के साथ कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

बौद्ध साहित्य में पुष्पशाल नाम से किसी स्थविर का उल्लेख नहीं मिलता है। धेरगाथा में फुस्स स्थविर का अनुभव संकलित है लेकिन वे पुष्पशाल ऋषि के संवादी प्रतीत नहीं होते क्योंकि उन्होंने पण्डरभिक्षु द्वारा पूछे गए प्रश्न में भविष्य में होने वाले साधुओं की स्थिति का चित्रण किया है। वैदिक परम्परा में इस नाम के ऋषि का कोई नामोल्लेख नहीं मिलता है।

ऐसा संभव लगता है कि आवश्यक निर्युक्ति में निर्दिष्ट पुष्पशालपुत्र ही ऋषिभाषित के पांचवें ऋषि होने चाहिए। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि ऋषि का गार्हस्थ्य जीवन विनयप्रधान था और अध्ययन का प्रारम्भ भी इन्होंने इसी उपदेश से किया है कि साधक मान को छोड़कर स्वयं को विनय में स्थापित करे।

१. आवनि ५४७, आवचू १ पृ. ४६९, हाटी १ पृ. २३७, मटी ५ ४६५, ४६६।

२. आवचू १ पृ. ५२९।



दूसरे सूत्र में ऋषि अपने अंतिम समय के बारे में बताते हुए कहते हैं कि अंजलिबद्ध होकर पृथ्वी पर सिर रखकर उन्होंने भोजन, पानी तथा सभी शयन-आसनों का त्याग कर दिया। इस उल्लेख से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उन्होंने अंतिम समय में जैनधर्म सम्मत पंडित-मरण स्वीकार किया होगा।

भारतीय संस्कृति में अपने से बड़ों को प्रणाम या नमस्कार करने का विधान है। ऋषि का मंतव्य है कि नमस्कार करने वाले के पास शांति स्वयं आकर निवास करती है। उत्तराध्ययन सूत्र में भगवान् ने वंदना करने के लाभों का वर्णन करते हुए कहा है कि इससे नीच गोत्र कर्म का क्षय तथा उच्चगोत्र कर्म का बंधन होता है। वंदना से अप्रतिहत सौभाग्य तथा लोगों की अनुकूल भावना प्राप्त होती है।<sup>१</sup>

इस अध्ययन में ऋषि ने प्राणातिपात आदि पांच आस्रवों के त्याग की प्रेरणा दी है। तीसरी गाथा में ऋषि ने क्रोध और मान का प्रहीण कर्ता तथा पांचवीं गाथा में इनके परिज्ञाता का उल्लेख किया है। ऋषि ने प्रहाण और फिर परिज्ञा का उल्लेख क्यों किया, यह विमर्श का विषय है, जबकि पहले परिज्ञा और फिर प्रहाण का उल्लेख होना चाहिए था। ऋषि के अनुसार क्रोध और मान के परिज्ञाता की आत्मा पर्यवों को जान लेती है। यहां पर्यव जानने का अर्थ विशेष अतिशायी ज्ञान से सम्बन्धित होना चाहिए।

अंतिम गाथा में ऋषि ने विषय से हटकर 'कुणिम' का सेवन करने का निषेध किया है। कुणिम का प्रसिद्ध अर्थ मांस होता है लेकिन यहां 'कुणिम' शब्द विमर्शनीय है। गाथा के चार चरणों में तीसरा चरण विषय से असंगत भी प्रतीत होता है। जब सूत्रकृतांग<sup>२</sup> में 'कुणिम' शब्द का अर्थ देखा तो लगा कि यहां ऋषि ने सही शब्द का प्रयोग किया है। यहां कुणिम का अर्थ मांस नहीं अपितु अपवित्र स्थान होना चाहिए। समाधि के इच्छुक व्यक्ति को अपवित्र स्थानों का सेवन नहीं करना चाहिए, यह अर्थ यहां संगत प्रतीत होता है फिर भी इस शब्द की अर्थयात्रा में और भी अधिक चिन्तन की आवश्यकता है।

१. उ २९/११।

२. सू १/५/२७, टिप्पण सं. ६१ पृ. १७०।

## ५. पुष्पशालपुत्रज्झयणं : पुष्पशालपुत्र अध्ययन

१. माणं<sup>१</sup> पच्चोतरित्ताणं विणए अप्पाणुवदंसए, पुष्पशालपुत्तेण अरहता इसिणा बुद्धं।  
साधक मान को पार कर स्वयं को विनय में स्थापित करे, ऐसा अर्हत् पुष्पशालपुत्र ऋषि ने कहा।

२. पुढविं आगम्म सिरसा, थले किच्चाण अंजलिं।

पाण-भोयण से चिच्चा, सव्वं च<sup>२</sup> सयणासणं ॥१॥

(अर्हत् पुष्पशालपुत्र ने) पृथ्वी पर सिर रखकर स्थल पर अंजलिबद्ध होकर भोजन-पानी और सभी शयन-आसनों का त्याग कर दिया।

३. णमंसमाणस्स सदा, संती<sup>३</sup> आगम्म वट्ठी।

क्रोध-माणप्पहीणस्स, आता जाणति पज्जवे ॥ २ ॥

नमस्कार करने वाले के पास शांति आकर निवास करती है। क्रोध और मान से रहित व्यक्ति की आत्मा पर्यवों को जान लेती है।

४. ण पाणे अतिवातेज्जा, अलियादिण्णं च वज्जए।

‘मेहुणं च ण’<sup>४</sup> सेवेज्जा, भवेज्जा अपरिग्गहे<sup>५</sup> ॥ ३ ॥

साधक प्राणियों की हिंसा न करे, असत्य-भाषण और अदत्त के ग्रहण का वर्जन करे, मैथुन का सेवन न करे तथा अपरिग्रही बनकर रहे।

५. क्रोध-माण-परिण्णस्स, आता जाणति पज्जवे।

कुणिमं<sup>६</sup> च ण सेवेज्जा, समाधिमभिदंसए<sup>७</sup> ॥ ४ ॥

क्रोध और मान के परिज्ञाता साधक की आत्मा पर्यवों को जान लेती है। समाधि का दर्शन करने वाला साधक कुणिम—अपवित्र स्थानों<sup>८</sup> का सेवन न करे।

६. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् पुष्पशालपुत्र ऋषि) कहता हूँ।

१. माणा (पु, ब), मणो (पा)।

२. व (ला)।

३. संति (आ)।

४. ण मेहुणं च (पु)।

५. हे प्रति में यह गाथा नहीं है।

६. कुणमं (पा)।

७. °मतिदं (पा, ब, हे)।

८. सामान्यतः ‘कुणिम’ का अर्थ मांस किया जाता है लेकिन

संदर्भ और विषय के अनुसार यहां मांस अर्थ संगत नहीं बैठता। सूत्रकृतांग में आचार्य महाप्रज्ञ ने ‘कुणिम’ का अर्थ अपवित्र स्थान किया है, यह अर्थ यहां संगत प्रतीत होता है। मूलतः ‘कुणिम’ का अर्थ प्राकृत कोश में नरकावास मिलता है। इस आधार पर यहां लक्षणा से अपवित्र स्थान अर्थ संगत बैठता है। (देखें सू १/५/२७ का अर्थ एवं टिप्पण)



छटुं वक्कलकीरिङ्गयणं

छट्टा अध्दयन : वल्कलकीरी



## ६. ऋषि वल्कलचीरी

ऋषिभाषित ग्रंथ के छोटे अध्ययन के उपदेष्टा ऋषि वल्कलचीरी हैं। आवश्यक चूर्ण में इनके जीवन से सम्बन्धित विस्तृत कथा मिलती है। वहां उनके ज्येष्ठ भ्राता प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का घटना प्रसंग भी मिलता है। पोतनपुर के राजा सोमचन्द्र और उनकी पटरानी ने सफेद बाल आने पर विरक्त होकर दिशाप्रोक्षित तापस दीक्षा स्वीकार कर ली। दीक्षित होते समय रानी गर्भवती थी। समय पर वन में बालक का प्रसव हुआ। उसे वल्कल में रखने के कारण बालक का नाम वल्कलचीरी रखा गया। वल्कलचीरी के बड़े भाई प्रसन्नचन्द्र ने गुप्तचरों के माध्यम से अपने लघुभ्राता के बारे में जानकारी प्राप्त की। उसने लघुवय वाली गणिकाओं को ऋषि का रूप धारण करवाकर वल्कलचीरी के पास भेजा और कहा—‘विविध पदार्थ, मीठे वचनों एवं शरीर के स्पर्श से उसे लुभाओ।’ वल्कलचीरी उन पर मोहित हो गया और उनके पीछे-पीछे चलने लगा। ऋषि के भय से गणिकाएं आगे निकल गईं और वह रास्ता भटक गया।

पोतनपुर में वह एक गणिका के घर पहुंचा। गणिका ने ऋषिवेश उतारकर अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। राजा प्रसन्नचन्द्र ने भी वल्कलचीरी की खोज की और अनेक कन्याओं के साथ उसका विवाह कर दिया।

वह बारह वर्ष तक राजप्रासाद में रहा। एक दिन अर्धरात्रि में उसने अपने पिता के बारे में चिन्तन किया कि वृद्धावस्था में मैंने उनको वन में छोड़ दिया। मेरे बिना वे कैसे रहते होंगे? प्रातःकाल उसने अपने बड़े भाई से पिता के पास आश्रम जाने की अनुज्ञा मांगी। दोनों भाई संन्यासी पिता को देखने हेतु आश्रम पहुंचे। दोनों से मिलकर पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। वल्कलचीरी अपने उत्तरीय से पिता के उपकरणों की प्रतिलेखना करने लगा। पात्र केशरिका की प्रतिलेखना करते हुए उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। विशुद्ध परिणामों से चिन्तन करते हुए उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया। उन्होंने पिता राजर्षि सोमचन्द्र एवं राजा प्रसन्नचन्द्र को धर्मोपदेश दिया। वे वल्कलचीरी के साथ महावीर के समवसरण में पहुंचे।<sup>१</sup>

थेरगाथा में वक्कलित्थेर का उल्लेख मिलता है, जो श्रावस्ती निवासी और त्रिवेदज्ञ थे। अंगुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि रत्नत्रय के प्रति अत्यधिक श्रद्धा रखने वालों में वक्कलि भिक्षु सर्वश्रेष्ठ है।<sup>२</sup> सुत्तनिपात में बुद्ध पैङ्गय को आशीर्वचन देते हुए कहते हैं कि जैसे वक्कलि आदि स्थविर श्रद्धा का आश्रय लेकर भवमुक्त हो गए, उसी प्रकार तुम भी श्रद्धा के द्वारा भवसागर पार करोगे।<sup>३</sup> यहां वक्कलि शब्द ‘वक्कलचीरी’ का वाचक भी हो

१. आवचू १ पृ. ४५५-६०, मटी प ४५७-६०।

२. अंगु १/११ (ख) पृ. ३६ ; सद्धाधिमुत्तानं यदिदं वक्कली ति।

३. सुत्तनिअट्ट २/११५३ पृ. २९८ ; यथा वक्कलित्थेरो सद्धाधिमुत्तो

अहोसि, सद्धाधुरेन च अरहत्तं पापुणि.....एवमेव त्वम्पि पमुञ्चस्सु।

सकता है क्योंकि ये बुद्ध के समकालीन और महावीर के शासन में प्रत्येकबुद्ध तथा कैवल्य प्राप्त ऋषि हुए। वैदिक साहित्य में वल्कलचीरी का उल्लेख नहीं मिलता।

ऋषि ने अंतिम स्थिति में अशुभ प्रवृत्ति से उपरत होकर गहन जंगल में जाकर अनशन स्वीकार करके शरीर त्याग करने का निर्देश दिया है, साथ ही यह भी उल्लेख किया है कि ऐसा करने वाला साधक मनुष्य लोक और देवलोक—दोनों को अपने वश में कर लेता है। उनके इस कथन से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उन्होंने अंत समय में गहन वन में जाकर अनशन किया होगा।

इस अध्ययन में ऋषि ने स्त्रियों से अनाकृष्ट रहकर उनसे युद्ध करने की प्रेरणा दी है। इसको पढ़कर ऐसा लगता है कि वे अपने गृहस्थ जीवन के अनुभव को प्रकट कर रहे हों। गृहस्थ अवस्था में आश्रम में रहते हुए वे बाल वेश्याओं से आकृष्ट होकर उनके पीछे चलते हुए पोतनपुर पहुंच गए थे, वहां भी उनका सम्पर्क एक वेश्या से हुआ फलतः उनका मन स्त्रियों से विरक्त हो गया। अध्ययनगत उपदेश में भी उन्होंने दो बार इसी तथ्य को प्रकट किया है कि स्त्री के प्रति आसक्त होने वाला व्यक्ति स्वयं अपना शत्रु बन जाता है अतः मनुष्य को स्त्री (वासना) से युद्ध करना चाहिए। जो साधक स्त्रियों में आसक्त नहीं होता, वह स्वतंत्रता का अनुभव करता है तथा जो स्त्रियों से प्रतिबद्ध होता है, वह संयम से पलायन कर देता है।

ऋषि का अनुभव है कि जब तक ज्ञानरूपी लगाम हाथ में नहीं रहती, तब तक व्यक्ति चंचल रहता है। वह अश्व की भांति उछल-कूद मचाता रहता है। ज्ञानरूपी लगाम से युक्त साधु इधर-उधर नहीं भटकता। वह संसार में रहते हुए भी उससे निर्लेप रहता है। ऐसा लगता है कि उन्होंने अपने जीवन में ज्ञान के आनंद का साक्षात् अनुभव किया था।

अध्ययन के अंत में ऋषि के नाम के आगे दो विशेषण वियत्त (व्यक्त) तथा भगवं (भगवान्) तथा नाम के पीछे उगगतव (उग्रतपस्वी) विशेषण प्राप्त होता है। तीनों विशेषण उनके विशिष्ट व्यक्तित्व को द्योतित करते हैं। 'वियत्त' विशेषण उनके गीतार्थ होने का, 'भगवं' विशेषण उनके आंतरिक ऐश्वर्य का तथा अंतिम 'उगगतव' विशेषण उनके उग्रतपस्वी होने की ओर संकेत करता है। सम्पूर्ण अध्ययन आत्मानुशासन और वासना से विरत रहने की प्रेरणा देता है।

## ६. वक्कलचीरिञ्जयणं : वल्कलचीरी अध्ययन

१. तमेव उवरते मातंगसङ्के<sup>१</sup> कायभेदाइ आयति तमुदाहरे देवदाणवाणुमतं। तेणेमं खलु भो!  
लोकं सणरामरं वसीकतमेव मण्णामि, तमहं बेमि त्ति। वियत्त<sup>२</sup>-वागलचीरिणा अरहता इसिणा बुडुत्तं।

मातंगश्राद्ध—हस्ती की भांति आचरण करने वाला श्रावक सभी अशुभ प्रवृत्तियों से उपरत होकर कायभेद की स्थिति आने पर भविष्य में गहन वन में एकान्तस्थान में जाकर अनशन स्वीकार कर ले। यह विधि देव-दानवों द्वारा अनुमत कही गई है। ऐसा साधक मनुष्यलोक और देवलोक—दोनों लोकों को वश में कर लेता है। उसका मैं वर्णन करता हूँ, ऐसा व्यक्त अर्थात् गीतार्थ अर्हत् वल्कलचीरी ऋषि ने कहा।

२. 'णारीगणपसत्ते तु'<sup>३</sup>, अप्पणो य अबंधवे।

पुरिसा! जत्तो वि वच्चह, तत्तो वि जुधिरे जणे ॥ १ ॥

जो स्त्रियों के प्रति आसक्त होता है, वह अपना ही शत्रु बन जाता है। इसलिए हे पुरुष! तुम जहां भी जाओ, उनसे (स्त्रियों से) युद्ध करो।

३. णिरंकुसे व मातंगे, छिण्णरस्सी हए<sup>४</sup> वि वा।

गाणप्पगहपब्भट्टे, विविधं पवते णरे ॥ २ ॥

ज्ञान रूपी लगाम से भ्रष्ट व्यक्ति निरंकुश हाथी और लगाम रहित अश्व की भांति विविध प्रकार से उछल-कूद करता रहता है।

४. णावा अकण्णधारा व<sup>५</sup>, सागरे वायुणेरिता।

चंचला<sup>६</sup> धावते णावा, सभावातो अकोविया ॥ ३ ॥

जैसे नाविक के बिना नौका समुद्र में वायु से प्रेरित होकर चंचल दशा को प्राप्त कर इधर-उधर दौड़ती रहती है, वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति स्वभाव से ही चंचल होकर संसार-समुद्र में इधर-उधर भटकता रहता है।

१. मातंग° (स), टीकाकार के अनुसार 'ललितविस्तर' ग्रंथ के तृतीय परिवर्त में किसी प्रत्येकबुद्ध ऋषि का नाम मातंग मिलता है लेकिन यहां मातंग शब्द को गज मानकर व्याख्या की गई है। (ऋवु, पृ. १३३) हाथी मरण के समय गहन वन में चला जाता है, यह प्रसिद्ध बात है।

२. विरयं (पा)।

३. ण नारीगणपसत्ते (पु, आ)।

४. रवे (अ, आ, पा, ला, ब)।

५. वा (अ, ला, ब)।

६. चवला सा (पा)।



५. मुक्कं<sup>१</sup> पुष्कं व आगासे, णिराधारे तु जे णरे।  
दढसुंबणिबद्धे तु, विहरे<sup>२</sup> बलवं विहं<sup>३</sup> ॥४॥

६. सुत्तमेत्तगतिं चेव, तुंगकामे<sup>४</sup> वि से जहा।  
एवं लद्धा वि सम्मगं, सभावातो अकोविए ॥ ५ ॥

आकाश में फेंका हुआ पुष्प और निराधार मनुष्य नीचे गिर जाता है, वही पुष्प दृढ़ रस्सी से बंधा हुआ रज्जु के अनुसार आकाश में विहरण करने लग जाता है। (इसी प्रकार बलवान् मनुष्य भी विधि (भाग्य) के अनुसार विहरण करता है) ऊंचाई पर जाने की इच्छा होने पर भी सूत से बद्ध होने के कारण पुष्प की गति सूत की गति के अनुसार ही होती है, इसी प्रकार स्वभाव से अज्ञानी व्यक्ति सन्मार्ग को प्राप्त करके भी कर्म के अनुसार गति करता है।

७. जं तु परं णवएहिं<sup>५</sup>, अंबरे वा विहंगमे।  
दढसुत्तणिबद्धे त्ति, 'विहरे बलवं विहं'<sup>६</sup> ॥ ६ ॥

मनुष्य दूसरे को नए-नए तरीकों से विहरण करते देखता है अथवा पक्षियों को आकाश में उड़ता हुआ देखता है तो वह अपने आपको दृढ़ रस्सी (कर्मबंध) से बंधा हुआ देखकर सोचता है—विधि ही बलवान् है, जिसके अनुसार विहरण होता है।<sup>५</sup>

८. णाणप्पगहसंबंधं<sup>७</sup>, धित्तिमं पणिहित्तिदिए।  
सुत्तमेत्तगती<sup>८</sup> चेव, तथा साधू णिरंगणे ॥ ७ ॥

ज्ञान रूप लगाम से युक्त, धृतिमान् और समाहित इंद्रिय वाला साधु सूत्र (आगम) के अनुसार गति करता है, वैसा साधु निर्लेप होता है।

९. सच्छंदगतिपयारा, जीवा संसारसागरे।  
कम्मसंताणसंबद्धा, हिंडंति विविहं भवं ॥ ८ ॥

संसार-सागर में स्वच्छंद गति से विहरण करने वाले जीव कर्मों की परम्परा से सम्बद्ध होकर अनेक भवों में भ्रमण करते हैं।

१. सुक्कं (आ, ब)।

२. विहंगे (आ, पा, ला, ब)

३. विहं (ला, पा)।

४. गंतुकामे (पु)।

५. णवाहिए (ब, हे)।

६. आ प्रति में गाथा का अंतिम चरण नहीं है।

७. गाथा के उत्तरार्ध का यह अर्थ भी संभव है—वह बलवान् अपने आपको दृढ़ रस्सी से बांधकर बलवान् होकर आकाश में विहरण करता है।

८. ५-७—इन तीन गाथाओं का अनुवाद विमर्शनीय है।

९. णाणापगहसंबंधो (पा)।

१०. णगतिं (अ, ब)।

१०. इत्थीऽणुगिद्धे वसए, अप्पणो य अबंधवे।  
जत्तो वि वच्चती<sup>१</sup> पुरिसे, तत्तो वि जुधिरे जणे।

११. 'मण्णति मुक्कमप्पाणं'<sup>२</sup>, पडिबद्धे पलायते ॥९॥  
वियत्ते<sup>३</sup> भगवं वक्कलचीरि उग्गतवे त्ति।

स्त्रियों के प्रति आसक्त साधक स्वयं अपना शत्रु बन जाता है। साधक जहां भी जाए, वहां उनसे (स्त्रियों) से युद्ध करे। जो स्त्रियों में आसक्त नहीं होता, वह स्वतंत्रता का अनुभव करता है। जो स्त्रियों में प्रतिबद्ध होता है, वह संयम से पलायन कर देता है।

गीतार्थ भगवान् वल्कलचीरी उग्र तपस्वी हुए।

१२. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति  
बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् वल्कलचीरी ऋषि) कहता हूं।

---

१. वज्जतो (आ), वज्जती (ब)।

२. मण्णे विमु° (अ, ला)।

३. विरते (ब)।



सत्तमं कुम्मापुत्तज्झयणं

सातवां अध्ययन :कूर्मापुत्र



## ७. ऋषि कूर्मापुत्र

सातवें अध्ययन के उपदेष्टा ऋषि हैं—कूर्मापुत्र। कूर्मापुत्र ऋषि के जीवन पर डॉ. जिनेन्द्र जैन द्वारा सम्पादित आचार्य अनंतहंस कृत 'कुम्मापुत्तचरियं' नामक एक स्वतंत्र ग्रंथ मिलता है, जिसमें उनके पूर्वभव और वर्तमान भव का विस्तार से वर्णन है।

इनके पिता का नाम महेन्द्रसिंह तथा माता का नाम कूर्मा था। गृहस्थ अवस्था में माता को धर्म-श्रवण का दोहद उत्पन्न हुआ अतः उनका मूल नाम धर्मदेव रखा गया लेकिन माता के नाम के आधार पर इनका नाम कूर्मापुत्र अधिक प्रसिद्ध हो गया। पूर्व भव में सत्ता के मद से ये सेवकों को गेंद की भांति ऊपर उछालने में आनंद का अनुभव करते थे अतः इस भव में उनके शरीर की लम्बाई केवल दो हाथ की हुई।

एक बार मुनियों द्वारा धर्मश्रवण करने से कूर्मापुत्र को जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। शुभ अवसर से उनको कैवल्य की प्राप्ति हो गई। मेरे विरह को माता-पिता सहन नहीं कर सकेंगे, यह सोचकर कुछ दिनों तक वे गृहस्थ अवस्था में ही रहे। बाद में दीर्घकाल तक श्रामण्य-पर्याय का पालन करके वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए। ऋषिमण्डल ग्रंथ में भी इनकी जघन्य अवगाहना का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup>

विशेषावश्यक भाष्य में सिद्धों की अवगाहना के प्रसंग में कूर्मापुत्र का उल्लेख मिलता है।<sup>२</sup> विशेषणवती ग्रंथ में इनकी सिद्धि को आश्चर्य कहा गया है।<sup>३</sup> आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने इसे आश्चर्य क्यों कहा, यह खोज का विषय है क्योंकि सिद्धों की जघन्य अवगाहना एक हाथ आठ अंगुल होती है। दो हाथ अवगाहना वाले का शुषिर भाग निकलने के बाद सिद्ध अवस्था में एक हाथ आठ अंगुल अवगाहना शेष रहती है। आवश्यक चूर्णि में इनके जीवन के बारे में कोई उल्लेख नहीं मिलता केवल इनके नाम के आगे 'वामन' विशेषण का प्रयोग हुआ है।<sup>४</sup>

खुदकनिकाय के अन्तर्गत थेरगाथा में अकिञ्चन साधु का श्रामण्य कैसा होना चाहिए, इस संदर्भ में कूर्मापुत्र स्थविर द्वारा कथित उपदेश की एक गाथा का उल्लेख मिलता है।<sup>५</sup> थेरगाथा अट्टकहा में इनके पूर्वभव का वर्णन मिलता है। उसके अनुसार पूर्वभव के पुण्य के कारण ये अवंति राष्ट्र में सेठ के घर उत्पन्न हुए। माता का नाम कूर्मा होने के कारण ये कूर्मापुत्र कहलाए। सारिपुत्र से धर्म श्रवण कर प्रव्रजित हुए तथा कर्म के फल-विपाक

१. ऋषिमं १२६ ;

दोरयणिपमाणतणू, जहण्णओगाहणाए जो सिद्धो।

तमहं तिगुत्तगुत्तं, कुम्मापुत्तं नमंसामि॥

२. विभा ३१६९; ते पुण होज्ज बिहत्था, कुम्मापुत्तादओ जहण्णेणं।

३. विशेषे ३८-४४।

४. आवचू १ पृ. ५८३ ; वामणकुम्मगसुयमादीयाण।

५. थेरगाथा १/३६ पृ. १४ ;

साधु सुतं साधु चरितकं साधु सदा अनिकेतविहारो।

अत्थपुञ्जनं पदक्खिणकम्मं, एतं सामञ्जमकिञ्चनस्सा।

इत्थं सुद आयस्सा कुम्मापुत्तो थेरो गाथं अभासित्थाति।

का चिन्तन करते हुए अर्हत् बन गए।<sup>१</sup>

थेरगाथा में 'कुम्मापुत्त' के पश्चात् जो कूर्मापुत्र के सहायक स्थविर का वक्तव्य है, वह ऋषिभाषित में कथित कूर्मापुत्र के उपदेश से बहुत साम्य रखता है। लगता है कूर्मापुत्र ने ही अपने शिष्यों को यह उपदेश दिया होगा और वह उपदेश उनके सहायक के नाम से थेरगाथा में मिलता है—

समाधिं च विराधेति, जे रिट्टचरियं चरे।<sup>२</sup>

समाधिं च विराधेन्ति, किंसु रट्टचरिया करिस्सति।<sup>३</sup>

इस अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि दुःख से करते हैं। ऋषि का मंतव्य है कि उत्सुकता रखना दुःख का कारण है। यदि कोई व्यक्ति आलस्य के कारण उत्सुकता नहीं रखता है तो भी वह अनौत्सुक्य के कारण सुखी हो जाता है। फिर संयम से सोच-समझकर उत्सुकता न रखने से होने वाले लाभ का तो कहना ही क्या? भगवती सूत्र में मुनि के लिए एक विशेषण मिलता है—अप्पुस्सुए<sup>४</sup> अर्थात् उत्सुकता नहीं रखने वाला। दशवैकालिक में भी उल्लेख मिलता है कि जो कुतूहल या उत्सुकता नहीं रखता, वह पूज्य होता है।<sup>५</sup> तपस्या एवं दुष्कर चर्या का पालन करके साधक दुःख का क्षय कर सकता है। ऋषि का अभिमत है कि जीवन में आने वाली दुःखद परिस्थितियों को अदीन भाव से सहन करना चाहिए। अंत में ऋषि ने आसक्ति एवं कामना रहित पुरुषार्थ पर अधिक बल दिया है।

१. थेरगाथा १/३६, पृ. १६।

२. ऋषिभाषित ७/२।

३. थेरगाथा १/३७, पृ. १४।

४. भ २/५५।

५. दश ९/३/१० ; अकोउहल्ले य सया स पुज्जो।

## ७. कुम्भापुत्तञ्जयणं : कूर्मापुत्र अध्ययन

१. सव्वं दुक्खावहं दुक्खं, दुक्खं ऊसुयत्तणं<sup>१</sup>। दुक्खी व दुक्करचरियं<sup>२</sup> चरित्ता सव्वदुक्खं खवेति तवसा, तम्हा अदीणमणसो दुक्खी सव्वदुक्खं तित्तिक्खेज्जासि त्ति, कुम्भापुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं।

समस्त दुःख कष्टप्रद हैं। उत्सुकता रखना दुःख का कारण है। दुःखी व्यक्ति कठोर आचार का पालन करके तपस्या के द्वारा सब कर्मों का क्षय कर देता है अतः दुःखी व्यक्ति अदीन होकर सब दुःखों को सहन करे, ऐसा अर्हत् कूर्मापुत्र ऋषि ने कहा।

२. जणवादो ण ताएज्जा, अत्थित्तं तव-संजमे।  
'समाधिं च विराधेति, जे रिट्ठचरियं<sup>३</sup> चरे'<sup>४</sup> ॥ १ ॥

जनवाद<sup>५</sup>—लोगों की चर्चा तप और संयम के अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकती। जो व्यक्ति गलत आचरण करता है, वह समाधि<sup>६</sup> की विराधना करता है।

३. आलस्सेणावि जे केइ, उस्सुयत्तं ण गच्छति।  
तेणावि से सुही होइ, किण्णु सद्धी परक्कमे?२ ॥

जो कोई व्यक्ति आलस्य के कारण उत्सुकता नहीं रखता, उससे भी वह अपने जीवन में सुखी होता है। यदि श्रद्धालु और संयम में पराक्रम करने वाला व्यक्ति उत्सुकता न रखे तो उसे कितना अधिक लाभ होगा ?

४. आलस्सं तु परिण्णाय, जाती-मरण-बंधणं।  
उत्तिमट्ठवरग्गाही, वीरियात्तो परिव्वए<sup>७</sup> ॥ ३ ॥

आलस्य और जन्म-मरण के बंधन को त्यागकर उत्तमार्थ की आराधना करने वाला साधक पराक्रम के साथ परिव्रजन करे।

१. सउसु<sup>०</sup> (पु)।

२. °चारियं (अ, आ, स, पा, हे)।

३. रट्ठं (पा), रिष्ट्ठचर्यामपूर्णतपश्चर्या चरति। टीकाकार ने 'रिट्ठचरियं' का अपूर्णचर्या अर्थ किया है लेकिन यहां गलत चर्या या गलत आचरण अर्थ होना चाहिए। (ऋवृ पृ. १३३)

४. तु थेरगाथा ४/७; समाधिं च विराधेति किंसु रिट्ठचरिया करिस्सति।

५. समवायांग (७२/७ पृ. २४७) में 'जनवाद' का अर्थ विशिष्ट प्रकार की द्यूतकला किया है। यह अर्थ भी यहां संगत बैठता है।

६. समाधि का अर्थ है—मन की एकाग्रता तथा चित्त का समाधान।

७. परिण्णाए (आ, ला)।



५. कामं अकामकामी, अत्तत्ताए परिव्वए ।  
सावज्जं णिरवज्जेणं, परिण्णाए परिव्वएज्जासि त्तिं ॥ ४ ॥

साधक अत्यन्त निस्पृह बनकर आत्महित के लिए विहरण करे तथा सावद्य का त्याग करके निरवद्य आचरण करता हुआ परिव्रजन करे।

६. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् कूर्मापुत्र ऋषि) कहता हूँ।

---

१. इस गाथा के प्रथम चरण में गाथा छंद का प्रयोग हुआ है तथा शेष चरणों में अनुष्टुप् छंद है। अंतिम चरण में छंद की दृष्टि से केवल 'परिव्वए' पाठ ही संगत लगता है। 'परिव्वएज्जासि' त्ति पाठ गाथा छंद की दृष्टि से उपयुक्त नहीं लगता है।

अट्टमं केतलिपुत्तज्झयणं

आठवां अध्ययन : केतलिपुत्र



## ८. ऋषि केतलिपुत्र

ऋषिभाषित के आठवें अध्ययन के ऋषि का नाम है—केतलिपुत्र। आगम एवं उनके व्याख्या-साहित्य में केतलिपुत्र का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। बौद्ध और वैदिक साहित्य में भी इस नाम के किसी ऋषि का उल्लेख नहीं है। सभी हस्तप्रतियों में आठवें अध्ययन में 'तेतलिपुत्रेण अरहता इसिणा बुद्धं' का उल्लेख हुआ है। 'केतलिपुत्रेण अरहता इसिणा बुद्धं'—यह उल्लेख किसी भी हस्तप्रति में नहीं है। ऐसी संभावना की जा सकती है कि यहां तेतलिपुत्र ही होना चाहिए क्योंकि दसवें तेतलिपुत्र अध्याय में केवल उनके जीवन का घटना प्रसंग है, उपदेश नहीं है। संभव है इस अध्ययन में उनका ही उपदेश संकलित हुआ हो लेकिन कालान्तर में दो अध्यायों पर एक नाम देखकर एक पर केतलिपुत्र नाम हो गया होगा। नाम साम्य से भी यह भ्रम होना संभव है। 'के' और 'ते' के उच्चारण में ज्यादा भेद न होने से कालान्तर में तेतलि के स्थान पर केतलि हो गया। इस अध्ययन में ऋषि तेतलिपुत्र की शिक्षा संकलित है। इस बात की पुष्टि उनके उपदेशों से भी होती है। सांसारिक बंधनों से बाहर निकालने में उनकी दिवंगत पत्नी ने अथक प्रयत्न किया। उन्होंने कोशिकार कीट के उदाहरण से सांसारिक बंधन और उसकी मुक्ति का सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है। ऋषि के अपने जीवन का अनुभव है कि जो इस सांसारिक ग्रंथि के जाल को छेद देता है, वह ज्ञानी दुःख-मुक्त होकर मोक्ष में स्थित हो जाता है। डॉ. साध्वी प्रमोदकुमारीजी ने भी केवल संकेत किया है कि संभव है ऋषिभाषित के केतलिपुत्र और तेतलिपुत्र दो भिन्न व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति रहे होंगे।<sup>१</sup> फिर भी इस संदर्भ में और अधिक अन्वेषण की अपेक्षा है कि तेतलिपुत्र का ही नाम केतलिपुत्र है अथवा इस नाम के कोई स्वतंत्र ऋषि हुए हैं?<sup>२</sup>

इस अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि ने रहस्यवादी शैली में किया है। आर—अर्थात् संसार दो कारणों से बढ़ता है—राग और द्वेष तथा परिनिर्वाण एक गुण—वीतरागता अथवा सम्यक्त्व से प्राप्त होता है। जो साधक परिग्रह और सांसारिक बंधनों का छेदन कर देता है, वह दुःख-मुक्त होकर शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लेता है।

१. ऋषिभाषित का दार्शनिक..... पृ. ३५।

२. देखें ऋषि तेतलिपुत्र पृ. ९३।

## ८. केतलिपुत्तञ्जयणं : केतलिपुत्र अध्ययन

### १. आरं दुगुणेणं, पारं एकगुणेणं, केतलिपुत्तेणं अरहता इसिणा बुद्धं ।

द्विगुण—राग—द्वेष से आर—संसार बढ़ता है। एक गुण—वीतरागता से पार—निर्वाण प्राप्त होता है<sup>१</sup>, ऐसा केतलिपुत्र ऋषि ने कहा।

### २. इय उत्तमगंथच्छेदए<sup>३</sup>, रहसमिया लुप्पति व<sup>५</sup> अच्छती<sup>५</sup> ।

‘सयं वोच्छिंदं कम्मसंचयं<sup>६</sup>, कोसारकीडे व जहाति बंधणं ॥ १ ॥

जैसे रथ की शय्या—कील के टूट जाने पर वह एक स्थान पर स्थित हो जाता है, वैसे ही राग—द्वेष की ग्रंथियों को छिन्न करने में कुशल (उत्तम ग्रंथों का ज्ञाता) मुनि कर्मों का विच्छेद करके रेशम के कीड़े<sup>७</sup> की भांति स्वयं बंधनों को तोड़कर मोक्ष में स्थित हो जाता है।

३. तम्हा एयं वियाणियं<sup>८</sup> गंथजालं दुक्खं दुहावहं छिंदिय ठाइ संजमे, से हु मुणी दुक्खा विमुच्चइ, ‘धुवं सिवं गइं उवेइ इति’<sup>९</sup> ।

इसलिए ग्रंथजाल (परिग्रह आदि) को दुःख और दुःख का कारण जानकर साधक उसका छेदन करके संयम में स्थित हो जाता है। वह ज्ञानी दुःख से मुक्त हो जाता है तथा शाश्वत शिव गति को प्राप्त कर लेता है।

४. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणारवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं ऋषि (केतलिपुत्र) कहता हूँ।

१. सभी हस्तप्रतियों में ‘तेतलिपुत्तेण’ पाठ मिलता है। बहुत संभव है कि इस अध्ययन में तेतलिपुत्र का उपदेश हो क्योंकि दसवें अध्ययन में उनका केवल जीवन-प्रसंग वर्णित है। नाम साम्य के कारण बाद में ‘तेतलि’ के स्थान पर ‘केतलि’ हो गया हो। प्रकाशित सभी प्रतियों में अध्ययन का नाम केतलिपुत्र है अतः हमने अध्ययन का यही नाम रखा है। इस संदर्भ में विस्तार हेतु देखें दसवें ऋषि तेतलिपुत्र पृ. ९३।

२. टीकाकार ने पार का अर्थ परलोक तथा एकगुण का अर्थ सम्यक्त्व किया है। (ऋवृ पृ. १३४), सूयगडो (१/२/८) में ‘आर’ का अर्थ गृहस्थी और पार का अर्थ प्रव्रज्या किया है।

३. °थवेयए (आ, पा, ला, ब)।

४. × (पा)।

५. गच्छति (अ, पा, स, ब)।

६. समियं वोच्छिंदं पावयं (अ)।

७. प्रश्न व्याकरण (३/२२) सूत्र में रेशम के कीड़े के लिए ‘कोसिकारकीड’ पाठ भी मिलता है। आपटे में इसके लिए कोशकारक शब्द मिलता है। लट के सदृश यह कीड़ा प्रायः शहतूत के वृक्ष पर रहता है। इसके मुख में एक विशेष ग्रंथि होती है, जिसे रेशम ग्रंथि कहा जाता है। इन ग्रंथियों से एक धागा जैसा निकलता है, उस धागे को वह शरीर में लपेटता जाता है। जब उस कीड़े को गर्म पानी में डाला जाता है तो गर्मी के कारण रेशम के तार अलग हो जाते हैं। उस धागे से बहुमूल्य वस्त्र बनाए जाते हैं। (जैन आगम प्राणी कोश पृ. ३२)

८. वियाणिया (ब)।

९. × (पु, आ, ला)।

नवमं महाकासवज्झयणं

नौवां अध्ययन : महाकाश्यप



## ९. ऋषि महाकाश्यप

ऋषिभाषित के नवें अध्याय के प्रवक्ता ऋषि हैं—महाकाश्यप। आगम-साहित्य में काश्यप गोत्र का अनेक स्थलों पर उल्लेख मिलता है। भगवान् अरिष्टनेमि और तीर्थकर मुनिसुव्रत को छोड़कर शेष सभी तीर्थकर काश्यपगोत्री थे। आगमों में भगवान् महावीर के लिए उनके नाम की अपेक्षा 'कासवेण पवेइयं' ऐसा उल्लेख अधिक मिलता है। 'काश्यप' शब्द उनके विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है लेकिन इस अध्ययन का नाम महाकाश्यप है। यहां महा शब्द विशेषण नहीं हो सकता क्योंकि उनके नाम के आगे 'महइ' विशेषण लगा हुआ है।

बौद्धों में महाकाश्यप नामक स्थविर का उल्लेख मिलता है, जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न थे। इनका मूल नाम विष्पली माणवक था। ये बचपन से विरक्त थे। युवावस्था में पिता ने परम सुंदरी युवती के साथ इनका विवाह किया लेकिन ये अपनी पत्नी के बीच पुष्पमाला रखकर सोते थे। उनका मानना था कि जिसके मन में विकार आएगा, उसकी तरफ के पुष्प कुम्हला जाएंगे। पति और पत्नी दोनों वैरागी थे।<sup>१</sup> बुद्ध के पास दीक्षित होते ही आठवें दिन इन्हें अर्हत् पद प्राप्त हो गया। ये बुद्ध के तेरह व्रतधारी शिष्यों में श्रेष्ठ स्थविर हुए। अंगुत्तरनिकाय में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि मेरे धुतांग साधक शिष्यों में यह महाकाश्यप ही श्रेष्ठ है।<sup>२</sup> महापरिब्बान सुत्त में उल्लेख मिलता है कि जब बुद्ध का परिनिर्वाण हुआ, उस समय महाकाश्यप स्थविर पांच सौ भिक्षुओं के साथ पावा और कुसीनारा के बीच रास्ते में विचरण कर रहे थे।<sup>३</sup>

डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार ये बौद्ध ऋषि होने चाहिए क्योंकि इनके उपदेशों में संततिवाद की चर्चा है तथा निर्वाण की उपमा दीपक के शान्त होने से की गई है।<sup>४</sup> अध्ययन को गहराई से पढ़ने पर ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में ये बौद्ध दर्शन से प्रभावित रहे होंगे लेकिन जिस समय उन्होंने इस अध्ययन का उपदेश दिया, उस समय ये निर्ग्रन्थ प्रवचन के अनुयायी होने चाहिए। इस तथ्य की पुष्टि में कुछ तर्क इस प्रकार दिए जा सकते हैं—

\* भले ही दीपक की उपमा में 'संतति' तथा अन्यत्र 'संताण' शब्द का प्रयोग उनके बौद्ध ऋषि होने का भ्रम पैदा करता है लेकिन यहां संतति शब्द परम्परा का द्योतक है, न कि बौद्ध परम्परा सम्मत संतति का।

\* अध्ययन के प्रारम्भ में हस्तछेदन आदि कर्म जन्य दुःखों का वर्णन सूत्रकृतांग से प्रायः शब्दशः मिलता है। ऐसा वर्णन आगमों में और भी अनेक स्थानों पर मिलता है।

\* अध्ययन में वर्णित कर्मवाद का सिद्धान्त जैन दर्शन के कर्मवाद से साम्य रखता है। आवर्जन, समुद्घात, योगों का निरोध, अनिवृत्ति और शैलेशी अवस्था का वर्णन—ये सब जैनों के पारिभाषिक शब्द हैं।

१. भारतीय पृ. ६८४।

२. अंगु १/१४ (क) पृ. ३४ ; धुतवादानं यदिदं महाकस्सपो।

३. महापरिनिब्बान सुत्त १७६; तेन खो पन समयेन आयस्मा

महाकस्सपो पावाय कुसिनारं अद्धानमग्गपटिपन्नो होति महता

भिक्खुसंघेन सद्धिं पञ्चमत्तेहि भिक्खुसत्तेहि।

४. ऋषिभाषित : एक अध्ययन पृ. ३९।



\* अंत में ऋषि कहते हैं कि संसार के सब पदार्थ द्रव्य, क्षेत्र आदि से नित्य और अनित्य दोनों हैं, जबकि बौद्ध परम्परा केवल अनित्यता को स्वीकार करती है। इस संदर्भ में अभी और शोध की आवश्यकता है कि ये ऋषि कब हुए तथा किस परम्परा से सम्बन्धित थे क्योंकि इनके बारे में जैन आगम एवं व्याख्या-साहित्य में विशेष वर्णन नहीं मिलता है।

अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि ने कर्मवाद और जन्म-मरण की परम्परा से किया है। जब तक जन्म-मरण है, तब तक कर्मों का अस्तित्व रहता है क्योंकि कर्म से ही जन्म-मरण की संतति चलती है। ऋषि ने कर्म से होने वाले दुःखद परिणामों का चित्रण किया है। कर्म से अंगोपांग का छेदन, विविध बंधन, स्वजन-वियोग, अप्रिय-संयोग तथा विविध तिरस्कार आदि दुःखद स्थितियां प्राप्त होती हैं। इस सूत्र में वर्णित स्थितियां उस समय की दंडव्यवस्था और अपने अधीनस्थ या अपराधी के प्रति होने वाले कटु व्यवहार का सजीव चित्र प्रस्तुत करती हैं। विविध दंडों में एक महत्वपूर्ण दंड है—‘सिंहपुच्छणाइं’। प्राचीन कालीन दंडपद्धति के अनुसार पारदारिक व्यक्ति की जननेन्द्रिय काट दी जाती थी। उस दंड का नाम ‘सिंहपुच्छितक’ कहलाता था। चूर्णिकार के अनुसार संभोग के पश्चात् सिंह और सिंहनी जब अलग होते हैं, तब दोनों ओर से खिंचाव पैदा होता है। उस समय सिंह की जननेन्द्रिय भग्न हो जाती है, इस आधार पर जननेन्द्रिय भग्न करने को सिंहपुच्छन कहा जाता है।<sup>१</sup>

जैसे व्याधि होने पर यदि दोष के आने के कारण को रोक दिया जाए और वैद्यशास्त्र के अनुसार चिकित्सा की जाए तो रोग-मुक्ति संभव है, वैसे ही ऋषि के अनुसार दुःख-क्षय के दो उपाय हैं—

१. कर्म के आदान का निरोध (संवर)।
२. सम्यक् क्रिया के द्वारा निर्जरा।

उत्तराध्ययन सूत्र में इसी बात को रूपक की भाषा में समझाया गया है कि जिस प्रकार एक महातालाब से जल आने के मार्ग को रोक दिया जाए तथा उलीच कर या ताप के द्वारा पानी को सुखा दिया जाए तो क्रमशः तालाब खाली हो जाता है।<sup>२</sup> उसी प्रकार संवर से कर्म आने के मार्ग का निरोध करने तथा निर्जरा—तप विशेष के द्वारा कर्म का क्षय करने से पुण्य और पाप—दोनों प्रकार के कर्म क्षय हो जाते हैं। इसी बात को ऋषि दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं कि जैसे अंजलि का जल धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है, वैसे ही बद्ध, स्पृष्ट और निद्धत कर्म-संस्कार भी क्षय हो जाते हैं।

व्यक्ति तपस्या या पुरुषार्थ विशेष के द्वारा कर्मों की स्थिति एवं फल को बदल सकता है लेकिन

१. सूचू २ पृ. ३६५ ; सीहो सीहीए समं ताव लग्गओ अच्छति,  
जाव त्थामिगाणं दोण्ह वि कडुंताणं छिण्णणेत्ता भवति ।

२. उ. ३०/५ ; जहा महातलायस्स, सन्निरुद्धे जलागमे ।  
उस्सिंचणाए तवणाए, कमेणं सोसणा भवे ॥

निकाचित एवं निदानकृत कर्म भोगने ही पड़ते हैं। कर्म क्षय हेतु प्रबल पुरुषार्थ जगाने के लिए ऋषि कहते हैं कि मनुष्य की आयु की अपेक्षा पाप कर्म बहुत हैं क्योंकि पूर्व जन्म के साथ भी कर्म हमारी आत्मा के साथ लगे हुए हैं अतः कर्मों का नाश करने हेतु दुष्कर तप करना आवश्यक है।

संवर और निर्जरा के साथ ऋषि सम्यक्त्व को भी अनिवार्य मानते हैं। जैसे शक्तिशाली पुरुष रथ पर आरूढ़ होकर अपनी योग्यता से शत्रु सेना का नाश कर देता है, वैसे ही सम्यक्दृष्टि पुरुष अनंतानुबंधी कषाय का नाश कर देता है। सम्यक्त्व आते ही साधक का ज्ञान सम्यक् हो जाता है। अग्नि और हवा के संयोग से जैसे सोना विशुद्ध होता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान के संयोग से पाप का शोधन हो जाता है। ध्यान का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए ऋषि कहते हैं कि जैसे जल से वस्त्र की शोधि होती है, वैसे ही सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा ध्यान से विशोधि को प्राप्त हो जाती है।

इस अध्ययन का गद्यांश आगम की शैली में लिखा गया है। आगम की भांति ऋषि ने हीलना के साथ खिंसना आदि अनेक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग किया है। दशवैकालिक के चूर्णिकार जिनदास एवं अगस्त्यसिंह ने इन दोनों शब्दों पर अच्छा विमर्श प्रस्तुत किया है।

अध्ययन के अंत में ऋषि के नाम के आगे 'महद्' विशेषण उनकी महानता को प्रकट करने वाला है। अध्ययन की विषय-वस्तु भी ऋषि के गीतार्थ, बहुश्रुत और महान् तत्त्ववेत्ता होने की सूचना देती है।



## १. महाकासवज्जयणं : महाकाश्यप अध्ययन

१. 'जाव जाव जम्मं'<sup>१</sup>, 'ताव ताव'<sup>२</sup>, कम्मं। कम्मणा<sup>३</sup> खलु भो! पया सिया, समियं उवनिचिज्जइ अवचिज्जइ<sup>४</sup> य, महइ महाकासवेणं अरहता इसिणा बुइतं।

जब तक जन्म है, तब तक कर्म है। कर्म से भव-परम्परा की उत्पत्ति होती है। समता से शुभ कर्मों का उपचय तथा अशुभ कर्मों का अपचय होता है, ऐसा महान् अर्हत् महाकाश्यप ऋषि ने कहा।

२. कम्मणा खलु भो! अप्पहीणेणं पुणरवि आगच्छइ हत्थच्छेदणाणि पादच्छेदणाणि एवं कण्ण-नक्क-उट्ट-जिब्भ-सीसदंडणाणि<sup>५</sup> उदिण्णेण जीवो कोट्टणाणि पिट्टणाणि तज्जणाणि तालणाणि— वहणाइं बंधणाइं परिक्लेसणाइं<sup>६</sup>, अंदुबंधणाइं नियलबंधणाणि<sup>७</sup> जावजीवबंधणाणि नियलजुयल-संकोडणमोडणाइं हिययुप्पाडणाइं दसणुप्पाडणाइं<sup>८</sup> उल्लंबणाइं ओलंबणाइं<sup>९</sup> घंसणाइं<sup>१०</sup> घोलणाइं पीलणाइं सीहपुच्छणाइं<sup>११</sup> कडगिदाहणाइं<sup>१२</sup> भत्तपाणनिरोहणाइं दोगच्चाइं दोभत्ताइं दोमणस्साइं भाउमरणाइं भगिणिमरणाइं पुत्तमरणाइं धूयमरणाइं भज्जमरणाइं अण्णाणि य सयण-मित्तबंधुवग्गमरणाइं तेसिं च णं दोगच्चाइं दोभत्ताइं दोमणस्साइं अप्पियसंवासाइं पियविप्पओगाइं हीलणाइं खिंसणाइं गरहणाइं पव्वहणाइं परिभवणाइं आकड्डणाइं अण्णयराइं च<sup>१३</sup> दुक्ख-दोमणस्साइं पच्चणुभवमाणे<sup>१४</sup> अणाइयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंत-संसारसागरं अणुपरियट्टति।<sup>१५</sup>

मंदभाग्य व्यक्ति कर्मों के क्षय न होने के कारण हस्त-छेदन, पाद-छेदन आदि कष्ट प्राप्त करता है तथा इसी प्रकार कान, नाक, होठ, जिह्वा और शिर आदि की वेदना प्राप्त करता है। कर्मों की उदीरणा से प्राणी कोट्टन—कूटना, उत्पीड़न, तर्जना, ताड़ना, वध, बंधन और परिक्लेश आदि को प्राप्त करता है। वह सांकल-बंधन, बेड़ी-बंधन, यावज्जीवन-बंधन, दो जंजीरों के द्वारा सिकोड़कर लुढ़काने का बंधन<sup>१६</sup>, हृदय का उत्पाटन, दांत का उत्पाटन, फांसी लगाकर लटकाना, पर्वत के नीचे फेंकना<sup>१७</sup>, एक स्थान से दूसरे स्थान पर घसीटना, घुमाना, यंत्र से

१. जाव ताव वज्जं (अ, पा)।

२. जावत्ताव वज्जं तावत्ताव (ब, हे)।

३. कम्मणा (पा, हे)।

४. अवइज्जइ (पा), अप्पइज्जइ (स)।

५. ंणाणि मुंडणाणि (अ, ब)।

६. ंणाइं (स, पा)।

७. नियडबं (अ)।

८. ओलंबणाइं उल्लंबणाइं (ला, ब, स)।

९. संघंसणाइं (अ)।

१०. सूयगडो २/२/५८ में सीहपुच्छियगं—सिंहपुच्छितक पाठ है। देखें सूयगडो पृ. ५६७।

११. कडगिदाहणाइं ति कटकेन वेष्टितुं प्रदीपनमिति दशाश्रुत स्कन्धचूर्णिः (ऋवृ पृ. १३४)।

१२. बहु (पा)।

१३. °माणा (पा)

१४. °यट्टति (ब, पा)।

१५. कुछ अपराधियों को कारावास में डालकर दो, तीन या सात सांकलों से बांधकर रखा जाता है। उनके हाथों, पैरों एवं गले में सांकल डाल दी जाती है। (सू २/२/५८, चू पृ. ३६४)

१६. सूत्रकृतांग की चूर्णि में 'ओलंबण' के तीन अर्थ किए हैं—लटकाना, पर्वत के नीचे फेंक देना तथा नदी या तालाब में डुबो देना (सूचू २ पृ. ३६४, ३६५)

पीलना, जननेन्द्रिय को काटना<sup>१</sup>, चटाई में लपेटकर आग में जलाना, आहार-पानी का निरोध करना, दुर्गति, दुःखद आजीविका, दौर्मनस्य, भातृ-मरण, भगिनी-मरण, पुत्र-मरण, पुत्री-मरण, पत्नी-मरण तथा अन्य स्वजन, मित्र, बंधु वर्ग का मरण, उनकी दुर्गति, दुःखद आजीविका, दौर्मनस्य, अप्रिय-संवास, प्रिय-वियोग, हीलना, खिंसना, गर्हा, व्यथा, परिभव, आकड्डण—रस्सी से खींचा जाना—इसी प्रकार के अन्य किसी भी दुःख-दौर्मनस्य का अनुभव करते हुए वह अनादि, अनंत, दीर्घ मार्ग वाले चातुरंत संसार-सागर में परिभ्रमण करता रहता है।

**३. कम्मणा पहीणेणं खलु भो! 'जीवा नो आगच्छंति'<sup>२</sup> हत्थच्छेदणाणि ताइं चव भाणियव्वाइं जाव<sup>३</sup> संसारकंतारं वीईवइत्ता सिवमयलमरुयमक्खयमव्वाबाहमपुणारावत्तं सासयं 'ठाणमब्भुवगता चिट्ठंति'<sup>४</sup>।**

कर्मों के क्षीण होने पर जीव हस्तछेदन यावत् दौर्मनस्य आदि कष्टों को नहीं भोगते। वे संसार-सागर को पार कर शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्त शाश्वत स्थान को प्राप्त कर लेते हैं।

**४. कम्ममूलमनिव्वाणं, संसारे सव्वदेहिणं।**

**कम्ममूलाइं दुक्खाइं, कम्ममूलं च जम्मणं॥ १॥**

संसार में सब प्राणियों के लिए अनिर्वाण—अशांति, दुःख और जन्म का मूल कारण कर्म है।

**५. संसारसंतईमूलं, पुण्णं पावं पुरेकडं।**

**पुण्णपावनिरोहाय, सम्मं संपरिव्वाए॥ २॥**

संसार की परम्परा के मूल कारण पूर्वकृत पुण्य और पाप हैं। मुमुक्षु साधक पुण्य और पाप के निरोध के लिए समता का आचरण करता हुआ परिव्रजन करे।

**६. पुण्णपावस्स आदाणे, परिभोगे यावि देहिणं।**

**संततीभोगपाओगं, पुण्णं पावं सयं कडं॥ ३॥**

प्राणियों द्वारा परिग्रह का ग्रहण, परिभोग और भोग-प्रायोग्य वस्तुओं की निरंतर प्राप्ति (या अप्राप्ति) स्वकृत पुण्य और पाप के फलस्वरूप होती है।

**७. संवरो निज्जरा चव, पुण्णपावविणासणं।**

**संवरं निज्जरं चव, सव्वहा सम्मायरे॥ ४॥**

संवर और निर्जरा—ये दोनों तत्त्व पुण्य और पाप का नाश करने वाले हैं अतः साधक को सब प्रकार से संवर और निर्जरा का सम्यक् आचरण करना चाहिए।

१. सूत्रकृतांग चूर्ण के अनुसार संभोग के पश्चात् सिंह और सिंहनी जब अलग होते हैं, तब दोनों ओर से पिंखाव पैदा होता है, उस समय सिंह की जननेन्द्रिय भग्न हो जाती है। इस प्रचलित मान्यता के आधार पर जननेन्द्रिय भग्न करने को सिंहपुच्छन कहा गया है। (सूचू २ पृ. ३६५)

२. जीवो नो आगच्छंहिति (पु)।

३. सूत्र विस्तार हेतु देखें इसी अध्ययन का दूसरा सूत्र।

४. ठाणमब्भुवगए चिट्ठंति (पु), दूसरे सूत्र में एक वचन तथा तीसरे सूत्र में बहुवचन का प्रयोग हुआ है।

८. मिच्छन्तं अनियत्तीं<sup>१</sup> य, पमादो याविं<sup>२</sup> णेगहा ।  
कसाया चेव जोगा य, कम्मादाणस्स कारणं ॥ ५ ॥

मिथ्यात्व, अनिवृत्ति (अविरति), अनेकविध प्रमाद, कषाय और योग—ये पांचों कर्म ग्रहण करने के कारण हैं ।

९. जहा अंडे जहा बीए, तहा कम्मं सरीरिणं ।  
संताणे चेव भोगे य, नाणावण्णत्तमच्छति ॥ ६ ॥

संसारि प्राणी के लिए कर्म का वही स्थान है, जो अंडे और बीज का है। कर्म के आधार पर ही व्यक्ति संतान, भोग तथा नाना अवस्थाओं की प्राप्ति करता है।<sup>३</sup>

१०. निव्वत्तीं<sup>४</sup> वीरियं<sup>५</sup> चेव, संकप्पे य अणेगहा ।  
नाणावण्णवियक्कस्स, दारमेयं हि कम्मणो ॥ ७ ॥

११. एस एव विवण्णासो<sup>६</sup>, संवुडो संवुडो पुणो ।  
कमसो संवरो नेओ, देससव्वविकप्पिओ ॥ ८ ॥

कार्य—रचना, वीर्य—पुरुषार्थ, अनेकविध संकल्प और नाना वितर्क—ये कर्म के द्वार (आस्रव) हैं। उपर्युक्त कर्म द्वार आत्मा के लिए विपर्यास हैं। संवर करने से कर्मों का निरोध होता है। संवर के क्रमशः दो भेद हैं—देशसंवर और सर्वसंवर।<sup>७</sup>

१२. सोवायाणा निरादाणा, विपाकेतरसंजुता ।  
उवक्कमेण तवसा, निज्जरा जायते सया<sup>८</sup> ॥ ९ ॥

सोपादान—सकाम निर्जरा और निरादान—अकाम निर्जरा, विपाकोदय, प्रदेशोदय, उपक्रम<sup>९</sup> और तपस्या से निरन्तर निर्जरा होती है।

१३. संततं बंधते कम्मं, निज्जरेति य संततं ।  
संसारगोयरो जीवो, विसेसो उ तवो मतो ॥ १० ॥

सांसारिक प्राणी निरन्तर कर्मों को बांधता है और निरंतर निर्जरा करता है लेकिन तप से होने वाली निर्जरा का विशेष महत्त्व है।

१. अविरति के स्थान पर यहां अनियत्ती का प्रयोग हुआ है।

२. वि य (पा) ।

३. इस गाथा का एक अर्थ इस प्रकार भी किया जा सकता है कि जैसा अण्डा होता है, वैसी ही संतान होती है तथा जैसा बीज होता है, वैसा ही भोग (फल) प्राप्त होता है। कर्म के कारण व्यक्ति नाना अवस्थाओं की प्राप्ति करता है।

४. निव्वत्ती (ब, अ, स), निव्विती (पा) ।

५. विरियं (ब) ।

६. यहां 'विवण्णासो' के स्थान पर 'विवच्चासो' पाठ होना चाहिए।

७. इसमें कर्म आने के द्वारों का वर्णन है। इसके विपरीत सम्यक् निष्पत्ति, सम्यक् वीर्य, सम्यक् संकल्प और सम्यक् वितर्क—ये संवर और निर्जरा के कारण बन जाते हैं।

८. सिया (पा, ला, स) ।

९. उपक्रम का अर्थ सूयगडो (१/२/६८) में प्रयत्न भी मिलता है। यहां प्रयत्न या पराक्रम अर्थ भी संगत बैठता है। ठाणं सूत्र (४/२९१) में उपक्रम के चार भेद किए हैं—बंधन, उदीरणा, उपशम और विपरिणाम।

१४. अंकुरा खंध-खंधीया, जहा भवइ वीरुहो<sup>१</sup> ।  
कम्मं तथा तु जीवाणं, सारासारतरं चित्तं<sup>२</sup> ॥ ११ ॥

जैसे अंकुर से स्कंध, स्कंध से शाखाएं तथा उससे वृक्ष बनता है, वैसे ही जीवों के शुभ-अशुभ कर्मों का संचय होता है ।

१५. उवक्कमो य उक्केरो, संछोभो खवणं तथा ।  
बद्धपुट्टनिधत्ताणं, वेदणा तु णिकाचित्तं ॥ १२ ॥

बद्ध<sup>३</sup> स्पृष्ट और निधत्त<sup>४</sup> कर्मों का उपक्रम<sup>५</sup>, उत्केर<sup>६</sup>, संक्षोभ—संक्रमण<sup>७</sup> और क्षय हो सकता है किन्तु निकाचित्त<sup>८</sup> कर्मों का तो वेदन ही करना पड़ता है ।

१६. उक्कडुंतं जधा तोयं, सारिज्जंतं जधा जलं ।  
संखविज्जा णिदाणे वा, पावं कम्मं उदीरती ॥ १३ ॥

जिस प्रकार ऊपर उठाकर अंजलि में लिया हुआ पानी तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाने वाला जल क्रमशः क्षीण हो जाता है, (उसी प्रकार बद्ध, स्पृष्ट और निधत्त कर्म धीरे-धीरे क्षीण हो जाते हैं लेकिन) निदानकृत<sup>९</sup> कर्म अवश्य उदय में आते हैं ।

१७. अप्पा ठिती सरीराणं, बहुं पावं च दुक्कडं<sup>१०</sup> ।  
पुव्वं बज्झिज्जते पावं, तेण दुक्खं तवो मयं ॥ १४ ॥

प्राणियों के शरीर की स्थिति अल्प है और दुष्कृत पाप कर्म बहुत हैं । पूर्वजन्म में भी पापकर्म बंधे हुए हैं अतः कर्मों की निर्जरा के लिए दुष्कर तप सम्मत है ।

१. 'वीरुहा' शब्द का अर्थ 'पाइयसद्महण्णवो' में विस्तृत लता भी मिलता है ।

२. ठितं (पु, पा, ब, म) ।

३. पणवणा (२३/१३) में बंध की निम्न अवस्थाएं प्रज्ञप्त हैं —

१. बद्ध २. स्पृष्ट ३. बद्धस्पर्शस्पृष्ट ४. संचित ५. चित

६. उपचित । बद्ध का अर्थ है—कर्म योग्य पुद्गल, जो कर्म

रूप में परिणत कर दिए जाते हैं । स्पृष्ट का अर्थ है—जिन कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ एकीभाव हो चुका है ।

(प्रज्ञामटी प ४५९) दिग्म्बर परम्परा में इसे कर्मस्पर्श कहा जाता है । धवला के अनुसार कर्मों का कर्मों के साथ जो स्पर्श होता है, वह कर्मस्पर्श है । (षट्धवला पु. १३, ५/३/३३ पृ. ३६।)

४. निधत्त—बंधे हुए कर्मों का तप्त सुई के समूह की भांति अवस्थान अर्थात् निबिड़ भाव को प्राप्त कर्म-पुद्गल ।

५. टीकाकार ने यहां उपक्रम का अर्थ उत्कर्ष किया है लेकिन यह सम्यक् प्रतीत नहीं होता । (ऋवृ पृ. १३४) आचार्य महाप्रज्ञ

के अनुसार उपक्रम का अर्थ है—कर्म स्कंधों को विविध रूप में परिणत करने में हेतुभूत जीव का पुरुषार्थ विशेष अथवा कर्म स्कंधों की विभिन्न परिणतियों के आरम्भ को भी उपक्रम कहा जा सकता है । (ठाणं पृ. ५११) ।

६. उत्केर—करण विशेष, कर्मों की स्थिति आदि को बढ़ा न सकना ।

७. संक्रमण—सजातीय कर्म-प्रकृतियों का एक दूसरे में परिणमन करने को संक्रमण अथवा संक्षोभ कहा जाता है ।

८. निकाचित—जिस कर्म की उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, संक्रमण और निधत्ति न हो सके, जिसका विपाक अनिवार्य हो, उसे निकाचित कहा जाता है ।

९. मेरी तपस्या के फलस्वरूप मुझे अमुक प्रकार की भौतिक सम्पदा या ऐश्वर्य मिले, इस प्रकार के अध्यवसाय से किया गया संकल्प निदान कहलाता है ।

१०. दुक्करं (स) ।

१८. खिज्जंते<sup>१</sup> पावकम्ममि<sup>२</sup>, जुत्तजोगिस्स<sup>३</sup> धीमतो ।  
देसकम्मक्खयब्भूता, जायंते रिद्धिओ बहू ॥१५ ॥

योगयुक्त बुद्धिमान् साधक के पापकर्म क्षय हो जाते हैं। आंशिक रूप में कर्म क्षय होने पर उसे अनेक प्रकार की ऋद्धियां प्राप्त होती हैं।

१९. विज्जोसहिणिवाणोसु, वत्थु<sup>४</sup>-सिक्खागतीसु य ।  
तवसंजमपयुत्ते य, विमहे होति पच्चओ<sup>५</sup> ॥ १६ ॥

तप और संयम में उपयुक्त आत्मा कर्मों का नाश करके विद्यालब्धि, औषधिलब्धि, निपानलब्धि<sup>६</sup> (महापान लब्धि), वास्तुविद्या<sup>७</sup>, शिक्षापदों का ज्ञान तथा गति-आगति—पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का ज्ञान कर लेती है।

२०. दुक्खं खवेति जुत्तप्पा, पावं मीसे वि बंधणे ।  
जधा मीसे वि गाहम्मि<sup>८</sup>, विसपुप्फाण छडुणं<sup>९</sup> ॥ १७ ॥

जैसे विवेकशील मनुष्य मिश्रित फूलों के ढेर में से विषपुष्पों को पृथक् कर अन्य फूलों को ग्रहण कर लेता है, वैसे ही संयमयोगों में युक्तात्मा साधक मिश्रित लब्धियों के समूह से पापकारी और बंधनकारी लब्धियों का परित्याग कर दुःख का क्षय कर देता है।

२१. सम्मत्तं च दयं चेव, सम्ममासज्ज दुल्लहं ।  
ण प्पमादेज्ज मेधावी, मम्मगाहं<sup>१०</sup> जहारिओ ॥ १८ ॥

मेधावी साधक दुर्लभ सम्यक्त्व और दया को प्राप्त करके वैसे ही प्रमाद न करे, जैसे शत्रु के मर्मस्थान को प्राप्त कर उसका शत्रु प्रमाद नहीं करता।

२२. षोहवत्तिक्खए दीवो, जहा चयति संततिं ।  
आदाणबंधरोहम्मि, तहऽप्पा भवसंततिं<sup>११</sup> ॥ १९ ॥

स्नेह (तैल) और बाती के क्षय होने पर जैसे दीपक अपनी लौ की सन्तति—परम्परा का त्याग कर देता है, वैसे ही कर्मों के आदान और बंध का निरोध करने पर आत्मा भव-परम्परा का नाश कर देती है।

१. सिज्जंते (आ, पा, ला, ब)।

२. °कम्माणि (आ, अ)।

३. °जोगिस्स (ला, स, पा)।

४. चेव (पा)।

५. पुव्वओ (स)।

६. महापान लब्धि का उल्लेख व्यवहारभाष्य (गा. २७०३ टी. प. ४६) में मिलता है। इसमें सूत्र के अर्थपदों को आत्मसात् किया जाता है। आचार्य भद्रबाहु ने इसकी साधना की थी। 'निपान' शब्द महापान साधना का प्रतीत होना चाहिए। महापान ध्यान उत्कृष्टतः बारह वर्ष चक्रवर्ती के होता है, भरत चक्रवर्ती ने यह साधना की थी, छह वर्ष वासुदेव और

बलदेव के होता है, तीन वर्ष माण्डलिक तथा छह मास सामान्य व्यक्ति के हो सकता है। (व्यभा २७०१ टी प. ४५)

७. जिस विद्या से भवन आदि की रचना के आधार पर शुभ-अशुभ का निर्देश किया जाता है। वह वास्तुविद्या है। (वास्तुविद्या प्रासादादिलक्षणाभिधायि शास्त्रात्मिका। (उशांटी प. ४१७) टीकाकार ने दृष्टिवाद से सम्बन्धित वस्तु के ज्ञान की ओर इंगित किया है। (ऋवृ पृ. १३४)

८. गायम्मि (पा)।

९. बंधणं (अ)।

१०. म्मागाहं (पा)।

११. °संततिं (अ, स), °संतइ (पा)।



२३. दोसादाणे निरुद्धम्मि<sup>१</sup>, सम्मं सत्थाणुसारिणा ।  
पुव्वाउत्ते य विज्जाए, खयं वाही णियच्छती ॥ २० ॥

जैसे दोषों का आगमन रुकने पर, सम्यक् रूप से शास्त्र के अनुसार क्रिया (चिकित्सा) करके पूर्व अर्जित विद्या के द्वारा व्याधि का क्षय कर दिया जाता है, वैसे ही कर्म-व्याधि का नाश किया जाता है।

२३/१. मज्जं दोसा विसं वणही, गहावेसो अणं अरी ।  
धणं धम्मं च जीवाणं, विण्णेयं धुवमेव तं<sup>२</sup> ॥ २१ ॥

मद्य, दोष, विष, अग्नि, ग्रह का प्रकोप और ऋण—ये मनुष्य जीवन के शत्रु हैं। जीवों का शाश्वत धन धर्म है, ऐसा जानना चाहिए।

२४. कम्मादाणे निरुद्धम्मि, सम्मं मग्गाणुसारिणा ।  
पुव्वाउत्ते य णिज्जिण्णे, खयं दुक्खं णियच्छती ॥ २२ ॥

कर्मों के आदान का निरोध होने पर सम्यक् मार्ग का अनुसरण करके साधक पूर्वार्जित कर्मों के निर्जीर्ण होने पर दुःख का क्षय कर देता है।

२५. पुरिसो रहमारूढो, जोग्गाए सत्तसंजुतो ।  
विपक्खं णिहणं णेति, सम्महिट्ठी तहा अणं<sup>३</sup> ॥ २३ ॥

जैसे शक्ति सम्पन्न पुरुष रथ पर आरूढ़ होकर अपनी योग्यता से विपक्षी सेना को नष्ट कर देता है, वैसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुष अनन्तानुबंधी कषाय रूपी शत्रुओं का नाश कर देता है।

२६. वण्हमारुयसंजोगा, जहा हेमं विसुज्झती ।  
सम्मत्तनाणसंजुत्ते, तहा पावं विसुज्झती<sup>४</sup> ॥ २४ ॥

जैसे अग्नि और हवा के संयोग से सोना शुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से युक्त होने पर आत्मा पापों का शोधन कर देती है।

२७. जहा आतवसंतत्तं, वत्थं सुज्झति वारिणा ।  
सम्मत्तसंजुतो अप्पा, तहा झाणेण सुज्झती ॥ २५ ॥

जैसे आतप आदि से संतप्त (पसीने से मलिन) वस्त्र पानी से शुद्ध हो जाता है, वैसे ही सम्यग्दर्शन से युक्त आत्मा ध्यान के द्वारा पवित्र हो जाती है।

२८. कंचणस्स जहा धातू, जोगेणं मुच्चते मलं ।  
अणादीए वि संताणे, तवाओ कम्मसंकरं ॥ २६ ॥

जैसे कुछ पदार्थों के संयोग से स्वर्ण धातु का मल नष्ट हो जाता है, वैसे ही अनादि काल की परम्परा से

१. ऽवरुद्धम्मि (आ, ला) ।

२. तेवीसवीं गाथा के बाद हस्तप्रतियों में यह गाथा मिलती है लेकिन विषय-वस्तु की दृष्टि से यह गाथा प्रक्षिप्त प्रतीत होती है। सुभाषित गाथा होने के कारण यतियों के द्वारा हासिए में लिखी गई यह गाथा कालान्तर में मूल ग्रंथ के साथ जुड़ गई,

ऐसा प्रतीत होता है। विषय वस्तु की दृष्टि से भी २३ वीं गाथा

२४ वीं गाथा से सीधी जुड़ती है।

३. यह अणं अनन्तानुबंधी कषाय का प्रतीक होना चाहिए।

४. ति सुज्झति (अ, आ, ला, पा, स) ।

चलने वाले कर्म-मल तप से विनाश को प्राप्त हो जाते हैं।

२९. वत्थादिगेषु सुज्जेसु, संताणे गहणे तथा।  
दिट्ठंते देसधम्मिन्तं<sup>१</sup>, सम्ममेयं<sup>२</sup> विभावए॥ २७॥

वस्त्र आदि के शोधन में तथा कर्मों की परम्परा और ग्रहण में एकदेशीय दृष्टान्त की योजना है अतः इसे सम्यग् रूप से समझना चाहिए।

३०. आवज्जती समुद्घातो, जोगाणं च णिरुंभणं<sup>३</sup>।  
अनियट्ठी एव<sup>४</sup> सेलेसी, सिद्धी कम्मक्खओ तथा॥२८॥

आवर्जन<sup>५</sup>, समुद्घात<sup>६</sup> (केवल-समुद्घात), योगों का निरोध, अनिवृत्ति<sup>७</sup> तथा शैलेशी<sup>८</sup>—इन अवस्थाओं के द्वारा कर्मों का क्षय कर जीव सिद्धि को प्राप्त कर लेता है।<sup>९</sup>

३१. णावा व वारिमज्झम्मि, खीणलेवो अणाउलो।  
रोगी वा रोगणिम्मक्को, सिद्धो भवति णीरओ॥ २९॥

जैसे जल के मध्य रही निर्लेप नौका नदी के पार पहुंच जाती है, रोगी रोगमुक्त होकर अनाकुल बन जाता है,

१. °धम्मत्तं (स)।

२. सम्ममेवं (अ, ब)।

३. णिरुंभणं (पा, ब)।

४. एव के स्थान पर छंद की दृष्टि से 'व' पाठ होना चाहिए।

५. उदयावलिका में कर्म-स्कंधों का प्रक्षेप रूप व्यापार आवर्जन कहलाता है, यह समुद्घात से पूर्व की अवस्था है। (विभामहेटी पृ. ५९५ ; उदयावलिकायां कर्मप्रक्षेपरूपे व्यापारे चावर्जनमुच्यते।

६. आत्म-प्रदेशों का प्रबलता से शरीर के बाहर निकलना समुद्घात कहलाता है। समुद्घात सात प्रकार के होते हैं—१. वेदना २. कषाय ३. मारणान्तिक ४. वैक्रिय ५. आहारक ६. तैजस ७. केवल-समुद्घात। प्रस्तुत गाथा में जिस समुद्घात का निर्देश है, उसका संबंध केवल-समुद्घात से होना चाहिए। केवली के जब वेदनीय कर्म अधिक रहते हैं और आयुष्य कर्म कम होता है, वैसी स्थिति में उनका समीकरण करने के लिए स्वभावतः आत्मप्रदेश समूचे लोक में व्याप्त होते हैं। इसका कालमान आठ समय का होता है। प्रथम चार समयों में जीव के प्रदेश दण्ड, कपाट, मंथान और अन्तरावगाह करके सम्पूर्ण लोक का स्पर्श कर लेते हैं। अगले चार समय में वे आत्म-प्रदेश सिमटते हुए पुनः शरीर में स्थित हो जाते

हैं। जब जीव का आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त जितना शेष रहता है, तभी यह समुद्घात होता है। इस समुद्घात में आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण लोकव्यापी हो जाते हैं।

७. यहां 'अनियट्ठी' शब्द से सूत्रकार का आशय शुक्लध्यान के चौथे भेद 'समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति' से होना चाहिए। जब शरीर की श्वास-प्रश्वास आदि सूक्ष्म क्रियाएं भी बंद हो जाती हैं, आत्मप्रदेश सर्वथा निष्कंप हो जाते हैं, तब समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति ध्यान होता है। इसमें स्थूल या सूक्ष्म किसी भी प्रकार की मानसिक, वाचिक और कायिक क्रिया नहीं रहती। ध्यान के इस भेद को जिनभद्रगणिक्रमाश्रमण ने शुक्लध्यान के तीसरे भेद के अन्तर्गत रखा है, जिसके अनुसार इस अवस्था में सूक्ष्म क्रियाएं चालू रहती हैं।

८. शैल—मेरुपर्वत की भांति निष्कम्प या अडोल स्थिति को प्राप्त करना। इस स्थिति में साधु पांच ह्रस्व अक्षर क, ख, ग, घ, ङ के उच्चारण काल जितनी स्थिति में रहकर सब कर्मों से मुक्त हो जाता है।

९. इस गाथा में पांच अवस्थाओं का वर्णन है। इसमें आवर्जन और समुद्घात की स्थिति तेरहवें गुणस्थान में होती है। शेष तीन अवस्थाओं का संबंध चौदहवें गुणस्थान से होना चाहिए।

वैसे ही कर्म-लेप से क्षीण और अनाकुल साधक सिद्ध हो जाता है।

३२. पुव्वजोगा असंगत्ता<sup>१</sup>, काया वाया मणो इ वा।

एगतो आगती चेव, कम्माभावा ण विज्जती ॥ ३० ॥

मन, वचन और काया के पूर्व योगों से असंग होने पर कर्माभाव के कारण आत्मा की एक स्थान से दूसरे स्थान पर आगति नहीं होती।

३३. परं णवग्गहाभावा, सुही आवरणक्खया।

अत्थि लक्खणसम्भावा, निच्चो सो परमो धुवं ॥ ३१ ॥

(पूर्व कर्मों का संपूर्ण क्षय और) नए कर्मों के ग्रहण का अभाव हो जाने पर जीव 'पर'—सिद्धिगति को प्राप्त हो जाता है। समस्त आवरण क्षय होने से वह सुखी हो जाता है। 'अस्ति' (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) इस लक्षण से उसका सद्भाव बना रहता है। वह नित्य, परम और ध्रुव होता है।

३४. दव्वतो खेत्ततो चेव, कालतो भावतो तहा।

णिच्चाणिच्चं तु विण्णेयं, संसारे सव्वदेहिणं ॥ ३२ ॥

संसार के सब प्राणियों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नित्य और अनित्य—दोनों जानना चाहिए।

३५. गंभीरं सव्वतोभदं, सव्वभावविभावणं।

धण्णा जिणाहितं मग्गं, सम्मं वेदंति<sup>२</sup> भावतो ॥ ३३ ॥

वे लोग धन्य हैं, जो जिनेन्द्र द्वारा प्ररूपित गंभीर, सर्वतोभद्र—पूर्णतः कल्याणकारी, सब पदार्थों के प्रकाशक मार्ग का भावपूर्वक सम्यक् आचरण करते हैं।

३६. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् महाकाश्यप ऋषि) कहता हूँ।

१. असंसत्ता (अ, ब)।

२. वेदंति (स)।

दसमं तेतलिपुत्तज्झयणं

दसवां अध्ययन : तेतलिपुत्र



## १०. ऋषि तेतलिपुत्र

दसवां अध्ययन ऋषि तेतलिपुत्र के जीवन से सम्बन्धित है। इनका वर्णन ज्ञातार्थकथा के चौदहवें अध्ययन में विस्तार से प्राप्त होता है। तेतलिपुर नगर में कनकरथ नामक राजा राज्य करता था। उसकी पटरानी का नाम पद्मावती तथा अमात्य का नाम तेतलिपुत्र था। उसी नगरी की स्वर्णकार पुत्री पोट्टिला के साथ अमात्य तेतलिपुत्र का विवाह हो गया।

राज्य में अत्यन्त आसक्त होने के कारण राजा कनकरथ अपने पुत्रों का जन्म होते ही उन्हें विकलांग बना देता था, जिससे वे बड़े होकर राज्य की मांग न कर सकें। एक बार गर्भवती होने पर रानी पद्मावती ने अमात्य तेतलिपुत्र को सारी स्थिति बताई और कहा कि इस बार प्रसव होते ही तुम उस बालक का गुप्त रूप से संरक्षण करो, जिससे भविष्य में वह हम लोगों का आधार बन सके। कालान्तर में पोट्टिला और रानी पद्मावती ने एक साथ प्रसव किया। रानी पद्मावती ने सर्वलक्षण युक्त बालक का तथा पोट्टिला ने एक मृत बालिका का प्रसव किया। रानी ने गुप्त मार्ग से अमात्य तेतलिपुत्र को अंतःपुर में बुलवाया और वह बालक सौंप दिया। अमात्य ने उसके स्थान पर वह मृत बालिका लाकर रख दी। राजा को जब इसकी सूचना मिली तो उस बालिका का क्रियाकर्म कर दिया।

कालान्तर में तेतलिपुत्र पोट्टिला के प्रति पूर्णतः विरक्त हो गया। पति की विरक्ति से एक दिन वह चिन्तामग्न बैठी हुई थी। उसी समय तेतलिपुत्र ने घर में प्रवेश किया और कहा—‘तुम चिन्ता मत करो। घर में विपुल अशन-पान आदि तैयार करो और श्रमण ब्राह्मणों को वितरित करती हुई विहरण करो। एक दिन उसके घर आर्या सुव्रता की अनुगामिनी साध्वियां भिक्षार्थ आईं। उसने साध्वियों से कहा—‘आप लोग अनेक देशों में विहरण करती हैं, अनेक विद्याओं की जानकार हैं अतः कोई ऐसा वशीकरण मंत्र या प्रयोग बताओ, जिससे मैं तेतलिपुत्र के लिए पुनः प्रिय और इष्ट बन जाऊं।’

साध्वियों ने कहा—‘हम निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित हैं, ऐसी बात सुनना भी हमारे लिए कल्प्य नहीं है। वशीकरण प्रयोग बताने का तो प्रश्न ही नहीं है। साध्वियों ने उसे केवलप्रज्ञप्त धर्म बताया। धर्म का श्रवण करके उसने श्रावक के बारह व्रत स्वीकार कर लिए और सोचा कि मेरा पति जब मुझे देखना भी नहीं चाहता तो इस संसार में रहने का क्या लाभ? अच्छा है आर्या सुव्रता के पास मैं दीक्षित हो जाऊं। उसने दीक्षा के लिए तेतलिपुत्र से अनुमति मांगी। तेतलिपुत्र ने कहा—‘मैं तुम्हें दीक्षा की तभी आज्ञा दूंगा, जब तुम यह संकल्प करो कि देवलोक में जाने के बाद तुम मुझे केवलप्रज्ञप्त धर्म का संबोध दो।’ पोट्टिला ने उसकी बात को स्वीकार कर लिया। उत्साह के साथ उसका अभिनिष्क्रमण समारोह मनाया गया। श्रामण्य-पर्याय पालन करके पोट्टिला ने मासिक अनशन के साथ देवलोक गमन किया। पोट्टिल देव ने स्वर्ग में जाते ही तेतलिपुत्र को केवलप्रज्ञप्त धर्म का सम्बोध दिया लेकिन वह संबुद्ध नहीं हुआ।

इधर राजा कनकरथ के दिवंगत होने पर तेतलिपुत्र ने कनकध्वज को राज-सिंहासन पर अभिषिक्त

किया। वह अमात्य का पूर्ण सम्मान करने लगा तथा उसकी सुख-सुविधा का भी ध्यान रखने लगा। देव ने सोचा— 'इतनी सुविधाओं के कारण इसका मन भोगों से विरक्त नहीं हो रहा है अतः राजा कनकध्वज को इसके विमुख बनाने से ही यह धर्म में अनुरक्त होगा। पोट्टिलदेव ने कनकध्वज राजा को अमात्य तेतलिपुत्र के प्रति विपरीत परिणाम वाला बना दिया। उसने अमात्य को सम्मान देना एवं आलाप-संलाप करना बंद कर दिया। राजा को सम्मान न देते हुए देखकर अधिकारी एवं सामन्तों ने भी सम्मान देना बंद कर दिया। उसके परिजन एवं नौकर भी उससे विमुख हो गए। अपमानित होने के कारण वह विषण्ण हो गया। तब तेतलिपुत्र ने अध्ययन में वर्णित आत्मघात के अनेक उपाय किए लेकिन वह उसमें सफल नहीं हुआ। इससे उसकी श्रद्धा हिलने लगी। अंत में पोट्टिल देव पोट्टिला के रूप में उपस्थित हुआ और उसके समक्ष संसार के भीषण स्वरूप को प्रकट किया। तेतलिपुत्र सम्बुद्ध हो गया और शुभ चिन्तन करते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हो गया। इस प्रकार चिन्तन-मंथन पूर्वक उसने स्वयं महाव्रतों को स्वीकार किया। अशोक वृक्ष के नीचे आत्म मंथन करते हुए उसे केवलज्ञान उत्पन्न हो गया।<sup>१</sup>

आवश्यक निर्युक्ति में प्रत्याख्यान के प्रसंग में तेतलिपुत्र की कथा का उल्लेख है।<sup>२</sup> आवश्यक चूर्णि में विस्तार से तेतलिपुत्र की कथा मिलती है। साथ ही वहां इस अध्ययन के प्रारम्भ का वाक्य और ऋषिभाषित ग्रंथ का उल्लेख भी मिलता है।<sup>३</sup> ऋषिमंडल में इनके केवली होने और एक अध्ययन के कथन का निर्देश है।<sup>४</sup>

ठाणं सूत्र में जहां अनुत्तरोपपातिकदशा के अध्ययनों का उल्लेख है, उसमें आठवें अध्ययन का नाम 'तेतलि' मिलता है।<sup>५</sup> स्थानांग टीका के अनुसार ये 'तेतलि' ज्ञातार्थकथा के तेतलिपुत्र से भिन्न हैं क्योंकि वे सिद्धिगति को प्राप्त हुए और ये अनुत्तरोपपातिक विमान में उत्पन्न हुए।<sup>६</sup> टीकाकार के इस तर्क मात्र से भिन्नता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। वर्तमान में जो अनुत्तरोपपातिकदशा आगम उपलब्ध है, उसमें तेतलिपुत्र नामक अध्ययन नहीं है। इस संदर्भ में डॉ. सागरमलजी जैन का अभिमत संगत प्रतीत होता है कि ज्ञातार्थकथा में तेतलिपुत्र का वर्णन विस्तार से प्राप्त है अतः अनुत्तरोपपातिकदशा में से उनका वर्णन हटा दिया गया होगा।<sup>७</sup>

इस अध्ययन की एक विशेषता यह है कि इसमें तेतलिपुत्र ऋषि का जीवन-प्रसंग उजागर हुआ है।

१. ज्ञा १/१४/१-८८।

२. आवनि ५६५/१४;

पच्चक्खे इव दट्ठं, जीवाजीवे य पुण्णपावं च ।  
पच्चक्खाया जोगा, सावज्जा तेतलिसुतेणं ॥

३. आवचू १ पृ. ४९९-५०१।

४. ऋषिमं ९७ ;

तत्तो तेयलिपुत्तो, वयणेणं पुट्टिलाइ जाइसरो ।  
केवलनाणी भासइ, तेयलिनामं सुयज्झयणं ॥

५. ठाणं १०/११४ ; अणुत्तरोववातियदसाणं दस अज्झयणा  
पण्णत्ता, तं जहा—

इसिदासे य धण्णे य, सुणक्खत्ते कातिए ति य ।  
संठाणे सालिभदे य, आणंदे तेतली ति य ॥

६. स्थाटी प. ४८३ ; तेतलिसुत इति यो ज्ञाताध्ययनेषु श्रूयते, स  
नायं, तस्य सिद्धिगमनश्रवणात् ।

७. ऋषि पृ. ४२।

अन्य अध्यायों की भांति उनका उपदेश या शिक्षापद विशेष रूप से वर्णित नहीं है। अध्ययन के प्रारम्भ में ऋषि ने कर्मवाद को प्रकट करते हुए केवल इतना ही अभिव्यक्त किया है कि अपने स्वकृत कर्मों से ही व्यक्ति प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित होता है।

ऋषि के जीवन को प्रकट करने का एक कारण यह भी संभव है कि तेतलिपुत्र का जीवन अत्यन्त रोचक एवं रोमाञ्चक है अतः उनके जीवन को उन्हीं की भाषा में संकलित कर दिया गया। कहीं-कहीं तो ज्ञाताधर्मकथा का संवादी पाठ भी मिलता है। बौद्ध और वैदिक परम्परा में तेतलिपुत्र नाम के किसी ऋषि का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

इस अध्ययन में उपदेश का अंश क्यों नहीं है, इस संदर्भ में यह संभावना सत्य के अधिक निकट है कि आठवें अध्याय में जो उपदेश है, वह तेतलिपुत्र का होना चाहिए क्योंकि सभी प्रतियों में आठवें अध्याय में ऋषि का नाम तेतलिपुत्र मिलता है। आठवें अध्याय के संक्षिप्त उपदेश से भी इस बात की पुष्टि होती है कि वे उसमें अपने जीवन का अनुभव प्रकट कर रहे हैं। तेतलिपुत्र को सांसारिक बंधनों से बाहर निकालने के लिए उनकी दिवंगता पत्नी ने अथक श्रम किया लेकिन उनको बोधि की प्राप्ति सहज सुलभ नहीं हुई। अनेक प्रयत्नों के बाद उनको बोधि प्राप्त हुई। उन्होंने कोशिकार कीट के उदाहरण द्वारा सांसारिक बंधन और उससे मुक्ति का सुंदर चित्र प्रस्तुत किया है।

केतलिपुत्र ही तेतलिपुत्र होने चाहिए, इस बात की पुष्टि इस बात से भी होती है कि केतलिपुत्र का उल्लेख आगम और उसके व्याख्या-साहित्य में कहीं पर भी नहीं मिलता। बौद्ध और वैदिक साहित्य में भी इस नाम के कोई ऋषि दृष्टिगोचर नहीं होते। संभव है 'के' और 'ते' में उच्चारण-साम्य से यह विपर्यय हो गया हो।

इस संदर्भ में विद्वानों द्वारा एक तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है कि ऋषिभाषित की प्रथम संग्रहणी में जहां ऋषियों के नाम उल्लिखित हैं, वहां केतलि और तेतलि दोनों अलग-अलग नाम दिए गए हैं अतः इन दोनों को एक मानना कैसे संभव है? इस संदर्भ में प्रायः निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि ये दोनों संग्रहणी गाथाएं इस ग्रंथ का अंग नहीं है। बाद के किसी आचार्य ने संक्षेप में ग्रंथ का परिचय देने के लिए इनकी रचना की है। इसका एक प्रमाण यह हो सकता है कि अनेक हस्तप्रतियों में केवल पैंतालीस अध्ययन तक का पाठ है, संग्रहणी गाथाएं नहीं लिखी हुई हैं। फिर भी इस संदर्भ में और अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है कि केतलिपुत्र और तेतलिपुत्र एक ही ऋषि हैं अथवा दोनों का भिन्न-भिन्न अस्तित्व है।<sup>१</sup>

अर्हत् ऋषि होते हुए भी उन्होंने इस अध्ययन में अश्रद्धा की बात क्यों कही, यह एक आश्चर्य का विषय है। 'श्रद्धा नहीं करनी चाहिए' इस वक्तव्य से ऋषि का आशय यह होना चाहिए कि व्यक्ति को स्वजन परिजनों के सम्बन्धों पर श्रद्धा नहीं करनी चाहिए। उनके गृहस्थ जीवन का यह अनुभव था कि स्वजन होते हुए भी मैं स्वजन

१. देखें आठवां अध्याय ऋषि केतलिपुत्र पृ. ७१।



रहित हूं अतः उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि श्रमण, ब्राह्मण की बात श्रद्धेय है लेकिन मैं जो कुछ कहता हूं, वह अश्रद्धेय है।

अध्ययन के अंत में पोट्टिला ने रहस्यमयी साहित्यिक शैली में तेतलिपुत्र के समक्ष संसार का स्वरूप प्रकट किया है। उसने तेतलिपुत्र को स्वयं दीक्षा के लिए प्रेरित नहीं किया, बल्कि उसकी बात सुनकर वे स्वयं अनेक उपमाओं को प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस दुःखमय संसार में प्रव्रज्या ही शरणभूत है।<sup>१</sup> ज्ञाताधर्मकथा, आवश्यकचूर्ण और ऋषिभाषित में दी गई उपमाओं में समानता के साथ कुछ अंतर भी है।<sup>२</sup>

---

१. प्रकाशित चूर्ण में पोट्टिल देव इन उपमाओं को कह रहा है प्रकाशन की त्रुटि से ऐसा हुआ है।  
लेकिन चूर्ण को गहराई से पढ़ने पर ज्ञात होता है कि स्वयं तेतलिपुत्र ही इन उपमाओं को कह रहे हैं। संपादन या २. देखें १०/५ की टिप्पण सं. ४।

## १०. तेतलिपुत्तञ्जयणं : तेतलिपुत्र अध्ययन

१. को कं<sup>१</sup> ठावेति णण्णत्थ सगाइं 'कम्माइं इमाइं?'<sup>२</sup> 'सद्धेयं खलु भो! समणा वदंती, सद्धेयं खलु माहणा, अहमेगोऽसद्धेयं वदिस्सामि'<sup>३</sup>, तेतलिपुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं ।

अपने इन स्वकृत कर्मों के अतिरिक्त कौन किसको स्थापित करता है? वह श्रद्धेय है, जो श्रमण कहते हैं। वह श्रद्धेय है, जो ब्राह्मण कहते हैं। मैं अकेला अश्रद्धेय वचन कह रहा हूँ, ऐसा अर्हत् तेतलिपुत्र ऋषि ने कहा।

२. सपरिजणं पि णाम<sup>४</sup> ममं अपरिजणो त्ति को मे तं सद्धहिस्सति? सपुत्तं पि णाम ममं अपुत्ते त्ति को मे तं सद्धहिस्सति<sup>५</sup>? एवं समित्तं पि णाम ममं, सवित्तं पि णाम ममं, सपरिग्गहं पि णाम ममं<sup>६</sup>, दाण-माण-सक्कारोवयारसंगहिते तेतलिपुत्ते सयणपरिजणे विरागं गते, को मे तं सद्धहिस्सति? जाति-कुल-रूव-विणओवयारसालिणी पोट्टिला मूसिक्कारधूता मिच्छं विप्पडिवण्णा, को मे तं सद्धहिस्सति? कालक्क-मनीतिसत्थविसारदे<sup>७</sup> तेतलिपुत्ते विसादं गते त्ति को मे तं सद्धहिस्सति?

परिवार सहित होने पर भी मैं परिवार रहित हूँ, मेरी इस बात पर कौन श्रद्धा करेगा? पुत्र सहित होने पर भी मैं पुत्र रहित हूँ, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा? इसी प्रकार मित्र सहित होने पर भी मित्र रहित, परिग्रह युक्त होने पर भी परिग्रह रहित, दान, मान, सत्कार और उपचार से युक्त मुझ तेतलिपुत्र के प्रति स्वजन-परिजन विरक्त हो गए हैं, मेरी इस उक्ति पर कौन श्रद्धा करेगा? जाति, कुल, रूप, विनयोपचार से युक्त स्वर्णकार की पुत्री पोट्टिला मिथ्या-विप्रतिपन्न (मिथ्यात्व से प्रभावित) हो गई है<sup>८</sup>, मेरे इस वाक्य पर कौन श्रद्धा करेगा? कालक्रम से नीतिशास्त्र का विशारद तेतलिपुत्र विषाद को प्राप्त हो गया है, मेरे इस वचन पर कौन श्रद्धा करेगा?

३. तेतलिपुत्तेणं अमच्चेण गिहं पविसित्ता तालपुडके<sup>९</sup> विसे खाइते त्ति से वि य से विसे

१. हं (आ, पा, ला, ब, हे) ।

२. कम्माइमाइं (ला) ।

३. ज्ञाताधर्मकथा (१/१४/७७) में इसका संवादी पाठ मिलता है—सद्धेयं खलु भो! समणा वर्यंति। सद्धेयं खलु भो! माहणा वर्यंति। सद्धेयं खलु भो! समण-माहणा वर्यंति। अहं एगो असद्धेयं वयामि ।

४. टीकाकार के अनुसार स्वकृत कर्मों के अतिरिक्त कौन किसको नाम गोत्र में स्थापित करता है, यह अर्थ है ।

५. णामं (ब) ।

६. \*स्सती (ब, स), सर्वत्र ।

७. कुछ अंतर के साथ इसका संवादी-पाठ ज्ञाताधर्मकथा (१/१४/७७) में इस प्रकार मिलता है—“अहं सह पुत्तेहिं अपुत्ते, को मेदं सद्धहिस्सइ?, सह मित्तेहिं अमित्ते, को मेदं

सद्धहिस्सइ? सह अत्थेणं अणत्थे, को मेदं सद्धहिस्सइ, सह दारेणं अदारे को मेदं सद्धहिस्सइ? सह दासेहिं अदासे, को मेदं सद्धहिस्सइ? सह पेसेहिं अपेसे, को मेदं सद्धहिस्सइ? सह परिजणेणं अपरिजणे, को मेदं सद्धहिस्सइ?

८. \*नीतिविं (पु) ।

९. इस अध्ययन में पोट्टिला मिथ्या प्रतिपन्न हो गई, यह उल्लेख है लेकिन ज्ञाताधर्मकथा में उल्लिखित कथा के अनुसार स्वयं तेतलिपुत्र पोट्टिला के प्रति विमुख हो गया। वह उसे देखना तो दूर, नाम सुनना भी नहीं चाहता था। (ज्ञा १/१४/३६) यहाँ ऋषि ने पोट्टिला को मिथ्या प्रतिपन्न क्यों कहा, यह खोज का विषय है क्योंकि उसने तेतलिपुत्र की उदासीनता से प्रभावित होकर उसकी आज्ञा से ही श्रमणत्व स्वीकार किया था।

१०. \*पुलके (पा) ।

अपडिहते त्ति को मे तं सहहिस्सति ? तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं महतिमहालयं रुक्खं दुरुहिता पासे छिण्णे, तहावि ण मए, को मे तं सहहिस्सति ? 'तेतलिपुत्तेणं अमच्चेणं नीलुप्पल-गवलगुलिय-अयसिकुसुमप्पगासे असी खुरधारे खंधंसि णिपत्ति, से वि य से असी उव्वलेइ, को मे तं सहहिस्सति ।'<sup>१</sup> तेतलिपुत्तेण अमच्चेणं महतिमहालयं पासाणं गीवाए बंधित्ता अत्थाहाए पुक्खरिणीए अप्पा पक्खित्ते, तत्थ वि य णं थाहे लद्धे, को मे तं सहहिस्सति ? तेतलिपुत्तेण महतिमहालयं कट्टरासी<sup>२</sup> पलीवेत्ता अप्पा पक्खित्ते, से वि य से अगणिकाए विज्जाए, को मे तं सहहिस्सति ?<sup>३</sup>

तेतलिपुत्र अमात्य ने घर में प्रवेश करके तालपुट विष का भक्षण किया, फिर भी विष का प्रभाव नहीं हुआ, मेरी इस बात पर कौन श्रद्धा करेगा ? तेतलिपुत्र अमात्य ने बहुत बड़े वृक्ष पर चढ़कर रस्सी का फंदा लगाकर उसे काट दिया, फिर भी वह नहीं मरा, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा ? तेतलिपुत्र अमात्य ने अपने कंधे पर नीलोत्पल, भैंसे के सींग और अतसी कुसुम के समान प्रभा युक्त तीक्ष्ण धार वाली तलवार का प्रहार किया, वह तलवार भी कुंद हो गई, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा ? तेतलिपुत्र अमात्य ने एक बहुत बड़ी शिला को गले से बांधकर अथाह पुष्करिणी (तालाब) में स्वयं को डाल दिया, वहां भी उसने थाह को पा लिया, मेरे इस कथन पर कौन श्रद्धा करेगा ? तब तेतलिपुत्र ने विशाल काष्ठ-राशि को प्रदीप्त करके स्वयं को उसमें डाल दिया, फिर भी वह अग्नि बुझ गई, मेरे इस वाक्य पर कौन श्रद्धा करेगा ?

४. तए णं सा पुट्टिला मूसियारधूता पंचवण्णाइं सखिंखिणियाइं पवरवत्थाइं<sup>४</sup> परिहरित्ता<sup>५</sup> अंतलिक्खपडिवण्णा एवं वयासी—'आउसो! तेतलिपुत्ता! एहि ता आयाणाहि, पुरओ वित्थिण्णे गिरिसिहरकंदरप्पवाते, पिट्टओ कंपेमाणे व्व मेइणितलं, साकडुंते व्व पायवे, विप्फोडेमाणे<sup>६</sup> व्व अंबरतलं, सव्वतमोरासि व्व पिंडिते, पच्चक्खमिव सयं कतंते भीमरवं करंते महावारणे समुट्टिते, उभओ पासं चक्खुणिवातेसु पयंडधणुजंतविप्पमुक्का पुंखमेत्तावसेसा धरणिप्पवेसिणो सरा णिपत्ति, हुयवह-जालासहस्ससंकुलं समंततो पलित्तं धगधगेति सव्वारण्णं, अचिरेण य बालसूरगुंजद्धपुंजनिकरपकासं झियाति इंगालभूतं गिहं आउसो! तेतलिपुत्ता! कत्तो वयामो ?

उस समय वह स्वर्णकार की पुत्री पोट्टिला छोटे-छोटे घुंघुरुओं से युक्त पांच वर्ण वाले प्रवर वस्त्र पहनकर आकाश<sup>७</sup> में स्थित होकर बोली—'आयुष्मान् तेतलिपुत्र ! इधर आओ और इस बात को जानो कि तुम्हारे आगे गिरि-शिखर की कंदरा से विस्तृत झरना बह रहा है और पीछे पृथ्वी को कम्पित करता हुआ, वृक्षों को जड़

१. तलवार वाला पाठ केवल पा प्रति में मिलता है। यह प्रासंगिक था तथा ज्ञाताधर्मकथा में भी यह पाठ आया हुआ है अतः इसे मूलपाठ में रखा है।

२. \*रासी (आ, पा, ब)।

३. ज्ञाताधर्मकथा (१/१४/७७) में कुछ अंतर के साथ इसका संवादी पाठ मिलता है।

४. वत्थाइं पवर (पा)।

५. परिहिता (हे)।

६. णिप्फो (आ, पा, ला, पु)।

७. ज्ञाताधर्मकथा में उचित दूरी पर पोट्टिलदेव ने खड़े होकर कहा, ऐसा वर्णन मिलता है लेकिन यहां अंतरिक्ष में स्थित होकर कहा, यह विशेष अंतर है। ज्ञाताधर्मकथा (१/१४/७८) में यह संक्षिप्त पाठ है।

सहित उखाड़ता हुआ, आकाश को विदीर्ण करता हुआ, सम्पूर्ण अंधकार समूह को पिंडीभूत करता हुआ साक्षात् यमराज के समान भयंकर चींघाड़ करता हुआ महान् गजराज सामने खड़ा है।

तुम्हारे दाएं-बाएं दोनों ओर चक्षु निमेष मात्र में प्रचण्ड धनुष से छूटे हुए, पुंख मात्र दिखाई देने वाले, धरती में समा जाने वाले बाण गिर रहे हैं। प्रज्वलित आग की हजारों ज्वालाओं से सारा जंगल धूं धूं कर जल रहा है। बाल सूर्य और लाल गुंजा की प्रभा के समान अग्नि से अंगारभूत गृह शीघ्र ही जल रहा है<sup>१</sup> अतः हे आयुष्मान् तेतलिपुत्र! कहां जाएं?’

५. तते णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे पोड्डिलं मूसियारधूतं एवं वयासि—पोड्डिले! एहि ता आयाणाहि ‘भीतस्स खलु भो! पव्वज्जा, अभिउत्तस्स सवहणकिच्चं, माइस्स रहस्सकिच्चं, उक्कंठियस्स देसगमणकिच्चं, छुहियस्स<sup>२</sup> भोयणकिच्चं, पिवासियस्स पाणकिच्चं, परं अभिउंजिउकामस्स सत्थकिच्चं, खंतस्स दंतस्स गुत्तस्स जित्तिंदियस्स एत्तो ते एक्कमवि ण भवइ<sup>३</sup>।

तब तेतलिपुत्र अमात्य ने स्वर्णकार पुत्री पोड्डिला को इस प्रकार कहा—“पोड्डिले! आओ और यह जानो कि भयभीत के लिए प्रव्रज्या, अभियुक्त के लिए शपथ लेना, मायावी के लिए रहस्य बनाए रखना, उत्कंठित प्रवासी के लिए स्वदेश-गमन, भूखे के लिए भोजन, प्यासे के लिए पानी, शत्रु को पराजित करने की इच्छा रखने वाले के लिए शस्त्र शरणभूत होता है। क्षान्त, दान्त, गुप्त एवं जितेन्द्रिय के लिए प्रपात आदि भयों में से एक भी भय नहीं है।

६. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् तेतलिपुत्र ऋषि) कहता हूं।

१. ज्ञाताधर्मकथा (१/१४/७८) में इसके स्थान पर यह उल्लेख है कि गांव में आग लगने पर व्यक्ति जंगल में जाने की सोचता है और जंगल में आग लगने पर गांव में जाने की सोचता है।

२. खुहि<sup>०</sup> (ब, स, पा)।

३. ज्ञाताधर्मकथा (१/१४/७९) में कुछ अंतर के साथ इसका संवादी पाठ इस प्रकार है—भीयस्स खलु भो! पव्वज्जा, उक्कंठियस्स सदेसगमणं, छुहियस्स अन्नं, तिसियस्स पाणं, आउरस्स भेसज्जं, माइयस्स रहस्सं, अभिजुत्तस्स पच्चयकरणं, अद्धानपरिसंतस्स वाहणगमणं, तरिउकामस्स पवहणकिच्चं, परं अभिउंजिउकामस्स सहायकिच्चं, खंतस्स दंतस्स जिइंदियस्स एत्तो एगमवि न भवइ ॥

ज्ञाताधर्मकथा में अभियुक्त के लिए प्रत्ययकरण (साक्षी), पथ में श्रान्त व्यक्ति के लिए वाहन-गमन, तैरने के इच्छुक के लिए नौका—ये उपमाएं अतिरिक्त हैं। आवश्यक चूर्ण (भाग १ पृ. ५००) में भी उपमाओं में कुछ अंतर तथा क्रमव्यत्यय है—भीतस्स खलु भो! पव्वज्जा, आतुरस्स भेसज्जकिच्चं, अभिउत्तस्स पच्चयकरणं, संतस्स वाहणकिच्चं, महाजले वाहणकिच्चं, माइस्स रहस्सकिच्चं, उक्कंठितस्स देसगमणकिच्चं, छुहितस्स भोयणकिच्चं, पिवासितस्स पाणकिच्चं, सोहातुरस्स जुवतिकिच्चं, परं अभियुंजितुकामस्स सहायकिच्चं, खंतस्स.....।



एगादसमं मंखलिपुत्तज्झयणं

ग्यारहवां अध्ययन : मंखलिपुत्र



## ११. ऋषि मंखलिपुत्र गोशालक

ऋषिभाषित के ग्यारहवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—मंखलिपुत्र गोशालक। भगवान् महावीर के समय आजीवक शक्तिसम्पन्न सम्प्रदाय था, जिसके आचार्य थे—मंखलिपुत्र गोशालक।

आवश्यक निर्युक्ति एवं उसकी चूर्ण में मंखलिपुत्र गोशालक का संक्षिप्त जीवन-परिचय मिलता है। उसके अनुसार मंखलि की पत्नी भद्रा ने गोबहुल नामक ब्राह्मण की गोशाला में पुत्र का प्रसव किया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका गौण नाम गोशालक रख दिया गया।<sup>१</sup> पिता की भांति वह भी मंख-विद्या का प्रयोग करता था।<sup>२</sup> बौद्ध साहित्य में मंखलि नाम क्यों पड़ा, इस सम्बन्ध में एक कथा मिलती है। उसके अनुसार गोशालक दास था। एक बार वह तैल का घड़ा उठाकर ले जा रहा था। फिसलन भूमि आने पर उसके स्वामी ने कहा—‘तात! मा खलि, मा खलि’। असावधानी के कारण गोशालक स्खलित हो गया और तैल भूमि पर फैल गया। वह आगे-आगे भागने लगा। स्वामी ने उसका वस्त्र पकड़ लिया। वस्त्र छोड़कर वह नंगा ही भागने लगा। उसे देखकर लोग उसे मंखलि कहने लगे।<sup>३</sup>

राजगृह नगरी की बाहिरिका नालंदा के तंतुवायशाला में गोशालक ने भगवान् से शिष्यत्व स्वीकार करने की प्रार्थना की लेकिन भगवान् ने उसे अस्वीकार कर दिया। चातुर्मास के अंत में जब भगवान् ने कोल्लाक सन्निवेश में चतुर्थ मासखमण का पारणा किया, तब पुनः प्रार्थना करने पर भगवान् ने उसे शिष्य रूप में स्वीकार कर लिया। गोशालक छह वर्षों तक भगवान् के शिष्य रूप में रहा।<sup>४</sup> उसकी सम्पूर्ण प्रव्रज्या-पर्याय २४ वर्ष की रही। पार्श्वपत्नीय छह साधुओं (दिशाचरों) के संसर्ग से वह अष्टांग निमित्त का ज्ञाता हो गया।<sup>५</sup> भविष्यवाणियों करने से जनता के मध्य उसका प्रभाव बढ़ने लगा। निमित्तज्ञान के चमत्कार से उस समय उसके अनुयायियों की संख्या महावीर से भी अधिक थी।<sup>६</sup> ऋषिभाषित ग्रंथ में उसको एक ऋषि के रूप में स्वीकृत करना भी उसके प्रभावशाली व्यक्तित्व का एक पक्ष है।

आचार्य महाप्रज्ञ की दृष्टि में मंखलि गोशालक के प्रति जनता के आकर्षण के मुख्य दो कारण रहे—ज्योतिष विद्या द्वारा भविष्य-कथन तथा उग्र तपश्चर्या।<sup>७</sup> इन दोनों कारणों से ऋषि मंखलिपुत्र बहुजनमान्य और ख्यातिप्राप्त धर्मनायक बन गये। आचार्य नरेन्द्रदेव के अनुसार आजीवक पंचाग्नितप करते थे। उत्कटुक रहते थे।

१. पाणिनी ने भी गोशाला में उत्पन्न होने वाले को गोशाल कहा है। (पाणिनी ४/३/३५ ; गोशालायां जातः गोशालः)
२. आवनि २८८, आवचू १ पृ. २८२।
३. भगवती भाष्य के पन्द्रहवें शतक का आमुख पृ. २४१।
४. भ १५/५२-५६, विस्तार हेतु देखें भभा ४ पृ. ३०८, ३०९।
५. भ १५/७७।
६. गोशालक के अनुयायियों की संख्या ११ लाख ६१ हजार थी।

७. ठाणं सूत्र में आजीविकों के चार प्रकार के तप का निर्देश है—१. उग्रतप—तीन दिन का उपवास आदि २. घोरतप—कठोर तप ३. रसनिर्यहण—घृत आदि रस का त्याग ४. जिह्वेन्द्रिय प्रतिसंलीनता—मनोज्ञ-अमनोज्ञ आहार में राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति। (ठाणं ४/३५०; आजीवियाणं चउव्विहे तवे पण्णत्ते, तं जहा—उग्गतवे घोरतवे रसणिज्जूहणता जिब्भंदिय पडिसंलीणता।)



चमगादड़ की भांति हवा में झूलते थे। उनकी इस कष्टपूर्ण दिनचर्या के कारण लोगों में उनका मान था। लोग उनसे ज्योतिष् सम्बन्धी प्रश्न पूछते थे।<sup>१</sup>

अंतिम समय में सम्यक्त्व प्राप्त होने पर तथा सरल हृदय से आत्मालोचन करने के कारण वे बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुए। मंखलिपुत्र गोशालक का आजीवक सम्प्रदाय उनके दिवंगत होने के बाद भी हजार वर्ष तक चला।

भगवान् महावीर के जीवन के साथ मंखलिपुत्र गोशालक के अनेक घटना प्रसंग हैं, जो भगवती के पन्द्रहवें शतक, आवश्यक निर्युक्ति<sup>२</sup>, आवश्यक चूर्ण<sup>३</sup>, आवश्यक निर्युक्ति हारिभद्रीय टीका एवं मलयगिरि टीका में वर्णित हैं।<sup>४</sup> उपासकदशा सूत्र में कुंडकौलिक श्रमणोपासक के प्रसंग में मंखलिपुत्र के नियतिवाद की चर्चा मिलती है।<sup>५</sup> सद्दालपुत्र भी पहले नियतिवाद का अनुयायी था लेकिन बाद में वह महावीर के सिद्धान्तों से प्रभावित होकर निर्ग्रन्थ धर्म का अनुयायी हो गया।<sup>६</sup> डॉ. ए. एल. वाशम ने History and Doctrines of Ajivaks नामक पुस्तक में गोशालक और आजीवक सम्प्रदाय का विस्तार से वर्णन किया है। दिगम्बर परम्परा में इनको पार्श्वनाथ की परम्परा का मुनि माना है।<sup>७</sup>

बौद्ध साहित्य दीघनिकाय के सामञ्जसफलसुत्त में मक्खलि गोशालक का वर्णन मिलता है<sup>८</sup> लेकिन कहीं-कहीं उसका विकृत रूप भी प्रस्तुत हुआ है।<sup>९</sup>

डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार महाभारत शांतिपर्व में वर्णित मंकिऋषि ही मंखलिपुत्र गोशालक होने चाहिए क्योंकि मंकी गीता में नियतिवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जो कुछ घटित होता है, वह प्रयत्न और पुरुषार्थ से नहीं अपितु दैवलीला से घटित होता है। हठपूर्वक पुरुषार्थ करने पर भी सफलता नहीं मिलती तो यही मानना चाहिए कि उसमें नियति या दैव ही कार्य कर रहा है।<sup>१०</sup>

महाभारत के शांतिपर्व में मंकिऋषि से सम्बन्धित घटना मिलती है। उन्होंने तृष्णा से अभिभूत होकर दो बछड़े पाले। एक बार रस्सी से दोनों बछड़ों को बांधकर उन्हें चरने के लिए छोड़ दिया। दोनों बछड़े वहां पहुंचे, जहां हरी घास में गर्दन छिपाए एक ऊंट बैठा था। गर्दन पर भार पड़ने से ऊंट अचकचाकर उठा। दोनों बछड़े गर्दन पर

१. बौद्धधर्मदर्शन पृ. ४।

२. आवनि १ गा. २८७-३००।

३. आवचू १ पृ. २८२-९२।

४. घटना प्रसंगों के विस्तार हेतु देखें आवश्यक निर्युक्ति १ पृ. ३८४-८९।

५. उपा ६/१८-२४।

६. उपा ७/८-३१।

७. भावसंग्रह गा. १७६।

८. दीघ खण्ड १ पृ. ४१ २/१/३ ; अयं देव मक्खलिगोसालो

संघी चैव गणी चैव गणाचरियो च जातो यसस्सी तित्थकरो साधुसम्मतो बहुजणस्स रत्तञ्जू चिरपब्बजितो अद्भगतो वयो अनुप्पत्तो।

९. अंगु ३/५ पृ. ३७५ ; यानि कानिचि पुथु समण ब्राह्मण वादानं मक्खलिवादो तेसं पटिकिट्ठो अक्खायति—अर्थात् जितने भी अन्य श्रमण-ब्राह्मण के मतवाद हैं, उनमें मक्खलि का मतवाद सबसे निकृष्ट है।

१०. ऋषि पृ. ४४।

लटकने लगे। भार से बछड़ों ने अपना दम तोड़ दिया। बछड़ों की दुर्दशा देखकर मंकिऋषि बोल उठे—

मणीवोष्टस्य लम्बेते, प्रियौ वत्सतरौ मम। दैवं हि शुद्धमेवेदं, हठेनैवास्ति पौरुषम् ॥ १२ ॥

यदि वाऽप्युपपद्येतं, पौरुषं नाम कर्हिचित्। अन्विध्यमाणं तदपि, दैवमेवावतिष्ठते ॥ १३ ॥

मेरे प्यारे बछड़े मणि के समान ऊंट की गर्दन में लटक रहे हैं। इसको शुद्ध दैव ही मानना चाहिए, पौरुष केवल हठमात्र है।<sup>१</sup>

मंकिऋषि का यह कथन नियतिवाद से प्रभावित लगता है लेकिन मंकिऋषि ही मंखलि गोशालक हैं, यह अभी शोध का विषय है। आचार्य उदयवीरशास्त्री मंङ्गि और मंङ्गलि को एक मानने में सहमत नहीं हैं। इस संदर्भ में उन्होंने अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा है कि महाभारतकार को यदि 'मखलि गोशाल' नाम से प्रसिद्ध व्यक्ति का वर्णन अपेक्षित होता तो वह अपनी रचना में उसी नाम का प्रयोग करते। रचना क्योंकि संस्कृत भाषा में है तो 'मखलि' पद के संस्कृत रूप 'मस्करी' का प्रयोग करता। 'मखलि' पद को 'मङ्गि' इस रूप से विकृत करने में ग्रन्थकार का कोई प्रयोजन या अन्य कारण दिखाई नहीं देता। मङ्गि और मखलि के अभिन्न व्यक्ति होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। यत्किञ्चित् विचार साम्य को दोनों की एकता का साधक नहीं कहा जा सकता। विचार-साम्य अनेक आचार्यों का सम्भव है, जिनकी भिन्नता, काल-देश भेद आदि से सर्वथा निश्चित है। यदि ऐसी विचार-समानता पर दो विभिन्न व्यक्तियों को एक मान लिया जाता है तो किसी भी एक सम्प्रदाय के पूर्वापर-कालवर्ती आचार्यों की अनेकता खटाई में पड़ जाएगी।<sup>२</sup>

ऋषि मंखलिपुत्र के उपदेश का प्रारंभ इस बात से होता है कि शिष्ट व्यक्ति की भांति बाह्यज्ञान करने पर भी व्यक्ति अज्ञानी रहता है। जो सम्यग्ज्ञान से युक्त है, वही षट्जीवनिकाय का त्राता हो सकता है। ऋषि कहते हैं कि परिस्थिति आने पर जो व्यक्ति कम्पित होता है, उसका वेदन करता है, क्षुभित होता है, वह आत्मा की रक्षा नहीं कर सकता क्योंकि वह परिस्थिति आने पर उन-उन भावों में परिणत हो जाता है। अनुकूल परिस्थिति में प्रसन्न तथा प्रतिकूल में विषण्ण बन जाता है। जो क्रिया को देखकर न कम्पित होता है, न उसका वेदन करता है, न क्षुब्ध होता है, न स्पंदित और विचलित होता है, वह दुःख की उदीरणा नहीं करता तथा उन-उन भावों में परिणत न होने से हर परिस्थिति में संतुलित रहता है और प्रतिक्रिया न करने से वह षट्जीवनिकाय का रक्षक होता है।

सूत्र में प्रयुक्त एजन, व्येजन, क्षोभन, घट्टन, स्पंदन, चालना और उदीरणा—ये सातों शब्द कम्पन के अर्थ में एकार्थक होते हुए भी उसकी विविध अवस्थाओं को प्रकट करने वाले हैं। ऋषि ने अध्ययन का प्रारंभ गद्य में किया है लेकिन बाद में पांच गाथाओं में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। ऋषि मंखलिपुत्र का मंतव्य है कि जो असम्मूढ़ नेता होता है तथा मार्ग के दोषों का ज्ञाता होता है, वह गंतव्य लक्ष्य को जानकर अन्य लोगों को भी लक्ष्य की प्राप्ति करवा देता है। प्रतिभ्रोतगामी व्यक्ति ही लक्ष्य-प्रतिबद्ध रहकर लक्ष्य तक पहुंच सकता है।<sup>३</sup>

१. महा शांति १७६/५-१४।

३. दशचूला २/२ ; पडिसोयलद्धलक्षणेणं।

२. सांख्यदर्शन का इतिहास पृ. ६८४, ६८५।

जो वैद्य षट्कर्म और शल्यक्रिया में निपुण होता है, वह साध्य रोगों से रोगी को मुक्त कर देता है, वैसे ही बुद्धिमान् और शक्तिसम्पन्न साधक जो विद्या और साधना का ज्ञाता होता है, वह विद्या को सिद्ध करके शीघ्र ही अपने कार्य को सम्पन्न कर लेता है।

अंत में ऋषि कहते हैं कि जो मोक्षमार्ग की रचना को भलीभाँति जान लेता है, वह राग-द्वेष का निराकरण करके सिद्धिगति को प्राप्त करेगा। यहां गाथा में भविष्यकाल की क्रिया का प्रयोग किया गया है। यह क्रिया निश्चित बात को प्रकट करती है। पूरे अध्ययन में नियतिवाद को प्रकट करने वाला कोई वाक्य या तत्त्व है तो वह 'गमिस्सति' प्रतीत होता है। इस अध्ययन को पढ़कर यह तर्क मन में उपस्थित होता है कि मंखलि गोशालक नियतिवादी थे फिर उन्होंने अपने उपदेश में स्पष्ट रूप से नियतिवाद का उल्लेख क्यों नहीं किया? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि या तो यह अध्ययन उस समय कहा गया, जब उनको यथार्थ दृष्टि की प्राप्ति हो गई अथवा उन्होंने नियतिवाद को प्रकट करना उचित नहीं समझा। डॉ. सागरमलजी जैन अध्ययन में वर्णित उपदेश को नियतिवाद के रूप में ढालते हुए कहते हैं—'मंखलिपुत्र के उपदेश का तात्पर्य यही है कि विश्व की घटनाएं अपने क्रम से घटित होती रहती हैं। व्यक्ति के नहीं चाहने पर भी जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियां आती हैं। जो व्यक्ति जीवन की अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में इन्हें पुद्गल की परिणति समझकर अप्रभावित, अक्षुभित और अनाहत रहता है, वही साधक चतुर्गति रूप इस संसार से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है। .....संसार की अपनी एक व्यवस्था और गति है, वह उसी के अनुसार चल रहा है। साधक को उसका ज्ञाता-द्रष्टा तो होना चाहिए किन्तु द्रष्टा के रूप में उससे प्रभावित नहीं होना चाहिए। नियतिवाद की मूलभूत आध्यात्मिक शिक्षा यही हो सकती है कि हम संसार के घटनाक्रम के साक्षी रहें।<sup>१</sup> उनके इस उपदेश से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके नियतिवाद का मुख्य उपदेश अनासक्त जीवन के निर्माण के लिए है। यही बात हमें भगवद्-गीता के उपदेश में मिलती है। वहां भी नियतिवाद का उपदेश व्यक्ति की फलासक्ति को समाप्त करने के लिए दिया गया है।<sup>२</sup>

निष्कर्षतः यह अध्ययन साधक को हर परिस्थिति में अकम्प, स्थिर और अप्रभावित रहने की प्रेरणा देता है।

१. ऋषि पृ. १५।

२. ऋषि पृ. ४४।

## ११. मंखलिपुत्तञ्जयणं : मंखलिपुत्र अध्ययन

१. 'सिद्धयणे व्व आणच्चा अमुणी। संखाए य णच्चा एस तातिते'<sup>१</sup>, मंखलिपुत्तेण अरहता इसिणा बुद्धं।

शिष्ट व्यक्ति की तरह बाह्य सब कुछ जानने पर भी वह अज्ञानी है। सम्यग् ज्ञान से जानने वाला त्राता होता है, ऐसा अर्हत् मंखलिपुत्र ऋषि ने कहा।

२. से एजति वेयति<sup>२</sup> खुब्भति घट्टति फंदति चलति उदीरति, तं तं भावं परिणमति, ण से ताती। से णो एजति णो वेदति णो खुब्भति णो घट्टति णो फंदति णो चलति णो उदीरति<sup>३</sup>, णो तं तं भावं परिणमति, से ताती।

जो व्यक्ति किसी भी क्रिया को देखकर कम्पित होता है, उसका वेदन करता है, क्षुब्ध होता है, आहत होता है, स्पन्दित होता है, विचलित होता है, उदीरणा करता है और उन-उन भावों या पदार्थों में परिणत होता है<sup>४</sup>, वह त्राता (षट् जीवों का रक्षक) नहीं होता। जो व्यक्ति क्रिया को देखकर कम्पित नहीं होता, वेदन का अनुभव नहीं करता, क्षुब्ध नहीं होता, आहत नहीं होता, स्पन्दित और विचलित नहीं होता, (दुःख की) उदीरणा नहीं करता तथा उन-उन भावों में स्वयं को परिणत नहीं करता, वह मुनि त्राता—रक्षक कहलाता है।

३. तातीणं च खलु णत्थि एजणा 'वेयणा खोभणा घट्टणा फंदणा चलणा उदीरणा तं तं भावं परिणामे।'<sup>५</sup> ताती खलु अप्पाणं च परं च चाउरंताओ संसारकंताराओ तातीति ताई।

त्राता मुनि को न कम्पन होता है, न वेदन होता है, न क्षोभ होता है, न घट्टन होता है, न स्पन्दन होता है, न

१. सिद्धयणे व्व मुणी संखाए आणच्च एस (पा, हे) सिद्धिं आणच्च मुणी संखाए य णच्चा, एस तातिते (अ, ब, स, आ, ला)।

२. वेदति (ब) वेयति के संस्कृत रूप दो बन सकते हैं— वेदति, व्येजति अर्थात् वेदन करना और व्येजन—विशेष रूप से कम्पन करना, यहां दोनों अर्थ संगत हो सकते हैं।

३. पुनरावृत्ति होने के कारण अ, ब और हे प्रति में केवल प्रथम अक्षर का संकेत है, पूरा पाठ नहीं है। जैसे णो ए णो वे आदि।

४. जैन दर्शन के अनुसार कम्पन जीव और पुद्गल— इन दो द्रव्यों में होता है। जीव में कम्पन होता है, इसका उल्लेख भगवती सूत्र (३/१४३) में मिलता है। वहां भगवान् ने स्पष्ट विवेचन किया है कि जो जीव हिंसा आदि क्रियाओं में प्रवृत्त है, दूसरों को दुःख देता है, तब वह एजन, व्येजन आदि को प्राप्त करता है तथा उन-उन भावों में परिणत होता

है। जो हिंसा, आरंभ आदि प्रवृत्तियों में प्रवृत्त नहीं होता, सचेत रहता है, वह एजन—कम्पन आदि को प्राप्त नहीं होता तथा उन-उन भावों में परिणत नहीं होता। (भ ३/१४३-४८)

आचार्य महाप्रज्ञ ने भगवती भाष्य में विस्तार से इनकी व्याख्या की है। उनके अनुसार उदीरणा के पश्चात् विभिन्न रूपों में परिणमन की बात कही गई है अतः एजन आदि परिणमन की पूर्व अवस्थाएं हैं। एजन से परिणमन का प्रारम्भ होता है, वह उदीरणा तक चलता है। इन सात अवस्थाओं के बाद वह परिणामान्तर होता है। पूर्ववर्ती परिणमन परिवर्तित होकर उत्तरवर्ती परिणमन को प्राप्त हो जाता है। परिणमन व्यञ्जन पर्याय है। जीव और पुद्गल की आपसी सक्रियता है। (भभा २ पृ. ६८-७०)

५. × (पा)।

विचलन होता है, न उदीरणा होती है और न उन-उन भावों में परिणति होती है।<sup>१</sup> रक्षक मुनि इस चातुरन्त संसार रूपी अटवी से अपनी और दूसरों की रक्षा करता है, इसलिए वह त्राता है।

#### ४. असंमूढो उ जो णोता, मग्गदोसपरक्कमो।

गमणिज्जं गतिं णाउं, जणं पावेति गामिणं ॥ १ ॥

मार्ग के दोषों को दूर करने में पराक्रम करने वाला असम्मूढ नेता गंतव्य लक्ष्य को जानकर चलने वाले लोगों को लक्ष्य प्राप्त करवा देता है।

#### ५. सिट्ठकम्मो<sup>२</sup> तु जो वेज्जो, सत्थकम्मे य कोविदो।

मोयणिज्जातो सो वीरो, रोगा मोएति रोगिणं ॥ २ ॥

जो कर्म (षट् कर्म) और शस्त्र कर्म—शल्य क्रिया में निपुण होता है, वह वीर वैद्य साध्य रोगों से रोगी को मुक्त कर देता है।

#### ६. संजोए जो<sup>३</sup> विहाणं तु, दव्वाणं गुणलाघवे।

सो 'उ संजोगणिप्फणं'<sup>४</sup>, सव्वं कुणति कारियं ॥ ३ ॥

जो द्रव्यों के गुणों के भेदों की सूक्ष्मता के विधान को जानकर उनका संयोजन करता है, वह संयोग से होने वाले सब कार्यों को निष्पन्न कर लेता है।

#### ७. विज्जोवयारविण्णाता, जो धीमं सत्तसंजुतो<sup>५</sup>।

सो विज्जं साहइत्ताणं, कज्जं कुणति तक्खणं ॥ ४ ॥

जो शक्तिसंपन्न और बुद्धिमान् साधक विद्याओं के उपचार (साधना) का विज्ञाता है, वह विद्या को सिद्ध करके शीघ्र ही कार्य को सम्पन्न कर लेता है।

१. कम्पन के अर्थ में एजन आदि सात शब्दों का उल्लेख है। ये सभी शब्द हलन-चलन की उत्तरोत्तर अवस्थाओं के द्योतक हैं—

\* एजन—सामान्य कंपन।

\* व्येजन—विशेष कंपन।

\* क्षोभण—तीव्रता से क्षुब्ध करना अथवा किसी वस्तु में प्रवेश करना।

\* घट्टन—सब दिशाओं में चलना अथवा दो वस्तुओं का आपस में संघर्षण।

\* स्पंदन—किंचित् हलन-चलन।

\* चालना—इधर-उधर थोड़ा हिलाना।

\* उदीरणा—प्रबलता से इधर-उधर करना या गति कराना। भगवती सूत्र में इन शब्दों का क्रम इस प्रकार मिलता है—एजन, व्येजन, चलन, स्पन्दन, घट्टन, क्षोभण, उदीरणा। (भ ३/१४३)

२. सिद्धक<sup>०</sup> (ब) टीकाकार ने शिष्टकर्मा अर्थ किया है। (ऋवृ पृ. १३६)

३. वि (पा)।

४. संजोगेण णिं (पा)।

५. °जुतो (ला)।

८. निव्वत्तिं मोक्खमग्गस्स, सम्मं जो तु विजाणति ।

रागदोसे णिराकिच्चा, से उ सिद्धिं गमिस्सति ॥५ ॥

जो साधक मोक्ष-मार्ग की रचना को भलीभांति जान लेता है, वह राग-द्वेष का निराकरण करके सिद्धिगति को प्राप्त करेगा ।

९. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् मंखलिपुत्र<sup>१</sup> ऋषि) कहता हूँ ।

---

१. टीकाकार ने मंखलिपुत्र का संस्कृत रूपान्तरण मस्करिपुत्र किया है । (ऋवृ पृ. १३६)



बारसमं जणवक्कज्झयणं

बारहवां अध्ययन : याज्ञवल्क्य





## १२. ऋषि याज्ञवल्क्य

बारहवें अध्ययन के उपदेष्टा ऋषि हैं—याज्ञवल्क्य। जैन आगम एवं उसके व्याख्या-साहित्य में याज्ञवल्क्य के जीवन पर कोई विवरण नहीं मिलता। वैदिक परम्परा में ये ब्रह्मविद्या के महान् तत्त्वद्रष्टा ऋषि माने जाते हैं तथा अनेक ग्रंथों में इनके बारे में विस्तृत चर्चा मिलती है।<sup>१</sup> ब्रह्माण्डपुराण में इनको महान् तेजस्वी, तपस्वी और ब्रह्मवेत्ता ऋषि बताया गया है।<sup>२</sup> इस संदर्भ में एक बिंदु यह भी विमर्शनीय है कि याज्ञवल्क्य नामक कोई एक ही ऋषि हुए हैं या उनकी परम्परा चली, जैसे आदि शंकराचार्य के नाम से उनकी पीठ पर बैठने वाला आज भी शंकराचार्य कहलाता है। ऐसा संभव लगता है कि राजा जनक के समय होने वाले याज्ञवल्क्य अत्यन्त प्रसिद्ध हुए, बाद में उनके नाम की परम्परा चलने लगी।

याज्ञवल्क्य के नाम से याज्ञवल्क्य स्मृति और याज्ञवल्क्य संहिता भी मिलती है। शतपथ ब्राह्मण तथा भागवत में इनके गुरु का नाम वैशम्पायन मिलता है। एक बार उन्होंने गुरु वैशम्पायन को लगे ब्रह्महत्या के पाप का मार्जन करने की गर्वोक्ति की। गुरु ने रुष्ट होकर अपना ज्ञान वापस मांगा। उनकी आज्ञा से उन्होंने सारी विद्या उगल दी। वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तीतर बनकर उस ज्ञान को चुग लिया इसलिए उनकी शाखा तैत्तिरीय कहलाई। ज्ञान नष्ट होने पर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की स्तुति की।<sup>३</sup> सूर्य का वरदान प्राप्त करके वे शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता के आचार्य बने<sup>४</sup> तथा सरस्वती इनके समक्ष प्रकट हुई।<sup>५</sup> इनकी दो पत्नियां थीं—कात्यायनी और मैत्रेयी।<sup>६</sup> मैत्रेयी ब्रह्मविद्या में निष्णात तथा कात्यायनी सामान्य स्त्री थी। महाभारत के शांतिपर्व में याज्ञवल्क्य राजा जनक को उपदेश देते हैं। बृहदारण्यक के तीसरे अध्याय में भी याज्ञवल्क्य को विदेह जनक का गुरु बताया है। लेकिन ये याज्ञवल्क्य ऋषि अन्य होने चाहिए क्योंकि ऋषिभाषित का कोई भी ऋषि भगवान् अरिष्टनेमि से पूर्ववर्ती नहीं है। राजा जनक भगवान् अरिष्टनेमि से पूर्ववर्ती हैं अतः महाभारत में वर्णित इस याज्ञवल्क्य के साथ ऋषिभाषित के याज्ञवल्क्य का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता। फिर भी इस विषय पर विद्वानों को शोध करना अपेक्षित है कि विदेह राजा जनक के समय होने वाले याज्ञवल्क्य ऋषि ही ऋषिभाषित के ऋषि हैं अथवा याज्ञवल्क्य की परम्परा चलाने वाला कोई अन्य ऋषि।

बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि इन्होंने उद्दालक से ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त किया था।<sup>७</sup> संभव है ये ऋषिभाषित के ही पैंतीसवें अध्याय के उद्दालक ऋषि हों।<sup>८</sup>

१. बृहदा २/४/१-१४।

२. ब्रह्माण्ड १/२/३३/४५, पृ. ५२; याज्ञवल्क्यो महातेजास्तपस्वी ब्रह्मवित्तमः।

३. भारतीय संस्कृति कोश पृ. ७४५, भारतीय व्यक्ति कोश पृ. १७९।

४. महा शांति ३२३/६-१२, पौराणिक संदर्भ कोश पृ. ५९८।

५. महा आदि ६३/२६।

६. बृहदा ४/५/१; अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतु मैत्रेयी च कात्यायनी च।

७. बृहदा ६/५/४।

८. याज्ञवल्क्य के बारे में विस्तार हेतु देखें उपनिषदों के ऋषि पृ. ३२-३४।

अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए ऋषि कहते हैं कि जब तक लोकैषणा<sup>१</sup> है, तब तक वित्तैषणा है। इसी प्रकार जब तक वित्तैषणा है, तब तक लोकैषणा है।<sup>२</sup> बृहदारण्यक में प्राप्त उपदेश की समानता के आधार पर कहा जा सकता है कि ये ऋषिभाषित के ऋषि याज्ञवल्क्य ही होने चाहिए। लोकैषणा और वित्तैषणा को सम्यक् प्रकार से जानकर साधक को गोपथ अर्थात् पतली पगडंडी से चलना चाहिए। यहां 'गोपथ' संयम का वाचक है। साधक बाह्य आकर्षणों से मुक्त होकर गोपथ की भांति अपनी आकांक्षाओं को सीमित करे तथा महापथ—आस्रव और असंयम के खुले मार्ग पर न चले।

मुनि की भिक्षाचर्या को रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं कि जैसे कबूतर, गौरैया और गाय प्रातःकालीन भोजन हेतु भ्रमण करते हैं, वैसे ही गोचरी हेतु प्रविष्ट मुनि न किसी से बात करे और न ही किसी पर क्रोध करे। यह गाथा इकचालीसवें अध्ययन की सतरहवीं गाथा में भी पुनरुक्त हुई है। गोचरी<sup>३</sup>, माधुकरि<sup>४</sup> और कापोती<sup>५</sup> भिक्षा का वर्णन अन्य ग्रंथों में भी मिलता है लेकिन कर्पिंजल (गौरैया) का रूपक ऋषि ने नवीन प्रस्तुत किया है। ऋषि कहते हैं कि जो मुनि पंच वनीपक दोषों से मुक्त शुद्ध भिक्षा की एषणा करता है तथा हनन, पचन-पाचन आदि दोषों से मुक्त होकर नवकोटि विशुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है, उस मुनि को प्राप्त भिक्षा का बहुत अधिक लाभ मिलता है।

अंत में ऋषि ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात कही है कि साधु को अपने वेश के अनुरूप आचरण करना चाहिए। मुनि वेश कलंकित न हो जाए, इसके लिए प्रतिपल जागरूक रहना चाहिए। अपने और दूसरों के क्रोध के विपाक के बारे में चिन्तन करते रहना चाहिए। क्रोध के विपाक का चिन्तन करने वाला साधक क्रमशः क्रोध को उपशान्त या क्षीण करता चला जाता है।

अध्ययन की विषयवस्तु से ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि होते हुए भी बाद में ये निवृत्तिमार्ग के उपदेशक बन गए। डॉ. सागरमलजी जैन ने भी इस बात की पुष्टि की है कि प्रारम्भ में ये यज्ञ-परम्परा के समर्थक रहे हों लेकिन बाद में निवृत्तिवादी श्रमणधारा की ओर मुड़ गए।<sup>६</sup>

संक्षिप्त होते हुए भी यह अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऋषि ने सूत्रात्मक शैली में अपने विचारों को प्रस्तुत किया है।

१. यहां लोकैषणा से ऋषि का तात्पर्य इंद्रिय-विषय होना चाहिए।
२. बृहदा ३/५/१ ; एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्या चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा, या वित्तैषणा सा लोकैषणाभे ह्येते एषणे एव भवतः।
३. भाग ५/५/३४ ; एवं गो-मृग काकचर्यया व्रजंस्तिष्ठन्नासीनः शयानः काक-मृग गोचरितः.....।
४. (क) धम्म, पुष्पवग्ग ४/४९ ; यथापि भमरो पुष्कं, वण्णगंधमहेठयं। पलेति रसमादाय, एवं गामे मुनी चरे ॥  
(ख) महा उद्योग ३४/१७; यथा मधु समादत्ते, रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः। तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य, आदद्यादविहिंसया ॥
५. (क) महा शांति २४९/२४ ; कुम्भधान्यैरुञ्छशलैः कापोतीं चास्थितास्तथा।....  
(ख) उ १९/३३; कावोया जा इमा वित्ती।
६. ऋषि पृ. ४५।

## १२. जणवक्कज्झयणं : याज्ञवल्क्य अध्ययन

१. 'जाव<sup>१</sup> जाव<sup>२</sup> लोएसणा, ताव ताव वित्तेसणा, जाव जाव वित्तेसणा, ताव ताव लोएसणा । से लोएसणं च<sup>३</sup> वित्तेसणं च परिण्णाय गोपहेणं गच्छेज्जा, णो महापहेणं गच्छेज्जा<sup>४</sup>, जणवक्केण अरहता इसिणा बुद्धंतं; तं जहा—

जब तक लोकैषणा है, तब तक वित्तैषणा है। जब तक वित्तैषणा है, तब तक लोकैषणा है। लोकैषणा और वित्तैषणा को सम्यग् प्रकार से जानकर साधक गोपथ<sup>५</sup> (पतली पगडंडी) से जाए, महापथ से न जाए, अर्हत् याज्ञवल्क्य ऋषि ने ऐसा कहा।

२. जहा कवोता य कविंजला य,  
गावो<sup>६</sup> चरंती इह<sup>७</sup> पातरासं।  
एवं मुणी गोयरियप्पविट्ठे,  
णो आलवे<sup>८</sup> णो वि य संजलेज्जा ॥ १ ॥

जैसे कबूतर, कपिंजल—(गौरैया) और गाय प्रातःकालीन भोजन के लिए भ्रमण करते हैं, वैसे ही गोचरी के लिए प्रविष्ट मुनि न किसी से बात करे और न किसी पर क्रोध करे।

३. पंचवणीमकसुद्धं, जो भिक्खं एसणाएँ एसेज्जा ।  
तस्स सुलद्धा लाभा, हणणाए विप्पमुक्कदोसस्स<sup>९</sup> ॥ २ ॥

जो मुनि पांच प्रकार के वनीपक (याचक) दोषों से मुक्त शुद्ध भिक्षा की एषणा करता है, भिक्षा संबंधी हनन, पचन-पाचन आदि दोषों से मुक्त उस मुनि को प्राप्त भिक्षा का बहुत अधिक लाभ मिलता है।

१. आणच्च जाव (स, हे)।

२. ताव (पा, ब)।

३. च आणच्चा (स)।

४. बृहदारण्यक उपनिषद् (३/५/१) में याज्ञवल्क्य द्वारा कथित संवादी सूक्त मिलता है—“एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्या चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा, या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः।”

५. यहां 'गोपथ' शब्द प्रतीक रूप में दिया गया है। गाय जैसे पतली पगडंडी पर चलती है, वैसे ही साधक बाह्य आकर्षणों से मुक्त होकर संयम और संवर के पथ पर चले। महापथ—आस्रव और असंयम के पथ पर न चले।

६. गाओ (स, ब, ला, हे)।

७. टीकाकार के अनुसार 'इह' के स्थान पर 'इव' पाठ होना चाहिए—इह ति स्थाने इव ति युक्ततरमिव दृश्यते (ऋवृ पृ. १३७) लेकिन हमने आदर्शों के आधार पर 'इह' पाठ रखा है। यहां 'इह' पाठ ही संगत लगता है।

८. इसी ग्रंथ के ४१/१६, १७ में दूसरी और तीसरी गाथा पुनरुक्त हुई है। यहां 'आलवे' के स्थान पर 'वीलवे' पाठ है। देखें ४१/१७ का टिप्पण।

९. छंद की दृष्टि से यहां 'विप्पमुक्कस्स' पाठ संगत लगता है लेकिन सभी प्रतियों तथा प्रकाशित पुस्तक में 'विप्पमुक्कदोसस्स' पाठ मिलता है।

४. पंथाणं रूवसंबद्धं, फलावत्तिं च चिंतए।

कोहादीणं विपाकं च, अप्पणो य परस्स य ॥ ३ ॥

साधक साधु-वेश के अनुरूप पथ—संयम-मार्ग और फल-प्राप्ति का चिंतन करे तथा अपने और दूसरों के क्रोध आदि के विपाक का चिंतन करे।

५. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् याज्ञवल्क्य ऋषि) कहता हूँ।

तेरसमं मेतज्जभयालिज्झयणं

तेरहवां अध्ययन : मेतार्यभयालि



### १३. ऋषि मेतार्यभयालि

तेरहवें अध्याय के प्रवक्ता ऋषि हैं—मेतार्यभयालि। भयालि का उल्लेख समवायांग में मिलता है, जो आगामी उत्सर्पिणी काल में उन्नीसवें संवर नामक तीर्थकर बनेंगे।<sup>१</sup> ठाणं सूत्र में अंतकृद्दशा के दश अध्ययनों के नामों में सातवें अध्ययन का नाम भगालि है लेकिन वर्तमान में इसके स्थान पर अध्ययन का दूसरा नाम मिलता है।<sup>२</sup>

डॉ. सागरमलजी जैन ने औपपातिक सूत्र में वर्णित भग्गइ नामक क्षत्रिय परिव्राजक की भयालि या भगालि के रूप में संभावना व्यक्त की है लेकिन इस संभावना पर और अधिक विमर्श की आवश्यकता है। उन्होंने बौद्ध साहित्य में मेत्तज्ज के आसपास होने वाले अनेक रूपों के आधार पर मेत्तजि थेर, मेत्तगू थेर, मेत्तिय थेर आदि के संदर्भ भी प्रस्तुत किए हैं<sup>३</sup> लेकिन निश्चयात्मक रूप से किसी भी स्थविर का मेत्तेज्ज भयालि के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया है।

मेतार्य भयालि का सम्बन्ध मेतार्य मुनि से होना चाहिए। इनके नाम के आगे 'भयालि' विशेषण क्यों लगा, यह विमर्श का बिन्दु है। आवश्यक निर्युक्ति<sup>४</sup> में बोधि-प्राप्ति के प्रसंग में इनकी कथा का संकेत मिलता है। चूर्णिकार ने विस्तार से इनके अतीत और वर्तमान के जीवन का वर्णन किया है।

मेतार्य मुनि राजा श्रेणिक के जामाता थे। अपने पूर्वभव के मित्र राजपुत्र से प्रतिबोधित होकर इन्होंने पत्नियों सहित प्रव्रज्या ग्रहण की। कालान्तर में ये नौ पूर्वों के ज्ञाता बन गए और एकलविहार प्रतिमा स्वीकार करके विहरण करने लगे। एक बार राजगृही नगरी में मासखमण के पारणे हेतु स्वर्णकार के घर पहुंचे। सुनार राजा के लिए आठ सौ स्वर्णिम यव बना रहा था। स्वर्णकार मुनि को भिक्षा देने अंदर गया, इतने में क्रौञ्च पक्षी ने कुछ यवों को निगल लिया। स्वर्णकार ने मुनि से यव के बारे में पूछा लेकिन मुनि मौन रहे। क्रोध में आकर उसने मुनि के सिर को गीले चमड़े से बांध दिया। चमड़े के सूखने से मुनि की दोनों आंखें भूमि पर आकर गिर पड़ीं। समतापूर्वक वेदना सहन करने से उनके सारे कर्मक्षय हो गए और वे कैवल्य को प्राप्त हो गए।<sup>५</sup>

मेतार्य भयालि ऋषि के पूरे उपदेश को यदि इस घटना के संदर्भ में देखें तो ऐसा लगता है कि यह ऋषि के द्वारा अंतिम समय में दिया गया उपदेश है अथवा ऋषि की अंतिम स्थिति के आधार पर संकलनकर्ता आचार्य ने इन सूक्तों की रचना की है। प्रथम सूत्र में ऋषि स्पष्ट कह रहे हैं कि तुम्हारे भीतर मैत्री क्यों नहीं है ?

दूसरे सूत्र का सम्बन्ध भी घटना के साथ ठीक बैठता है। यदि ऋषि यथार्थ बात बता देते कि यवों को

१. समप्र २५१/४, २५२/३।

२. ठाणं १०/११३।

३. ऋषि पृ. ४८।

४. आवनि ५६५/४, ५।

५. विस्तार हेतु देखें आवचू १ पृ. ४९२-९५, आवहाटी १ पृ.

२४४-४६, आवमटी प. ४७८, ४७९, ऋषिमं ८७, ८८ टी

प. १०४-१०७।



क्रौञ्च पक्षी ने निगला है तो वे मुक्त हो सकते थे लेकिन ऋषि कहते हैं कि मैं अपनी विमुक्ति के लिए दूसरों का अभिभव नहीं करूंगा क्योंकि भविष्य में यह मेरे अहित के लिए न हो जाए। तीसरी गाथा में भी ऋषि गृहस्थों से पूछते हैं कि तुम मेरा हनन क्यों करना चाहते हो? चौथी गाथा का अर्थ यदि टीकाकार के अनुसार करें तो वह भी प्रस्तुत घटना के साथ जुड़ा है। ऋषि कहते हैं कि शान्त व्यक्ति के करण—कर्मबंध का कारण नहीं होता लेकिन हिंसक के कर्म—बंध का कारण होता है। पांचवीं गाथा में वेदना की स्थिति में ऋषि का आत्मचिंतन है कि दुःख देने वाला दूसरा व्यक्ति तो केवल निमित्त मात्र ही है। मेरे पूर्वकृत कर्म ही सुख-दुःख के मूल कारण हैं।

अंतिम दो गाथाएं दार्शनिक और रहस्यवादी शैली में लिखी गई हैं। इन दोनों गाथाओं के माध्यम से ऋषि क्या कहना चाहते थे, यह आज स्पष्ट नहीं है। टीकाकार ने भी इन गाथाओं की व्याख्या नहीं की है।

## १३. मेतज्जभयालिज्झयणं : मेतार्यभयालि अध्ययन

१. किमत्थं<sup>१</sup> णत्थि लावण्णताए<sup>२</sup> ? मेतज्जेण भयालिणा अरहता इसिणा बुद्धं ।

क्या कारण है तुम्हारे भीतर मैत्री नहीं है ? अर्हत् मेतार्य भयालि ऋषि ने ऐसा कहा ।

२. णो हं खलु भो!<sup>३</sup> अप्पणो विमोयणट्टताए परं अभिभविस्सामि, मा णं मा णं से परे अभिभूयमाणे ममं चेव अहिताए भविस्सति ।

मैं अपनी विमुक्ति के लिए दूसरों का पराभव नहीं करूंगा क्योंकि वह अभिभूत व्यक्ति मेरे लिए ही अहितकर न हो जाए ।

३. आताणाए उ सब्वेसिं, गिहिबूहणतारए ।

संसारवाससंताणं, 'कहं मे'<sup>४</sup> हंतुमिच्छसि ? ॥ १ ॥

गार्हस्थ्य में डूबे हुए व्यक्तियों को तारने वाला साधक सबके त्राण के लिए संसारी प्राणियों से पूछता है कि तुम मेरा हनन करना क्यों चाहते हो ?

४. संतस्स करणं णत्थि, णासतो करणं भवे ।

बहुधा दिट्ठं इमं सुट्ठु, णासतो भवसंकरो ॥ २ ॥

विद्यमान (सत्) को उत्पन्न करने का कोई करण—साधन नहीं है और असत् को उत्पन्न करने का भी साधन नहीं है । यह बहुत बार अच्छी तरह देखा गया है कि भव-परम्परा असत् नहीं है<sup>५</sup> ।

५. संतमेतं इमं कम्मं, दारेणेतेणुवट्ठितं ।

णिमित्तमेत्त परो एत्थ, मज्झ मे तु पुरे कडं ॥ ३ ॥

ये जो विद्यमान कर्म हैं, वे पुनः कर्मों के आने के द्वार रूप में उपस्थित हैं । दूसरा तो केवल निमित्त मात्र है । मेरे पूर्वकृत कर्म ही (सुख-दुःख के) मूल कारण हैं ।

६. मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं ।

फलत्थी सिंचती मूलं, फलघाती ण सिंचती ॥ ४ ॥

मूल का सिंचन करने पर फल की उत्पत्ति होती है और मूल (जड़) को नष्ट करने पर फल का विनाश

१. किमहं (ला, ब, स, हे) ।

२. टीकाकार के अनुसार ऋषि किसी श्रावक को बलात् प्रतिबुद्ध करते हुए यह बात कहते हैं । उन्होंने लावण्य का अर्थ मैत्री किया है । (ऋवृ पृ. १३७) ।

३. हो (पा) ।

४. कह णाम (अ), कह मे (पा) ।

५. टीकाकार और डॉ. शूब्रिंग ने इसका अर्थ भिन्न किया है । टीकाकार की व्याख्या के अनुसार इस गाथा का अर्थ इस प्रकार है— “शान्त व्यक्ति के करण—कर्म बंध का कारण नहीं होता लेकिन नाश करने वाले हिंसक के करण होता है और संसार-परम्परा भी हिंसा करने वाले के होती है ।”

हो जाता है। फलार्थी मूल का सिंचन करता है। फल का हनन करने वाला मूल का सिंचन नहीं करता।

**७. लुप्पती जस्स जं अत्थि, णासंतं किंचि लुप्पती।**

**संतातो लुप्पती किंचि, णासंतं किंचि लुप्पती ॥ ५ ॥**

जिसके पास जो होता है, उसी का लोप होता है। असत् का कभी लोप नहीं होता। सत् में से ही कुछ लुप्त होता है, असत् का कुछ लोप नहीं होता।<sup>१</sup>

**८. अत्थि मे तेण देति, णत्थि मे तेण देति मे।**

**जइ से होज्ज ण मे देज्जा, णत्थि से तेण देति मे ॥ ६ ॥**

‘मेरा है’ इसलिए वह मुझे देता है। मेरा नहीं है इसलिए वह मुझे देता है। यदि वास्तव में उसका है तो वह मुझे नहीं देगा, यदि उसका नहीं है तो वह मुझे देता है।<sup>२</sup>

**९. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।**

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् मेतार्य भयालि ऋषि) कहता हूँ।

१. मूलतः ऋषि इस गाथा के द्वारा किस दर्शन को व्यक्त करना चाहते हैं, यह स्पष्ट नहीं है। टीकाकार ने कर्म-सिद्धान्त के आधार पर इस गाथा का अर्थ कुछ भिन्न किया है। (ऋवृ पृ. १३७)

२. यह श्लोक रहस्यमयी शैली में लिखा गया है। इस श्लोक से

ऋषि वास्तव में क्या कहना चाहते हैं, इस संदर्भ में निश्चय रूप से कुछ कहना कठिन है। टीकाकार ने उल्लेख किया है कि सातवें-आठवें श्लोक का अर्थ सम्यक् रूप से स्पष्ट नहीं है। (ऋवृ पृ. १३८ ; अनयोः श्लोकयोरर्थः सम्यगगत इत्याशामहे)

चउदसमं बाहुकज्झयणं

चौदहवां अध्ययन : बाहुक



## १४. ऋषि बाहुक

ऋषिभाषित के चौदहवें ऋषि हैं—बाहुक। इनके बारे में सूत्रकृतांग में उल्लेख मिलता है कि इन्होंने सचित्त जल का सेवन करके भी निर्वाण को प्राप्त किया।<sup>१</sup> इनके लिए सूत्रकार ने 'महापुरुष' और 'तप्त तपोधन' विशेषण का प्रयोग किया है, जिससे सिद्ध होता है कि ये उग्र तपस्वी थे।<sup>२</sup> चूर्णिकार के अनुसार ये राजा थे फिर वनवास में साधना करके निर्वाण को प्राप्त हुए।<sup>३</sup> चूर्णिकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि प्रत्येकबुद्धों में नमि राजर्षि उत्तराध्ययन में तथा शेष सभी ऋषिभाषित सूत्र में सम्मत हैं।<sup>४</sup> अतः यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि ये वही बाहुक ऋषि हैं, जो सूत्रकृतांग और उसकी चूर्ण में निर्दिष्ट हैं।

बौद्ध साहित्य में बाहुक नामक किसी भी ऋषि का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन अंगुत्तरनिकाय में बाहिय नामक ऋषि का उल्लेख है, जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया था। डॉ. अरुण प्रतापसिंह इनकी ऋषिभाषित के ऋषि के साथ तुलना करते हैं लेकिन बाहुक की बाहिक के साथ तुलना कुछ विमर्शनीय है। महाभारत के वनपर्व में राजा नल को बाहुक कहा गया है, जब वे छद्मवेश में रहे थे।<sup>५</sup> लेकिन इनका ऋषि के साथ सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता।

ऋषि अपने उपदेश का प्रारम्भ इस बात से करते हैं कि अच्छी चीज भी यदि गलत वस्तु से जुड़ी हुई है तो उसे प्रमाणभूत नहीं माना जा सकता। मुकुट से युक्त को राजा तथा बद्धचिह्न को श्रेष्ठी के रूप में स्वयं को प्रस्तुत करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसी प्रकार साधक की आंतरिक साधना ही बाहर प्रकट होती है, उसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती। आध्यात्मिक दृष्टि से ऋषि का मंतव्य है कि प्रतिबद्धता चाहे व्यक्ति से हो या वस्तु से, वह न इस लोक के लिए हितकर है और न ही परलोक के लिए।

चौथे और पांचवें सूत्र में ऋषि रहस्यवादी हो गए हैं। उन्होंने 'अकाम' और 'सकाम' शब्द को दो रूपों में प्रस्तुत किया है। अकाम और सकाम तप से नरक और स्वर्ग—इन दोनों की प्राप्ति होती है, इस बात को पढ़ने से एक बार विसंगति जैसी लगती है लेकिन यहां ऋषि ने इन दोनों शब्दों का सापेक्ष प्रयोग किया है। इन दोनों को दो अर्थों में समझना होगा। आध्यात्मिक दृष्टि से सकाम तप अर्थात् मोक्ष की भावना से किया जाने वाला तप तथा अकाम अर्थात् बिना किसी उद्देश्य के स्वतः होने वाली निर्जरा या तप।

लौकिक दृष्टि से सकाम अर्थात् कामना के वशीभूत होकर किया जाने वाला तप तथा अकाम का अर्थ

१. सू १/३/६२।

४. सूचू १ पृ. ९६।

२. सू १/३/६१।

५. महा वन ७४/३-१४।

३. सूचू १ पृ. ९५ ; राजानो भूत्वा वनवासं गता पच्छा णिव्वाणं गताः।

है— निष्काम भाव से किया जाने वाला तप। इन दोनों सूत्रों का यदि इन दोनों नयों की दृष्टि से अर्थ किया जाए तो अर्थ के साथ संगति बैठ सकती है फिर भी यह विमर्श का बिंदु है कि ऋषि सकाम और अकाम शब्द से क्या कहना चाहते हैं।

सूत्रकृतांग के उल्लेख से यह तो स्पष्ट है कि ये वैदिक परम्परा से सम्बन्धित थे और उसी अवस्था में निर्वाण को प्राप्त हुए फिर भी इनके विचारों से यह प्रतीत होता है कि ये निर्ग्रन्थ परम्परा से प्रभावित रहे हैं। इस तथ्य को स्वीकार किए बिना केवल वैदिक दृष्टि से सकाम और अकाम के अर्थ की संगति बिठाना संभव नहीं होगा।

## १४. बाहुकञ्जयणं : बाहुक अध्ययन

१. जुत्तं अजुत्तजोगं ण पमाणमिति, बाहुकेण<sup>१</sup> अरहता इसिणा बुद्धं।

युक्त यदि अयुक्त से संयुक्त है तो वह प्रमाण नहीं हो सकता, ऐसा अर्हत् बाहुक ऋषि बोले।

२. अप्पणिया खलु भो! अप्पाणं समुक्कसिय ण भवति बद्धचिंधे णरवती, अप्पणिया खलु भो!  
य अप्पाणं समुक्कसिय समुक्कसिय ण भवति बद्धचिंधे सेट्ठी। एवं चेव अणुयोगे जाणह खलु भो! समणा  
माहणा गामे अदुवा रणणे अदुवा गामे णो वि रणणे।

राजकीय मुकुट आदि से युक्त राजा को स्वयं अपनी उत्कृष्टता बताने की अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार बद्धचिह्न श्रेष्ठी<sup>२</sup> का चिह्न धारण करने वाले सेठ को भी स्वयं का उत्कर्ष बताने की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार इस अनुयोग को जानना चाहिए कि ग्राम हो या नगर अथवा ग्राम या अरण्य से कहीं अन्यत्र, समण-माहण को स्वयं को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रहती।

३. अभिणिस्सए इमं लोगं, परलोगं पणिस्सए<sup>३</sup>।

दुहओ वि लोके अपतिद्धितो, अकामए बाहुए मते ति<sup>४</sup>।

जो इस लोक में प्रतिबद्ध है और परलोक में भी प्रतिबद्ध है, वह दोनों लोकों में अप्रतिष्ठित होता है, यह अकाम (निष्काम) बाहुक का अभिमत है।

४. अकामए चरए तवं, अकामए कालगते, नरकं पत्ते अकामए<sup>५</sup>, अकामए पव्वइए, अकामए  
चरते तवं, अकामए कालगते, सिद्धिं पत्ते अकामए।

जो अकाम (मोक्ष की इच्छा के बिना) तप करता है, वह अकाम कालगत होकर नरक को प्राप्त करता

१. कुछ हस्तप्रतियों में लिपिदोष के कारण 'बाहुकेन' के स्थान पर पाहुकेण पाठ मिलता है।  
२. स्थाटी. प. ४३९; श्रेष्ठी—श्रीदेवताध्यासितसौवर्णपट्टभूषितो-त्तमाङ्गपुरज्येष्ठो वणिक्—नगर सेठ, जिसके मस्तक पर श्रीदेवी से अंकित सोने का एक पट्ट बंधा रहता था।  
३. यहां पि+अणिस्सए की संधि होकर पणिस्सए शब्द बन गया है। अणिस्सिय का अर्थ है—अप्रतिबद्ध।

४. प्रथम पंक्ति में अनुष्टुप् छंद है और दूसरी पंक्ति गद्य में है। चूंकि अर्थ की दृष्टि से दोनों पंक्तियां एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं अतः हमने दोनों का संयुक्त क्रमांक दिया है। इनको अलग-अलग नहीं रखा है।  
५. प्रतियों एवं मुद्रित पुस्तक में 'अकामए' पाठ नहीं मिलता लेकिन यहां अकामए पाठ होना चाहिए क्योंकि नीचे सिद्धि पत्ते के साथ भी अकामए का प्रयोग है।



है। जो अकाम (कामना रहित) प्रव्रजित होता है, अकाम (निष्काम) तप करता है, वह अकाम कालगत होकर सिद्धिगति को प्राप्त करता है।<sup>१</sup>

**५. सकामए पव्वइए, सकामए चरते तवं, सकामए कालगते, णरगं पत्ते सकामए, सकामए चरते तवं, सकामए कालगते, सिद्धिं पत्ते सकामए।<sup>२</sup>**

जो सकाम (कामना सहित) प्रव्रजित होता है, सकाम तप करता है, वह सकाम कालगत होकर नरक को प्राप्त करता है। जो सकाम (मोक्ष की इच्छा से) तप करता है, वह सकाम कालगत होकर सिद्धिगति को प्राप्त करता है।

**६. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।**

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् बाहुक ऋषि) कहता हूँ।

१. इसिभासियाई पर किसी विस्तृत व्याख्या ग्रंथ के न होने से अनेक स्थलों पर इसकी अर्थ-परम्परा लुप्त हो गई। परम्परा के अभाव में कहीं-कहीं ऋषि के कहने का क्या तात्पर्य है, उसे आज समझना कठिन है। इस अध्ययन में सकाम और अकाम—इन दोनों शब्दों का सापेक्ष प्रयोग होना चाहिए। यहां ये विशेषण के रूप में प्रयुक्त हैं। सकाम और अकाम—इन दोनों शब्दों को द्वयर्थक समझना होगा, तभी अर्थ के साथ संगति बैठ सकती है, अन्यथा सकाम और अकाम दोनों से ही नरक और स्वर्ग की प्राप्ति कैसे संभव होगी ?

जैन परम्परा में सकाम और अकाम शब्द का प्रयोग निर्जरा और तप के संदर्भ में होता है। सकाम अर्थात् मोक्ष की भावना तथा अकाम अर्थात् बिना किसी उद्देश्य के स्वतः

होने वाली निर्जरा या तप।

व्यवहार के स्तर पर सकाम का अर्थ है—कामना के वशीभूत होकर करने वाला तथा अकाम का अर्थ है—निष्काम भाव से करने वाला। यहां भी इन दोनों अर्थों को स्वीकार करने से ही अर्थ के साथ संगति बैठ सकती है।

२. टीकाकार ने चौथे और पांचवें सूत्र की स्पष्ट व्याख्या नहीं की है। उनके अनुसार मुक्ति की इच्छा रखने वाले अकाम बाहुक ने तप का आचरण किया। कालगत होकर पूर्व कर्मों के कारण उन्होंने नरक को प्राप्त किया। फिर मनुष्य गति को प्राप्त करके वह प्रव्रजित हुआ, तप का आचरण किया फिर कालगत होकर सिद्धि को प्राप्त किया। सकाम बाहुक ने भी अकाम की भांति आचरण किया। (ऋवृ पृ १३८)

पंचदसमं मधुरायणज्झयणं

पन्द्रहवां अध्ययन : मधुरायण



## १५. ऋषि मधुरायण

ऋषिभाषित के पन्द्रहवें अध्ययन के ऋषि का नाम है—मधुरायण। आगम एवं उसके व्याख्या-साहित्य में मधुरायण नामक किसी ऋषि का उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध और वैदिक परम्परा में भी इस नाम के ऋषि का उल्लेख नहीं मिलता अतः इनके जीवन के बारे में विशेष रूप से कुछ कहना शक्य नहीं है।

इस अध्याय में ऋषि ने कर्मवाद से सम्बन्धित कुछ प्रश्नों को उठाकर उनका समाधान किया है। प्रथम प्रश्न है कि साताजनित दुःख से अभिभूत दुःखी व्यक्ति दुःख की उदीरणा करता है अथवा असाताजनित दुःख से अभिभूत दुःखी व्यक्ति? ऋषि उत्तर देते हैं कि साताजन्य दुःख से अभिभूत दुःखी व्यक्ति दुःख की उदीरणा करता है, असाताजन्य दुःख से दुःखी प्राणी दुःख की उदीरणा नहीं करता। यहां ऋषि के कहने का तात्पर्य होना चाहिए—सुख-सुविधा के भोग से उत्पन्न दुःख। अत्यधिक भौतिक सुख की परिणति दुःख में होती है। जिसे कर्मविज्ञान की भाषा में कहा जा सकता है—पुण्यानुबंधी पाप। टीकाकार इस प्रश्न को संक्षेप में समाहित करते हुए कहते हैं कि उदीर्यमाण की उदीरणा होती है। दुःखी व्यक्ति के दुःख की उदीरणा हो चुकी इसलिए कहा गया है कि सात दुःख से अभिभूत दुःखी प्राणी दुःख की उदीरणा करता है। यहां सूत्र में टीकाकार द्वारा की गई व्याख्या सम्यक् प्रतीत होती है। व्यवहार में भी यही कहा जाता है कि सुख के बाद दुःख तथा दुःख के बाद सुख का क्रम चलता रहता है। इसी ग्रंथ के पैतालीसवें अध्ययन में वैश्रमण ऋषि कहते हैं कि मगरमच्छ से युक्त पुष्पित सरोवर, विष से भावित शहद तथा शव युक्त नदी के स्रोत की भांति साताकारी कर्म परिणाम में दुःखदायी होते हैं।<sup>१</sup> दूसरा प्रश्न भी प्रथम प्रश्न का प्रायः संवादी है।

ऋषि तीसरा प्रश्न उपस्थित करते हैं कि दुःखी व्यक्ति सत् दुःख<sup>२</sup> की उदीरणा करता है अथवा असत् दुःख की? ऋषि कहते हैं कि सत् दुःख की उदीरणा होती है न कि असत् दुःख की। डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार साता दुःख का अर्थ यहां सुख की आकांक्षाओं से उत्पन्न दुःख होना चाहिए। सांसारिक सुखों की प्राप्ति हेतु जिसके मन में आकांक्षाएं जागृत हो जाती हैं, वह व्यक्ति साता दुःख से अभिभूत कहलाता है। असाता दुःख का अर्थ है—निराकांक्ष व्यक्ति के जीवन में आने वाले सांसारिक दुःख।<sup>३</sup>

तीन प्रश्न और उनके उत्तरों के बाद ऋषि निष्कर्ष प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब तक दुःख का नाश नहीं होता, व्यक्ति को हस्तछेदन, पादछेदन, वध, बंधन आदि अनेक कष्ट सहन करने पड़ते हैं। दुःख-क्षय होने पर व्यक्ति शाश्वत निर्वाण-स्थान को प्राप्त कर लेता है। भगवती सूत्र में गौतम गणधर ने एक प्रश्न उपस्थित किया है

१. ऋषिभाषित ४५/४४।

दुःखी बताया है। (भटी ७/१६; दुःखं कर्म तद्दान् जीवो दुःखी)

२. अभदेवसूरि ने दुःख का अर्थ कर्म तथा कर्मयुक्त जीव को

३. ऋषि पृ. ५०, ५१।

कि दुःखी व्यक्ति दुःख से स्पृष्ट होता है अथवा अदुःखी व्यक्ति दुःख से स्पृष्ट होता है। भगवान् महावीर ने उत्तर देते हुए कहा कि दुःखी व्यक्ति दुःख से स्पृष्ट होता है, अदुःखी दुःख से स्पृष्ट नहीं होता।<sup>१</sup> प्रस्तुत अध्ययन के प्रश्न दुःख की उदीरणा से सम्बन्धित हैं। इस संदर्भ में भगवती सूत्र के सातवें शतक में दिए गए पांच दण्डक ज्ञातव्य हैं—

- \* दुःखी दुःख से स्पृष्ट होता है।
- \* दुःखी दुःख को ग्रहण करता है।
- \* दुःखी दुःख की उदीरणा करता है।
- \* दुःखी दुःख का वेदन करता है।
- \* दुःखी दुःख की निर्जरा करता है।<sup>२</sup>

अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि ने गद्य में किया है। उसके बाद २८ पद्यों में अपने विचार व्यक्त किए हैं। ऋषि कहते हैं कि संसार में अशांति और दुःख का मूल कारण पूर्वकृत पापकर्म हैं। जैसे बीज के विकसित होने पर अंकुरों की सम्पदा अवश्य बढ़ती है, वैसे ही पाप का सद्भाव होने से दुःख की उत्पत्ति अवश्यभावी है। जैसे पुष्प का विनाश होने पर फल का विनाश हो जाता है, वैसे ही पाप के नष्ट होने पर दुःख का नाश हो जाता है।

ऋषि सांसारिक प्राणियों की सामान्य मानसिकता को कर्मवाद के संदर्भ में प्रकट करते हुए कहते हैं कि दुःखी व्यक्ति अपने दुःख का नाश करने हेतु दूसरों को दुःख देने का कोई न कोई प्रयत्न करता रहता है। इस उपक्रम से उसका दुःख दूर नहीं होता, प्रत्युत् वह अन्य दुःखों का बंधन कर लेता है फिर जब वह दुःख उदय में आता है तो व्यक्ति दुःखी होता है। इसी बात को ऋषि रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हैं कि पूर्व गृहीत ऋण को चुकाए बिना व्यक्ति उससे मुक्त नहीं हो सकता। ऋषि प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि व्यक्ति को वर्तमानिक सुख में आसक्त नहीं होना चाहिए। सुख का आकांक्षी व्यक्ति वैसे ही दुःख का अनुभव करता है, जैसे काटे से बिंधी हुई मछली। 'कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि'<sup>३</sup> महावीर के इस सूक्त का अनुसरण करते हुए ऋषि कहते हैं कि आत्मकृत कर्मों का फल आत्मा स्वयं भोगती है। इसलिए आत्महित के लिए साधक को पापकारी कार्यों का वर्जन करना चाहिए। व्याधि, शोक, बुढ़ापा आदि शरीर में प्रकट होते हैं, आत्मा पर इनका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। दुःख, जरा, मृत्यु, शोक, मान और अपमान आदि स्थितियां जन्म का नाश होने पर वैसे ही नष्ट हो जाती हैं, जैसे पुष्प का नाश होने पर फल।

१. भ ७/१६, विस्तार हेतु देखें भभा २ पृ. ३३२।

दुक्खं वेदेति ५. दुक्खी दुक्खं निज्जरेति।

२. भ ७/१९; एवं पंच दंडगा नेयव्वा—१. दुक्खी दुक्खेणं फुडे

३. उ ४/३।

२. दुक्खी दुक्खं परियायइ ३. दुक्खी दुक्खं उदीरेइ ४. दुक्खी

ऋषि का मंतव्य है कि व्यक्ति को बाहरी परिस्थितियों को दोष देकर उसे नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। दुःख आने के मूल स्रोत तक पहुंचना चाहिए, जिससे पुनः दुःख की प्राप्ति न हो। इसी बात को ऋषि एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि पत्थर फेंकने पर कुत्ता उस पत्थर को ही काटता रहता है लेकिन सिंह बाण के उत्पत्तिस्थल की खोज करके बाण फेंकने वाले का विनाश कर देता है, जिससे दुबारा वह परिस्थिति पैदा न हो। इसी प्रकार अज्ञानी व्यक्ति दुःखी होने पर बाह्य वस्तुओं एवं परिस्थितियों को दोष देते हुए उनकी निंदा करता रहता है, उसकी सारी शक्ति प्रतिक्रिया में ही चली जाती है। वह सिंह की भांति दुःख की उत्पत्ति के कारणों को समाप्त नहीं करता। इस बात को आचारांग में संक्षिप्त सूत्र के माध्यम से कहा है—अगं च मूलं च विगिंच धीरे<sup>१</sup>। अर्थात् व्यक्ति को अग्र (बाह्य परिस्थिति) और मूल (मूल कारण) दोनों का विवेक करना चाहिए। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार राग-द्वेष कर्म के मूल हैं तथा इन दोनों के हेतुभूत कर्म अग्र है<sup>२</sup>। अज्ञानी व्यक्ति केवल अग्र को देखता है, वह मूल को नहीं देखता। दशाश्रुतस्कंध में मोहनीयकर्म को मूल तथा शेष कर्म को अग्र माना है।

सम्पूर्ण कर्मों के क्षय का उपाय बताते हुए ऋषि कहते हैं कि यदि तालाब में पानी के आगमन का द्वार बंद रहे तो उसमें निहित जल सूर्य की किरणों से तप्त होकर धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है, वैसे ही आस्रव न होने पर पूर्वार्जित कर्म समाप्त हो जाते हैं।<sup>३</sup> जैसे सपेरा मंत्र के माध्यम से विष-दोष का निवारण कर देता है, वैसे ही साधक को सब दुःखों के कारणों का विनाश करना चाहिए। सम्पूर्ण अध्ययन कर्मवाद के अनेक पहलुओं को सीधी सरल भाषा में प्रस्तुत करता हुआ साधक के लिए दुःख-मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

१. आ ३/३४।

२. आभा ३/३४ पृ. १७५।

३. तुलना हेतु देखें उ ३०/५,६।



## १५. मधुरायणज्ज्ञयणं : मधुरायण अध्ययन

१. सातादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति, असातादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति ?

सातादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं<sup>१</sup> उदीरेति, णो असातादुक्खेण अभिभूते दुक्खी दुक्खं उदीरेति ।

(शिष्य प्रश्न पूछता है—) साता—सुख जनित दुःख से अभिभूत दुःखी प्राणी दुःख की उदीरणा करता है या असाता जनित दुःख से अभिभूत व्यक्ति दुःख की उदीरणा करता है ?

(आचार्य उत्तर देते हैं—) साता दुःख से अभिभूत दुःखी प्राणी दुःख की उदीरणा करता है, असाता दुःख से दुःखी प्राणी दुःख की उदीरणा नहीं करता ।<sup>२</sup>

२. सातादुक्खेण अभिभूतस्स दुक्खिणो<sup>३</sup> दुक्खं उदीरेति, असातादुक्खेण अभिभूतस्स दुक्खिणो<sup>४</sup> दुक्खं उदीरेति ?

सातादुक्खेण अभिभूतस्स दुक्खिणो<sup>५</sup> दुक्खं उदीरेति । पुच्छा य वागरणं च ।

(शिष्य पुनः प्रश्न पूछता है—) साता जन्य दुःख से अभिभूत दुःखी प्राणियों के दुःख की उदीरणा की जाती है या असाता जन्य दुःख से अभिभूत दुःखी प्राणियों के दुःख की उदीरणा की जाती है ?

(आचार्य उत्तर देते हैं—) साता दुःख से अभिभूत दुःखी प्राणियों के दुःख की उदीरणा की जाती है । यह प्रश्न और उसकी व्याख्या है ।

३. संतं दुक्खी दुक्खं उदीरेति, असंतं दुक्खी दुक्खं उदीरेति ?

संतं दुक्खी दुक्खं उदीरेति, सातादुक्खेण अभिभूतस्स उदीरेति, णो असंतं दुक्खी दुक्खं उदीरेति, मधुरायणेण अरहता इसिणा बुद्धंतं ।

शिष्य—दुःखी सत् दुःख की उदीरणा<sup>६</sup> करता है ? अथवा असत् दुःख की उदीरणा करता है ?

आचार्य—दुःखी व्यक्ति सत् दुःख की उदीरणा करता है । साता दुःख से अभिभूत दुःखी के दुःख की

१. दुक्खं जाव ( पा ) ।

२. साता-दुःख का अर्थ है—सुख से उत्पन्न दुःख । अत्यधिक सुख दुःख में परिणत होता है । सात दुःख से अभिभूत व्यक्ति दुःख की उदीरणा करता है, यहां कर्मविज्ञान की दृष्टि से इसका तात्पर्य है कि उदीर्ण की उदीरणा नहीं होती, उदीर्यमाण की उदीरणा होती है । यदि उदीर्ण की उदीरणा की जाए तो फिर उदीरणा का कहीं अंत नहीं होगा । ( भटी १/१४८ पृ. ५८; उदीर्णस्याप्युदीरणे उदीरणाऽविरामप्रसंगात् । ) दुःखी व्यक्ति के दुःख की उदीरणा हो चुकी है अतः इस अपेक्षा से कहा गया

है कि सात दुःख से अभिभूत प्राणी दुःख की उदीरणा करता है । वृत्तिकार ने इस सत्य को इस भाषा में प्रकट किया है—उदीरितस्योदीरणाया निरर्थकत्वात् ( ऋवृ पृ. १३८ ) ४५ वें अध्ययन में वैश्रमण ऋषि कहते हैं कि मगरमच्छ से युक्त पुष्पित सरोवर, विष भावित शहद तथा शव युक्त नदी के स्रोत की भांति साताकारी कर्म भी परिणाम में दुःखदायी होते हैं ।

३-५. दुक्खी ( पा ) ।

६. उदीरणा के संदर्भ में विस्तार हेतु देखें भ १/१४७-४९ ।



उदीरणा होती है। दुःखी असत् दुःख की उदीरणा नहीं करता है, ऐसा अर्हत् मधुरायण ऋषि ने कहा।

४. दुक्खेण खलु भो! अप्पहीणेणं जीए आगच्छंति हत्थच्छेदणाइं पादच्छेदणाइं एवं णवमज्झयण-  
गमएणं णेयव्वं जाव<sup>१</sup> सासतं निव्वाणमब्भुवगता चिद्धंति, णवरं दुक्खाभिलावो।

दुःख का नाश न होने पर जीव हस्त-छेदन, पाद-छेदन आदि दुःख प्राप्त करते हैं। नवें अध्ययन की भांति पूरा पाठ ज्ञातव्य है यावत् शाश्वत निर्वाण को प्राप्त कर स्थित रहते हैं। इस अध्ययन में केवल दुःख का अभिलाप है।

५. पावमूलमणिव्वाणं, संसारे सव्वदेहिणं।

पावमूलाणि दुक्खाणि, पावमूलं च जम्मणं ॥ १ ॥

इस संसार में सब प्राणियों के लिए अनिर्वाण—अशांति का मूल कारण पाप है तथा विविध दुःखों और जन्म-मरण का मूल भी पाप है।

६. संसारे दुक्खमूलं तु, पावं कम्मं पुरेकडं।

पावकम्मणिरोधाय, सम्मं भिक्खु परिव्वए ॥ २ ॥

संसार में दुःख का मूल कारण पूर्वकृत पाप कर्म हैं। पाप कर्म के निरोध हेतु भिक्षु को सम्यक् रूप से परिव्रजन—संयमयात्रा करनी चाहिए।

७. सभावे सति कंदस्स, धुवं वल्लीय रोहणं।

बीए संबुज्झमाणम्मि, अंकुरस्सेव संपदा ॥ ३ ॥

८. सभावे सति पावस्स, धुवं दुक्खं पसूयते।

णासतो मट्टियापिंडे, णिव्वत्ती<sup>२</sup> तु घडादिणं<sup>३</sup> ॥ ४ ॥

जैसे कंद—जड़ के होने पर लता की वृद्धि अवश्यंभावी है। बीज के विकसित होने पर अंकुरों की सम्पदा अवश्य वृद्धिगत होती है, वैसे ही पाप का सद्भाव होने पर दुःख की उत्पत्ति अवश्यंभावी है। मृत्पिण्ड के अभाव में घट आदि का निर्माण संभव नहीं है।

९. सभावे सति कंदस्स, जहा वल्लीय रोहणं।

बीयातो अंकुरो चेव, 'दुक्खं पावा उ जायइ'<sup>४</sup> ॥ ५ ॥

मूल के होने पर लता उस पर चढ़ती है, बीज से अंकुर की उत्पत्ति की भांति पापकर्म से दुःख उत्पन्न होता है।

१. 'जाव' पाठ के विस्तार हेतु देखें ९/२ सूत्र।

२. णिव्वत्ती (पा)।

३. गाथा ७, ८ और ९ आपस में संवादी और पुनरुक्त सी लगती हैं। संभव है नवीं गाथा ऋषिभाषित निर्युक्ति की गाथा हो। वह

यहां प्रसंगवश सुरक्षित रह गई हो। चूंकि सभी हस्तप्रतियों में यह गाथा मिलती है अतः हमने इस गाथा को मूल क्रमांक के साथ जोड़ा है।

४. × (ला, स), धुवं वल्लीय अंकुरा (ब, अ, आ, पु)।

१०. पावघाते हतं दुःखं, पुष्पघाते जहा फलं ।

छिंदाए<sup>१</sup> मुद्धसूर्इए<sup>२</sup>, कतो तालस्स संभवो ?६ ॥

जैसे पुष्प का नाश होने पर फल विनष्ट हो जाता है, वैसे ही पाप के नष्ट होने पर दुःख नष्ट हो जाता है ।  
सूर्इ के द्वारा ताड़ वृक्ष के अग्रभाग को बींधने पर ताड़ के फल<sup>३</sup> की उत्पत्ति कैसे संभव है ?

११. मूलसेके फलुप्पत्ती, मूलघाते हतं फलं ।

फलत्थी सिंचते मूलं, फलघाती न सिंचती ॥ ७ ॥

मूल का सिंचन करने से फल की उत्पत्ति होती है । मूल का नाश होने पर फल भी नष्ट हो जाता है ।  
फल का इच्छुक मूल का सिंचन करता है । फल का घात करने वाला मूल का सिंचन नहीं करता ।

१२. दुक्खिओ दुक्खघाताय, दुक्खावेत्ता सरीरिणो ।

पडियारेण दुक्खस्स, दुक्खमण्णं णिबंधती<sup>४</sup> ॥ ८ ॥

दुःखी व्यक्ति अपने दुःख का नाश करने के लिए अन्य प्राणियों को दुःख देता है । इस प्रक्रिया से अपने  
दुःख का प्रतिकार करने वाला वह व्यक्ति अन्य दुःखों का बंधन कर लेता है ।

१३. दुक्खमूलं पुरा किच्चा, दुक्खमासज्ज सोयती<sup>५</sup> ।

गहितम्मि अणे पुव्विं, अदइत्ता ण मुच्चति<sup>६</sup> ॥ ९ ॥

व्यक्ति पहले दुःख के मूल का उपार्जन करता है फिर दुःख प्राप्त होने पर शोक करता है । पूर्व गृहीत ऋण  
को चुकाए बिना व्यक्ति उससे मुक्त नहीं हो सकता ।

१४. आहारत्थी जहा बालो, वण्हं सय्यं च गेणहती ।

तहा मूढो सुहत्थी तु, पावमण्णं पकुव्वती ॥ १० ॥

आहार का इच्छुक बालक अज्ञान के कारण अग्नि और सर्प को पकड़ लेता है, वैसे ही सुख का इच्छुक  
मूढ़ व्यक्ति कोई न कोई पाप करता रहता है ।

१५. पावं परस्स कुव्वंतो, हसती मोहमोहितो ।

मच्छो गलं गसंतो वा, विणिघातं ण पस्सती<sup>७</sup> ॥ ११ ॥

मोह से मूढ़ व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को पाप करते देखकर उस पर हंसता है, जैसे कांटे को निगलता हुआ  
मत्स्य अपने विनाश को नहीं देखता ।

१. विद्धाए (पु. आ) ।

२. \*सूयाए (स) ।

३. ताड़वृक्ष के उगने के बाद १० से १५ वर्ष के बाद उसमें फल  
आते हैं । इसकी आयु ६० वर्ष की मानी गई है । ताड़ वृक्ष  
अपने आयु-काल में एक बार ही फलता है । ताड़ के फल  
वृक्ष के अग्र भाग में पकते हैं । (जैन आगम वनस्पति कोश पु.  
१४८)

४. आ प्रति में गा. १२ से १७ तक की ६ गाथाएं नहीं हैं ।

५. मोयती (पा) ।

६. वच्चई (स) ।

७. इसी ग्रंथ के पैतालीसवें अध्ययन में गा. १५-२१ तक की ७  
गाथाएं पुनरुक्त हुई हैं, द्र ४५/४-१० ।

१६. पच्छुप्पण्णरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लितो ।

दित्तं पावति उक्कंठं<sup>१</sup>, वारिमज्झे व वारणा<sup>२</sup> ॥१२ ॥

मोह रूपी मल्ल से प्रेरित व्यक्ति वार्तमानिक भोगों में आसक्त होकर आकंठ कीचड़ में फंसे हाथी की भांति और अधिक उत्तेजित हो जाता है ।

१७. परोवघाततल्लिच्छो, दप्पमोहमलुद्धुरो ।

सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं ण विंदती<sup>३</sup> ॥१३ ॥

अहंकार और मोह से उद्धत मल्ल दूसरों की घात में लीन रहता है । कूप में अपना प्रतिबिम्ब देखने वाले वृद्ध सिंह<sup>४</sup> की भांति वह गुण और दोष को नहीं जानता ।

१८. सवसो<sup>५</sup> पावं पुरा<sup>६</sup> किच्चा, दुक्खं वेदेति दुम्मती ।

आसत्तकण्ठपासो वा, मुक्काधारो<sup>७</sup> दुहट्ठिओ ॥ १४ ॥

दुर्बुद्धि व्यक्ति पहले स्वाधीन अवस्था में पाप करके परिणाम के समय दुःख का अनुभव करता है । वह गले में कसे हुए फंदे वाले आधारहीन व्यक्ति की तरह दुःख का अनुभव करता है ।

१९. पावं जे उ पकुव्वंति, जीवा साताणुगामिणो ।

वड्ढती पावकं तेसिं<sup>८</sup>, अणग्गाहिस्स<sup>९</sup> वा अणं ॥ १५ ॥

जो जीव सुख के इच्छुक होकर पाप कर्म करते हैं, उनका पाप वैसे ही बढ़ता है, जैसे ऋण लेने वाले व्यक्ति का ऋण बढ़ता जाता है ।

२०. अणुबद्धमपस्संता, पच्छुप्पण्णगवेसका ।

ते पच्छा दुक्खमच्छंति, गलुच्छिन्ना झसा जहा ॥ १६ ॥

जो व्यक्ति वर्तमान सुख की खोज करते हैं, उसके परिणाम को नहीं देखते, वे बाद में वैसे ही दुःख प्राप्त करते हैं, जैसे कांटे से बिंधी हुई मछली ।

२१. आत-कडाण कम्माणं, आता भुंजति तं<sup>१०</sup> फलं ।

तम्हा आतस्स अट्ठाए, पावमादाय वज्जए ॥ १७ ॥

आत्मकृत कर्मों का फल आत्मा स्वयं भोगती है अतः आत्मा के हित के लिए साधक पापकारी कार्यों का वर्जन करे ।

१. उक्कंथं (अ) ।

२. द्र २५/५ ।

३. विंदंतो (अ), द्र २५/६ ।

४. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १ ।

५. वसं सो (ब, स, पु) ।

६. पुरे (पा) ।

७. मुक्काधारो (ब, पु, स, पा) ।

८. तेहि (ब) ।

९. अणग्गा (पा) ।

१०. जं (स) ।

२२. संते<sup>१</sup> जम्मे पसूयंति, वाहि-सोग-जरादओ ।

नासंते डहते वण्ही, तरुच्छेत्ता ण छिंदती ॥ १८ ॥

जन्म की प्राप्ति होने पर ही शरीर में व्याधि, शोक और बुढ़ापा उत्पन्न होते हैं। असत् को न अग्नि जला सकती है और न कुल्हाड़ी काट सकती है।

२३. दुक्खं जरा य मच्चू य, सोगो माणावमाणणा ।

जम्मघाते हता होंती, पुप्फघाते जहा फलं ॥ १९ ॥

जन्म का नाश होने पर दुःख, जरा, मृत्यु, शोक तथा मान और अपमान वैसे ही नष्ट हो जाते हैं, जैसे पुष्प का नाश होने पर फल।

२४. पत्थरेणाहतो कीबो<sup>२</sup>, खिप्यं डसति पत्थरं ।

मिगारी ऊ सरं पप्प, सरुप्पत्तिं व<sup>३</sup> मग्गति ॥ २० ॥

पत्थर से आहत होकर कुत्ता शीघ्र ही पत्थर को काटता है लेकिन सिंह बाण लगने पर बाण के उत्पत्ति-स्थल की खोज करता है।

२५. तहा बालो दुही वत्थुं, बाहिरं णिंदती भिसं ।

दुक्खुप्पत्तिविणासं तु, मिगारि व्व ण पप्पती ॥ २१ ॥

वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति दुःखी होने पर बाह्य वस्तुओं की अत्यधिक निंदा करता है। वह सिंह की भांति दुःख की उत्पत्ति के कारणों का विनाश नहीं करता।

२६. वणं वण्हं<sup>४</sup> कसाए य, अणं जं वावि दुट्ठितं ।

आममं<sup>५</sup> उव्वहंता च, दुक्खं पावंति पीवरं ॥ २२ ॥

जो व्यक्ति व्रण, अग्नि, कषाय, ऋण और दुःस्थित रोग को बढ़ावा देते हैं, इनका उपचार नहीं करते, वे व्यक्ति बहुत अधिक दुःख प्राप्त करते हैं।

२७. वण्ही अणस्स कम्मस्स, आमयस्स वणस्स य ।

णिस्सेसं घाइणं सेयो, छिण्णो वि रुहती दुमो ॥ २३ ॥

वृक्ष ऊपर से छिन्न होने पर भी पुनः उग जाता है अतः अग्नि, ऋण, कर्म (कषाय), रोग और व्रण का समूल उच्छेद ही श्रेयस्कर है।

१. संति (अ, पा, ब, स) ।

२. टीकाकार ने 'कीब' का अर्थ पक्षी विशेष किया है लेकिन यहां 'कीब' कुत्ते के अर्थ में देशी शब्द होना चाहिए।

३. वि (अ, पा, ब) ।

४. वण्हीं (पा) ।

५. आममं (स) ।

२८. भासच्छण्णो जहा वण्ही, गूढकोधो जहा रिपू।

पावकम्मं तहा लीणं, दुक्खसंताणसंकडं ॥२४॥

प्रच्छन्न पापकर्म जैसे ही दुःख-परम्परा से गहन होता है, जैसे भस्माच्छन्न अग्नि और प्रच्छन्न क्रोध वाला शत्रु।

२९. पत्तिंधणस्स वण्हस्स, उद्दामस्स विसस्स य।

मिच्छत्ते यावि कम्मस्स, दित्ता वुड्ढी<sup>१</sup> दुहावहा ॥२५॥

प्रचुर ईधन वाली अग्नि, उद्दाम विष और मिथ्यात्व कर्म की अत्यधिक वृद्धि दुःखदायी होती है।

३०. धूमहीणो य जो वण्ही, छिण्णादाणं च जं अणं।

मंताहतं विसं जं च<sup>२</sup>, धुवं तं खयमच्छती<sup>३</sup> ॥२६॥

धूमहीन अग्नि, आदान रहित ऋण तथा मंत्र से आहत विष शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं।

३१. छिण्णादाणं धुवं कम्मं, झिज्जते तं तदाहितं<sup>४</sup>।

आदिच्चरस्सितत्तं<sup>५</sup> व, छिण्णादाणं जहा जलं<sup>६</sup> ॥२७॥

नए आगमन का द्वार बंद रहे तो तीव्र सूर्य की किरणों से गर्म होकर जल धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है, जैसे ही आदान अर्थात् आस्रव न होने पर पूर्वार्जित कर्म समाप्त हो जाते हैं।

३२. तम्हा उ सव्वदुक्खाणं, कुज्जा मूलविणासणं।

वालगाहि व्व सप्पस्स, विसदोसविणासणं ॥२८॥

जैसे सपेरा सर्प के विष-दोष को समाप्त कर देता है, जैसे ही साधक सब दुःखों के कारणों का विनाश करे।

३३. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् मधुरायण ऋषि) कहता हूँ।

१. वुड्ढी (पा, स)।

२. ति (ला, पु, अ)।

३. \*मिच्छती (हे)।

४. तदाहितं (ब, ला, आ), तदाहतं (हे)।

५. आदित्तं (अ, आ, पु)।

६. उत्तराध्ययन सूत्र (३०/५, ६) में इसकी संवादी गाथाएं मिलती हैं।

सोलसमं सोरियायणज्झयणं

सोलहवां अध्ययन : शौर्यायण



## १६. ऋषि शौर्यायण

ऋषिभाषित के सोलहवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—शौर्यायण। स्थानांग सूत्र के अनुसार कर्मविपाकदशा के सातवें अध्याय का नाम सोरिय है<sup>१</sup> लेकिन वर्तमान में आठवें अध्याय में सोरियदत्त नाम का उल्लेख मिलता है। विपाकश्रुत के अनुसार ये शौर्यपुर के मछुआरे समुद्रदत्त के पुत्र थे। एक बार इनके गले में मछली का कांटा फंस गया। विविध प्रयत्नों के बाद भी उस कांटे को निकालना संभव नहीं हुआ। फलतः उन्हें तीव्र वेदना झेलनी पड़ी। उनके गले से बार-बार रुधिर, पीव आदि का वमन होने लगा। डॉ. सागरमलजी जैन का अभिमत है कि प्रस्तुत अध्याय में उल्लिखित सोरियदत्त का ऋषिभाषित के शौर्यायण से इस आधार पर संबंध स्थापित किया जा सकता है कि शौर्यायण ने अपने उपदेश में मुख्य रूप से इंद्रिय-विषयों में आसक्त न होने का उपदेश दिया है। यही बात प्रकारान्तर से विपाक दशा में भी कही गयी है कि इंद्रिय-विषयों की पूर्ति में फंसकर ही जीव दारुण दुःख भोगता है<sup>२</sup> लेकिन डॉ. सागरमलजी जैन का अभिमत इसलिए विमर्शनीय है कि विपाकश्रुत में वर्णित शौर्यदत्त कालधर्म को प्राप्त करके नरक में गया। वहां कथानक में उसके ऋषि होने का उल्लेख भी नहीं मिलता अतः ये शौर्यायण ऋषि कोई अन्य होने चाहिए, जिसके बारे में आगम और व्याख्या-साहित्य में विशेष वर्णन प्राप्त नहीं होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख है कि सौकरायण नामक आचार्य ने काषायण ऋषि से आत्म-विद्या ग्रहण की<sup>३</sup> सौकरायण का प्राकृत रूप सोरियायण भी संभव है लेकिन ऋषिभाषित के ऋषि के साथ इनकी तुलना शोध का विषय है।

अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि ने इस बात से किया है कि जिस व्यक्ति को इंद्रिय-विषय प्रभावित नहीं करते, वह इस संसार में उत्तम पुरुष होता है। ऋषि स्वयं प्रश्न उपस्थित करते हैं कि संसार में रहते हुए यह कैसे संभव है कि व्यक्ति मनोज्ञ रूप, रस आदि विषयों में आसक्त न हो? ऋषि कर्म सिद्धान्त के द्वारा इस प्रश्न को समाहित करते हुए कहते हैं कि मनोज्ञ शब्द आदि की प्राप्ति होने पर राग, आसक्ति या गृद्धि करने वाला तथा आत्मा के अस्तित्व को भूलकर उसके साथ बहने वाला व्यक्ति पाप कर्मों का बंधन करता है इसलिए इंद्रिय-विषयों के प्रति होने वाली आसक्ति से बचना चाहिए। अनियंत्रित इंद्रियां संसार-भ्रमण का कारण बन जाती हैं और वे ही जब संयमित हो जाती हैं तो मोक्ष का कारण बनती हैं अतः साधक को कछुए की भांति अपनी इंद्रियों का संगोपन करना चाहिए।

१. ठाणं १०/१११/१।

२. ऋषि पृ. ५२।

३. बृहदा ४/६/३।





## १६. सोरियायणज्झयणं : शौर्यायण अध्ययन

१. जस्स खलु भो! विसयायारा ण<sup>१</sup> परिस्सवंति<sup>२</sup> इंदिया वा दवेहिं, से खलु उत्तमे पुरिसे त्ति, सोरियायणेण अरहता इंसिणा बुद्धं ।

जिस व्यक्ति की इंद्रियों का वेग द्रवित वस्तु—जल की भांति विषयाचार में नहीं बहता, वह निश्चय में उत्तम पुरुष होता है, ऐसा अर्हत् शौर्यायण ऋषि ने कहा।

२. तं कहमिति ? मणुण्णेषु सद्देषु<sup>३</sup> सोयविसयपत्तेसु णो सज्जेज्जा<sup>४</sup> णो रज्जेज्जा णो गिज्जेज्जा णो मुज्जेज्जा णो विणिघातमावज्जेज्जा । मणुण्णेषु सद्देषु सोतविसयपत्तेसु सज्जमाणे रज्जमाणे गिज्जमाणे 'मुज्जमाणे आसेवमाणे'<sup>५</sup> विप्पवहतो पावकम्मस्स आदाणाए भवति । तम्हा मणुण्णामणुण्णेषु सद्देषु सोयविसयपत्तेसु णो सज्जेज्जा णो रज्जेज्जा णो गिज्जेज्जा णो 'मुज्जेज्जा णो आसेवमाणे'<sup>६</sup> वि... । अण्णे एवं रूवेसु गंधेषु रसेसु फासेसु एवं विवरीतेसु णो दूसेज्जा ।

ऐसा कैसे संभव है कि मनोज्ञ शब्द या श्रोत्र विषयों की प्राप्ति होने पर आसक्ति न हो, राग न हो, गृद्धि न हो, मूर्च्छा न हो, विनिघात का अनुभव न हो ? श्रोत्र के विषयभूत मनोज्ञ शब्दों की प्राप्ति होने पर आसक्ति, राग, गृद्धि या मूर्च्छा से उनका सेवन करने वाला, उसमें बहने वाला पाप कर्मों का बंधन करता है इसलिए मनोज्ञ और अमनोज्ञ श्रोत्र के विषयभूत शब्दों की प्राप्ति होने पर साधक आसक्ति न करे, राग न करे, गृद्धि न करे, मूर्च्छा न करे और उनका आसेवन भी न करे। इसी प्रकार मनोज्ञ रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि के बारे में भी यही ज्ञातव्य है। इसके विपरीत अमनोज्ञ रूप, गंध, रस और स्पर्श आदि के बारे में द्वेष न करे।

३. दुहंता इंदिया पंच, संसाराए सरीरिणं ।

ते च्चेव णियमिता संता, णेज्जाणाए भवंति हि ॥ १ ॥

दुर्दान्त इंद्रियां प्राणियों के लिए संसार का कारण बनती हैं। वे ही इंद्रियां जब नियंत्रित हो जाती हैं तो निर्याण—मोक्ष का कारण बन जाती हैं।

४. दुहंते इंदिए पंच, रागदोसपरंगमे ।

कुम्पो विव सअंगाइं, सए देहम्मि साहरे ॥ २ ॥

जैसे कछुआ अपने अंगों को शरीर के भीतर संहृत कर लेता है, वैसे ही राग-द्वेष की परम्परा से पार पाने के लिए साधक दुर्दान्त पांचों इंद्रियों का संगोपन करे।

१. ण य (अ, ब), य ण (पा) ।

२. °सवति (ब, पा) ।

३. × (ब, स, पा) ।

४. सज्जेज्जा आदि शब्द आसक्ति से होने वाली विभिन्न अवस्थाओं

के द्योतक हैं। अर्थ—परम्परा के अंतर के लिए देखें

एकार्थक कोश, पृ. ३५७।

५, ६. अज्झोवमाणे (पा) ।

५. वण्ही सरीरमाहारं, जहा जोएण जुंजती ।

इंदियाणि य जोगे य, तहा जोगे वियाणसु ॥ ३ ॥

जैसे जठराग्नि (पाचनतंत्र की सक्रियता से युक्त होकर) आहार को शरीर के रूप में परिणत कर देती है, वैसे ही इंद्रिय और योगों पर नियंत्रण की प्रक्रिया को जानो ।<sup>१</sup>

६. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् शौर्यायण ऋषि) कहता हूँ ।

---

१. इस गाथा का अर्थ स्पष्ट नहीं है । टीकाकार ने भी उल्लेख किया है कि श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ शंकास्पद है—श्लोकस्योत्तरार्धस्य शंकनीयोऽर्थः (ऋवृ पृ. १३९)

सत्तदसमं विदुञ्जयणं

सतरहवां अध्ययन : विदु



## १७. ऋषि विदु

ऋषिभाषित के सतरहवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—विदु। इस नाम के ऋषि का उल्लेख आगम एवं उसके व्याख्या-साहित्य में नहीं मिलता है। डॉ. सागरमलजी जैन ने विदु को विदुर मानकर महाभारत के विदुर के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ा है।<sup>१</sup> इस संदर्भ में चिन्तनीय बिंदु यह है कि विदुर नाम किसी भी हस्तलिखित प्रति में नहीं मिलता फिर विदु का विदुर रूप कैसे संभव है? चूंकि हमें इनके जीवन के बारे में तीनों परम्पराओं में विशेष कोई वर्णन नहीं मिलता अतः इनके बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं है फिर भी संभावना की जा सकती है कि ये कोई ज्ञानी ऋषि हुए होंगे। ये किस परम्परा से सम्बन्धित थे तथा कौन से तीर्थकर के काल में हुए, यह भी शोध का विषय है।

अध्याय के प्रारम्भ में ऋषि विद्या के वास्तविक स्वरूप को प्रकट करते हुए कहते हैं कि जिस विद्या से व्यक्ति सभी दुःखों से मुक्त हो जाए, वही महाविद्या है। केवल पुस्तकीय ज्ञान दुःखमुक्ति का कारण नहीं बन सकता। जिस विद्या से व्यक्ति बंध, मोक्ष, जीवों की गति-आगति तथा अध्यात्म को जानता है, वही विद्या दुःख से मुक्ति दिलाने वाली हो सकती है।

कर्मबंधन से मुक्ति के उपाय को उपमा द्वारा समझाते हुए ऋषि कहते हैं कि रोग का सम्यक्ज्ञान, उसका निदान तथा रोग की औषधि का परिज्ञान होने पर रोग की सम्यक् चिकित्सा होती, वैसे ही कर्म का सम्यक् ज्ञान और उससे मुक्ति के साधनों का सम्यक् परिज्ञान करके व्यक्ति कर्मबंधन से मुक्त हो सकता है। ऋषि का मंतव्य है कि सम्पूर्ण सावद्य योगों को सम्यक् रूप से जानकर अतीत के पाप कर्मों की निंदा करने वाला अपनी आत्मा को पापकारी कार्यों से बचा लेता है।

---

१. ऋषि पृ. ५३।



## १७. विदुज्झयणं : विदु अध्ययन

१. इमा विज्जा महाविज्जा, सव्वविज्जाण उत्तमा ।

जं विज्जं साहइत्ताणं, सव्वदुक्खाण मुच्चती ॥ १ ॥

जिस विद्या को साधकर साधक सब दुःखों से मुक्त हो जाता है, वह विद्या महाविद्या है और सर्व विद्याओं में उत्तम है ।

२. जेण बंधं च मोक्खं च, जीवाणं गतिरागतिं ।

आयाभावं च जाणाति, सा विज्जा दुक्खमोयणी ॥ २ ॥

विदुणा अरहता इसिणा बुइतं ।

जिस विद्या से साधक बंध, मोक्ष और जीवों की गति-आगति तथा आत्मभाव को जानता है, वह विद्या दुःख-विमोचनी है, अर्हत् विदु ऋषि ने ऐसा कहा ।

३. सम्मं रोगपरिण्णाणं, ततो तस्स विणिच्छित्तं<sup>१</sup> ।

रोगोसधपरिण्णाणं, 'जोगो रोगतिगिच्छित्तं'<sup>२</sup> ॥३ ॥

रोग का सम्यक् ज्ञान, उसका निदान तथा रोग की औषधि का परिज्ञान—इन तीनों का योग होने पर रोग की चिकित्सा होती है ।

४. सम्मं कम्मपरिण्णाणं, ततो तस्स विमोक्खणं ।

कम्ममोक्खपरिण्णाणं, करणं च विमोक्खणं ॥ ४ ॥

कर्म का सम्यक् परिज्ञान होने पर उससे मुक्ति मिलती है । कर्म-मोक्ष का परिज्ञान करके मोक्ष के साधनों का आचरण करना चाहिए ।

५. मम्मं ससल्लजीवं च, पुरिसं वा मोहघातिणं ।

सल्लुद्धरणजोगं च, जो जाणति स सल्लहा ॥ ५ ॥

जो व्यक्ति मोहघाती पुरुष की भांति सशल्य जीवन के मर्म को तथा शल्योद्धार की प्रक्रिया को जानता है, वह शल्य का नाश करने वाला होता है ।

६. बंधणं मोयणं चेव, तहा फलपरंपरं<sup>३</sup> ।

जीवाण जो विजाणाति, कम्माणं तु स कम्महा ॥ ६ ॥

जो व्यक्ति जीवों के कर्मों के बंध, मोक्ष और उसकी फल-परम्परा को जानता है, वही कर्मों का नाश करता है ।

१. णिच्छित्तं (ब) ।

२. जोगो य तिगिच्छित्तं (पा) ।

३. अ, ब, स, आ और ला प्रति में गाथा का पूर्वाद्ध नहीं है ।



७. सावज्जजोगं णिहिलं विदित्ता,  
 तं चेव सम्मं परिजाणिरुणं ।  
 तीतस्स णिंदाए समुट्ठित्त्वा,  
 सावज्जवुत्तिं तु ण सद्वहेज्जा ॥७॥

सम्पूर्ण सावद्य योगों को सम्यक् रूप से जानकर उनकी सम्यक् परिज्ञा करके जो अतीत के पापकर्मों की निंदा के लिए समुपस्थित रहता है, वह साधक सावद्य कार्यों में श्रद्धा नहीं करता।

८. सज्जायझाणोवगतो जितप्पा, संसारवासं बहुधा विदित्ता ।

सावज्जवुत्ती करणेऽठितप्पा, निरवज्जवित्ती<sup>१</sup> तु समायरेज्जा ॥८॥

स्वाध्याय-ध्यान में संलग्न और जितेन्द्र मुनि संसार में रहने के अनेक कारणों को जानकर सावद्य कार्य से विरत होकर निरवद्य कार्य का आचरण करे।

९. परकीयसव्वसावज्जं जोगं इह अज्ज<sup>२</sup> दुच्चरियं णायरे अपरिसेसं । णिरवज्जे ठितस्स णो कप्पति पुणरवि सावज्जं सेवित्तए ॥

समस्त परकीय भाव सावद्य वृत्ति और दुश्चरित है। आर्य व्यक्ति उन सबका आचरण न करे। निरवद्य में स्थित साधक को सावद्य योग का आचरण कल्पनीय नहीं है।

१०. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् विदु ऋषि) कहता हूँ।

१. °वत्ती (अ) ।

२. अज्जमगं (अ, पा, ब, स) ।

अद्वसमं वरिसवज्झयणं

अद्वारहवां अध्ययन : वर्षपकृष्ण



## १८. ऋषि वर्षपकृष्ण

ऋषिभाषित के अट्टारहवें अध्ययन के उपदेष्टा ऋषि हैं—वर्षपकृष्ण। ऋषि के रूप में इनके जीवन के बारे में कोई उल्लेख किसी भी परम्परा में नहीं मिलता अतः इनके बारे में अधिक कहना संभव नहीं है। डॉ. सागरमलजी जैन ने 'वरिसव' को वारिषेण मानकर इनके जीवन-संदर्भों को प्रस्तुत किया है<sup>१</sup> लेकिन वरिसव का संस्कृत रूप वारिषेण नहीं अपितु वर्षप होना चाहिए।

स्थानांग सूत्र में मूलगोत्र काश्यप की सात शाखाओं में सातवीं शाखा का नाम वरिसकण्ह—वर्षकृष्ण है।<sup>२</sup> ये वर्षकृष्ण वर्षपकृष्ण के वाचक होने चाहिए। संभावना की जा सकती है कि ये इस शाखा के प्रवर्तक हों और इनके नाम पर ही यह शाखा प्रसिद्ध हो गयी हो। औपपातिक सूत्र में आठ ब्राह्मण परिव्राजकों का नाम आता है, जिनके नाम से स्वतंत्र शाखाएं चलीं, उसमें एक कृष्ण है।<sup>३</sup> यह भी संभावना की जा सकती है वर्षप नामक परिव्राजक, जिन्होंने कृष्ण शाखा का प्रवर्तन किया, उनका नाम वर्षपकृष्ण प्रसिद्ध हो गया हो। फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से इनके बारे में खोज की आवश्यकता है कि मूलतः ये किस तीर्थकर के समय में हुए? अध्ययन में वर्णित पांच अव्रतों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ये महावीर के शासन में होने चाहिए फिर भी इस संदर्भ में प्रामाण्य के अभाव में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

अध्ययन के प्रारम्भ में ऋषि कहते हैं कि प्रमादी व्यक्ति प्राणातिपात आदि अटारह पापों का सेवन करके संसार में हस्तछेदन आदि विविध दुःखों की परम्परा को प्राप्त करता है। जो पापकर्म से निवृत्त होता है, वह संसार में दुःख को प्राप्त नहीं करता। अंत में ऋषि ने मनुष्य जीवन में करणीय दो कार्यों की प्रेरणा दी है—

१. तीक्ष्ण चोंच के द्वारा जैसे पक्षी रज्जु-जाल को छिन्न कर देता है, वैसे ही साधक सांसारिक बंधन और कर्मबंधन को काटे।
२. कमल पत्र की भांति संसार में रहता हुआ भी निर्लिप्त रहे। वह संसार में रहे पर संसार उसके मस्तिष्क में न रहे। छोटा होते हुए भी यह अध्ययन पापकर्म से दूर रहने की सटीक प्रेरणा देता है।

१. ऋषि पृ. ५४, ५५।

२. ठाणं ७/३१ ; जे कासवा ते सत्तविधा पण्णत्ता, तं जहा—ते कासवा ते संडिल्ला ते गोला ते वाला ते मुंजइणो ते पव्वतिणो ते वरिसकण्हा।

३. औप ९६ ; तत्थ खलु इमे अट्ट माहणपरिव्वाया भवन्ति, तं जहा—

कंडू य करकंटे य, अंबडे य परासरे।  
कण्हे दीवायणे चव, देवगुत्ते य नारए ॥

## १८. वरिसवज्जयणं : वर्षपकृष्ण अध्ययन

१. अयते खलु भो जीवे वज्जं<sup>१</sup> समादियति। से कहमेतं ? पाणातिवाएणं जाव परिग्गहेणं, अरति जाव मिच्छादंसणसल्लेणं वज्जं समायइत्ता हत्थच्छेदणाइं पायच्छेदणाइं जाव<sup>२</sup> अणुपरियट्टंति णवमुद्देसगमएणं ।

प्रमत्त जीव पाप कर्म का ग्रहण करता है। यह कैसे? प्राणातिपात यावत् परिग्रह तथा अरति यावत् मिथ्यादर्शन शल्य (अठारह पापों) के द्वारा जीव पाप कर्म को ग्रहण करके हस्त-छेदन, पाद-छेदन यावत् संसार में परिभ्रमण को प्राप्त करता है। शेष वक्तव्य नवें उद्देशक के समान जानना चाहिए।

२. जे खलु भो! जीवे णो वज्जं समादियति, से कहमेतं ? वरिसवकण्हेण अरहता इसिणा बुइत्तं। पाणाइवातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणसल्लवेरमणेणं सोइंदिय णिग्गहेणं ५-णो वज्जं समज्जिणित्ता हत्थच्छेदणाइं पादच्छेदणाइं जाव<sup>३</sup> दोमणस्साइं<sup>४</sup> वीतिवइत्ता सिवमचलं जाव चिट्ठंति ।

जीव पापकर्म का ग्रहण नहीं करता, यह कैसे संभव है? ऋषि वर्षप कृष्ण अर्हत् ने ऐसा कहा। जीव प्राणातिपात विरमण यावत् मिथ्यादर्शन शल्य विरमण तथा श्रोत्रेन्द्रिय आदि पांचों इंद्रियों के निग्रह के द्वारा पाप कर्म का अर्जन नहीं करते, वे साधक हस्तछेदन, पादछेदन यावत् दौर्मनस्य का अतिक्रमण करके कल्याणकारी और अचल स्थान—मोक्ष में स्थित हो जाते हैं।

३. सकुणी संकुप्पघातं च, वरत्तं<sup>५</sup> रज्जुगं तथा ।

वारिपत्तधरो च्चेव, विभागम्मि विहावए ॥ १ ॥

जैसे पक्षी अपनी तीक्ष्ण चोंच से बिछे हुए रज्जु-जाल अथवा खूंटों को छिन्न कर देता है, कमल का फूल जल से पृथक् रहता है, वैसे ही साधक पाप कर्मों से पृथक् रहे।

४. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् वर्षप ऋषि) कहता हूँ।

१. टीकाकार ने सूत्र में आए 'अयत' शब्द का अर्थ त्यक्तयत्न तथा 'वज्ज' की संस्कृत छाया वज्र करके तात्पर्यार्थ में हिंसा अर्थ किया है। (ऋवृ पृ १४०)

२, ३. 'जाव' पाठ की पूर्ति हेतु देखें ऋषिभाषित का सूत्र ९/२ ।

४. \*णंसाइं (अ, पा, स) ।

५. वेरत्त (अ, आ, ला, स), वरेत्त (पा) ।

एगूणवीसइमं आरियायणज्झयणं

उनीसवां अध्ययन : आर्यायण



## ११. ऋषि आर्यायण

ऋषिभाषित के उन्नीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—आर्यायण। आगम एवं उसके व्याख्या-साहित्य में आर्यायण नाम के किसी ऋषि या व्यक्ति का उल्लेख देखने को नहीं मिलता। बौद्ध साहित्य भी आर्यायण के विषय में मौन है। प्रामाणिक स्रोत नहीं मिलने के कारण इनके जीवन के बारे में कुछ कहना संभव नहीं है। बृहदारण्यक उपनिषद् में जाबालायन, गार्ग्यायण, काषायण आदि ऋषियों के नाम मिलते हैं<sup>१</sup> अतः संभव है कि आर्यायण ऋषि वैदिक परम्परा से सम्बन्धित हों। महाभारत में ऋतायन के पुत्र आर्तायनि ऋषि का उल्लेख मिलता है, जिनके पूर्वज सदा सत्य बोलते थे इसलिए ये आर्तायनि कहलाए।<sup>२</sup> ऋतायन—आर्तायनि ऋषि के साथ ऋषिभाषित के आर्यायण ऋषि का सम्बन्ध बिठाना शोध का विषय है।

पूरे अध्ययन में ऋषि ने आर्य और अनार्य के बारे में ही चर्चा की है। संभव है इसलिए ही इनका नाम आर्यायण पड़ गया हो। अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि ने इस बात से किया है कि पहले सब कुछ आर्य था। सर्व शब्द व्यक्ति का द्योतक न होकर परिस्थिति का प्रतीक होना चाहिए फिर भी यह प्रयोग प्रश्न उपस्थित करता है कि ऋषि परिस्थिति या वस्तुओं के बारे में संकेत कर रहे हैं अथवा व्यक्तियों के बारे में। ऋषि उपदेश देते हैं कि व्यक्ति को अनार्यभाव, अनार्यकर्म और अनार्यमित्र का वर्जन करना चाहिए क्योंकि अनार्यभाव आदि से व्यक्ति संसार में पग-पग पर दुःख का अनुभव करता है।

जो आर्य व्यक्ति आर्यकर्म करके आर्यमित्रों का संसर्ग करते हैं, वे संसार-सागर से मुक्त हो जाते हैं। अंत में ऋषि ने एक महत्त्वपूर्ण बात कही है कि आर्यज्ञान, आर्यदर्शन और आर्यचारित्र उत्तम है अतः आर्य की उपासना करनी चाहिए। सामान्यतः ज्ञान, दर्शन और चारित्र के विशेषण के रूप में 'सम्यक्' शब्द का प्रयोग होता है लेकिन इस ग्रंथ में 'आर्य' विशेषण का प्रयोग हुआ है—आर्यज्ञान आर्य दर्शन और आर्य चारित्र।

चौथी गाथा में ऋषि ने आर्यमार्ग का प्रयोग किया है, यह विशेष अर्थ को प्रकट करने वाला है। सूत्रकृतांग<sup>३</sup> में आर्य मार्ग का उल्लेख है। वहां चूर्णिकार ने बौद्धमत सम्मत आर्यमार्ग को ग्रहण किया है।<sup>४</sup> टीकाकार ने आर्यमार्ग का अर्थ जिन-शासन में प्रतिपादित मोक्षमार्ग किया है।<sup>५</sup> आचारांगभाष्य में आचार्य महाप्रज्ञ ने अहिंसा धर्म को नहीं जानने वाले को अनार्य तथा अहिंसा धर्म के ज्ञाता को आर्य माना है।<sup>६</sup>

१. बृहदा ४/६/३।

२. महा भीम ६२/१४।

३. सू १/३/६६।

४. सूचू १ पृ. ९६।

५. सूटी पृ. ६४ ; आर्यों मार्गों जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गः।

६. आभा पृ. २१८ ; यः अहिंसाधर्मं न वेत्ति, स अनार्यः। यः अहिंसाधर्मं वेत्ति, स आर्यः।



## १९. आरियायणज्झयणं : आर्यायण अध्ययन

१. सव्वमिणं पुराऽऽरियमासि, आरियायणेणं<sup>१</sup> अरहता इंसिणा बुडुतं।

पहले सब कुछ आर्य था, अर्हत् आर्यायण ऋषि ने ऐसा कहा।

२. वज्जेज्जऽणारियं भावं, कम्मं चेव अणारियं।

अणारियाणि मित्ताणि, आरियत्तमुवट्टिए<sup>२</sup> ॥१॥

अनार्य भाव, अनार्य कर्म एवं अनार्य मित्रों को छोड़कर आर्यत्व में उपस्थित रहना चाहिए।

३. जे जणाणारिए णिच्चं, कम्मं कुव्वंतऽणारिया।

अणारिएहि<sup>३</sup> मित्तेहिं, सीदंति भवसागरे ॥२॥

जो अनार्य मित्रों के साथ प्रतिदिन अनार्य कार्य करते हैं, वे संसार-सागर में दुःखों को प्राप्त करते हैं।

४. संधिज्जा आरियं मग्गं, कम्मं जं वावि आरियं।

आरियाणि य<sup>४</sup> मित्ताणि, आरियत्तमुवट्टिते<sup>५</sup> ॥३॥

आर्यत्व में उपस्थित होकर आर्यमार्ग, आर्यकर्म एवं आर्य मित्रों का संधान करना चाहिए।

५. 'जे जणा आरिया'<sup>६</sup> णिच्चं, कम्मं कुव्वंति आरियं।

आरिएहि य मित्तेहि, मुच्चंति<sup>७</sup> भवसागरा ॥४॥

जो आर्य व्यक्ति आर्य मित्रों के साथ नित्य आर्य कर्म करते हैं, वे भव-सागर से मुक्त हो जाते हैं।

६. आरियं णाणं साहू, आरियं साहु दंसणं।

आरियं चरणं साहू, तम्हा सेवह<sup>८</sup> आरियं ॥५॥

आर्य ज्ञान श्रेष्ठ है, आर्य दर्शन अच्छा है, आर्य चरित्र उत्तम है इसलिए आर्य की उपासना करो।

७. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीविकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् आर्यायण ऋषि) कहता हूँ।

१. आयरियायणेणं (ब)।

२. आयरियत्त° (अ)।

३. °रिएहि य (आ, ब, ला, पु)।

४. × (अ)।

५. आयरियत्त° (अ, ब)।

६. जेण जणाणारिया (अ)।

७. मुच्चंती (पा)।

८. सेवय (पु, आ)।

वीसइमं उक्कलज्झयणं

बीसवां अध्ययन : उत्कट



## २०. उत्कट

बीसवें अध्ययन का नाम उत्कट है। डॉ. सागरमलजी जैन ने 'उक्कल' के अनेक रूपों की संभावना व्यक्त की है। उनके अनुसार 'उक्कल' का उत्कल रूप न होकर उत्कट या उत्कुल होना चाहिए।<sup>१</sup> स्थानांग के टीकाकार ने उत्कल और उत्कट—इन दोनों रूपों को प्रस्तुत किया है।<sup>२</sup> ऐसा संभव लगता है कि प्राकृत में ड और ल में अभेद होने से उक्कड का उक्कल हो गया अतः उक्कल की संस्कृत छाया उत्कट ही होनी चाहिए। वैसे भी संस्कृत कोशों में उत्कल शब्द प्रायः नहीं मिलता। आप्टे में उत्कट के निम्न अर्थ मिलते हैं—बड़ा, प्रशस्त, शक्तिशाली, भीषण, ज्यादा, भरपूर, समृद्ध, उन्मत्त, मदोत्कट, श्रेष्ठ, विषम आदि।<sup>३</sup>

इस अध्ययन के बारे में प्रो. शूब्रिंग कहते हैं कि यह सम्पूर्ण अध्ययन हेतुगम्य नहीं है, असंगत सा है। इसका कारण है कि न तो इसमें ऋषि का नाम है और न ही किसी प्रकार का आध्यात्मिक उपदेश। ऋषि का नामोल्लेख न होने का एक कारण यह हो सकता है कि इस अध्ययन में तत्कालीन प्रचलित अनेक दार्शनिक विचार-धाराओं की प्रस्तुति है अतः किसी एक ऋषि का नाम नहीं दिया। प्रथम संग्रहणी में जहां ऋषियों के नाम हैं, वहां भी इस अध्ययन में किसी ऋषि का नाम न आकर 'उक्कलवादी' शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>४</sup> इससे स्पष्ट है कि जो उत्कट की प्ररूपणा करने वाले हैं, वे सब इसमें समाहित हैं। डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार इस अध्ययन में भौतिकवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन होने से इसके प्रवक्ता के रूप में किसी ऋषि का नाम नहीं है।<sup>५</sup> यदि अजितकेशकंबलि या पूरणकाश्यप आदि किसी दार्शनिक का नाम अध्ययन में दिया भी होगा तो यह संभावना की जा सकती है कि विचारों के नास्तिक्य को देखकर बाद के आचार्यों ने अर्हत् ऋषि के रूप में इनका नाम हटा दिया होगा। फिर भी यह खोज का विषय है कि इस अध्ययन में किसी ऋषि का नाम क्यों नहीं दिया गया ?

अंतिम सूत्र में वर्णित विचार अजितकेशकंबलि की दार्शनिक विचारधारा के संवादी हैं। सूत्रकृतांग<sup>६</sup> तथा दीघनिकाय<sup>७</sup> में कुछ अंतर के साथ प्रायः संवादी पाठ मिलता है। ये विचार प्रथम दंडोत्कट से मेल खाते हैं।

इस अध्ययन में पांच उत्कटों का वर्णन है—१. दंड २. रज्जु ३. स्तेन ४. देश और ५. सर्व। स्थानांग सूत्र में भी इन्हीं पांच उत्कटों के नाम मिलते हैं लेकिन टीकाकार अभयदेवसूरि ने राज्य के आधार पर उनकी भिन्न व्याख्या की है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार टीकाकार की व्याख्या का आधार संभवतः शाब्दिक अर्थ रहा, उन्हें

१. ऋषि पृ. ५६।

२. स्थाटी प ३२६ ; उक्कल त्ति उत्कटा उत्कला वा।

३. आप्टे पृ. १८६।

४. ऋषिसं १/३।

५. ऋषि पृ. ५६।

६. सू २/१/१५, उड्डं पायतला, अहे केसग्गमत्थया, तिरियं

तयपरियंते जीवे। एस आया पज्जवे कसिणे। एस जीवे

जीवति, एस मए णो जीवति।

७. दीघ १/२/४/२२।

प्राचीन परम्परा प्राप्त नहीं हुई।<sup>१</sup> अभयदेवसूरि के अनुसार इन पांच उत्कटों की व्याख्या इस प्रकार है—

१. **दण्डोत्कट**—जिसका आज्ञाबल प्रबल हो, अपराध होने पर जिसका दण्ड प्रबल हो, जिसका सेना-बल प्रबल हो अथवा दण्ड के द्वारा जो बढ़ता रहता हो।

२. **रज्जुत्कट**—जिसके पास उत्कट प्रभुत्व हो।

३. **स्तेनोत्कट**—जिसके पास चोरों का प्रबल संग्रह हो।

४. **देशोत्कट**—जिसके पास प्रबल जनमत हो।

५. **सर्वोत्कट**—जिसके पास उपर्युक्त दण्ड आदि सब उत्कट हों।<sup>२</sup>

ऋषिभाषित सूत्र के प्रथम और द्वितीय उत्कट में दंडे और रज्जु के दृष्टान्त के द्वारा चार्वाक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है। जिस प्रकार दंडे का केवल आदि भाग, मध्यभाग या अंतभाग रज्जु नहीं है। उसका समुदयमात्र दण्ड है, वैसे ही पांच भूतों का समुदय ही आत्मा है। इससे भिन्न आत्मा नामक तत्त्व का कोई अस्तित्व नहीं है। सूत्रकृतांग सूत्र में यह वाद तज्जीवतच्छरीरवाद नाम से वर्णित है। इस मान्यता के अनुसार देह है, तब तक ही आत्मा का अस्तित्व है अतः पुण्य, पाप, पुनर्जन्म आदि का अस्तित्व नहीं है। देह के साथ ही संसार की परम्परा का विच्छेद हो जाता है।

दूसरे रज्जुत्कट के अनुसार जैसे धागों का समूह रज्जु है। धागों से भिन्न रज्जु का कोई अस्तित्व नहीं है, वैसे ही पांच भूतों का समुदय होने से उसमें आत्मा नामक तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। वे पांचों भूत सारे लोक में व्याप्त हैं अतः इन्हें महाभूत कहा जाता है।<sup>३</sup>

नास्तिकवादी मत के अनुसार शरीर में जो कठोरभाग है, वह पृथ्वीभूत है। जो द्रव भाग है, वह अप्भूत है। शरीर में जो उष्ण भाग है, वह तैजस्भूत है, जो चल-स्वभाव या उच्छ्वास-निःश्वास है, वह वायुभूत है। शरीर में जो खाली स्थान है, वह आकाशभूत है। भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है। किसी एक भूत की कमी होने पर पृथ्वीभूत पृथ्वी में, अप्भूत अप् में, वायुभूत वायु में, तैजस्भूत तैजस् में तथा आकाशभूत आकाश में मिल जाता है<sup>४</sup> अतः इस मान्यता में पुनर्जन्म को स्थान नहीं है। सूत्रकृतांग की टीका में पंचभूतों से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व

१. ठाणं पृ. ६४८।

२. स्थाटी प. ३२६ ; तत्र दण्डः—आज्ञा अपराधे दण्डनं वा सैन्यं वा उत्कटः—प्रकृष्टो यस्य तेन वोत्कटो यः स दण्डोत्कटः, दण्डेन वोत्कलति वृद्धिं याति यः स दण्डोत्कलः...नवरं राज्यं—प्रभुता, स्तेनाः—चौराः, देशो—मण्डलं सर्व—एतत् समुदय इति।

३. सूटी १ पृ. १० ; विद्यन्ते महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि,

सर्वलोकव्यापित्वान्महद्विशेषणम्।

४. सूचू १ पृ. २३, २४ ;

(क) तत्र यो ह्यस्मिन् शरीरके कठिनभावो तं पुढविभूतं यावत् किञ्चिद् रूपं तं आउभूतं, उसिणस्वभावो कायाग्निश्च तेउभूतं, चलस्वभावं उच्छ्वासनिःश्वासश्च वातभूतं, वदनादिशुषिर-स्वभावमाकाशम्।

(ख) दीघ १/२/४/२२

नहीं है, इस पक्ष को पुष्ट करने वाले सात दृष्टान्तों का उल्लेख है, उनमें से दो दृष्टान्तों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

- \* जैसे जल के बिना जल का बुद्बुद नहीं होता, वैसे ही भूतों से व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।
- \* जैसे गंधर्वनगर आदि यथार्थ न होने पर भी यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करते हैं, वैसे ही शरीर के आकार में परिणत भूतों का समुदय मात्र ही आत्मा का भ्रम उत्पन्न करता है लेकिन यथार्थ में वह उससे पृथक् नहीं है।<sup>१</sup>

आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार दर्शनयुगीन साहित्य में चार्वाक सम्मत चार भूतों का ही उल्लेख है। आगम युग में पकुधकात्यायन आदि दार्शनिक पंचभूतवादी थे। पंच महाभूतवादियों के अनुसार महाभूतों का नाश अर्थात् मृत्यु से ही संसार-परम्परा का व्यवच्छेद करके जीव मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। परलोक जैसी कोई चीज नहीं है और न ही अच्छे-बुरे कर्मों का कोई फल मिलता है।<sup>२</sup>

तीसरा उत्कट है—स्तेनोत्कट। इसकी दो रूपों में व्याख्या की जा सकती है—

- \* दूसरे के अच्छे और नए विचारों का अपहरण करना।
- \* दूसरे के विचारों को तोड़-मरोड़ कर एकांगी रूप में प्रस्तुत करके अपने मत को प्रकाशित करना।

मेरे दर्शन का सिद्धान्त ही सत्य है, दूसरे का नहीं, मेरा धर्म ही ठीक है, दूसरे सब मिथ्या हैं, यह अभिनिवेश सत्य को एकांगी बना देता है। यह दृष्टिराग साम्प्रदायिक उन्माद, असहिष्णुता और विग्रह उत्पन्न करता है। भगवान् महावीर ने सभी एकांगी मतों को सापेक्ष सत्य के रूप में स्वीकार करते हुए अनेकान्त का प्रवर्तन किया।

चौथे देशोत्कट में आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी उसके कर्तृत्व को स्वीकार नहीं किया गया है। आगमयुग के अनुसार पूरणकाश्यप और पकुधकात्यायन का मत अक्रियवादी था। सांख्यदर्शन आत्मा के भोक्तृत्व को स्वीकार करके भी उसके कर्तृत्व को स्वीकार नहीं करता। उनके मतानुसार आत्मा अमूर्त, नित्य और सर्वव्यापी है अतः पुरुष प्रकृति के परिणमन का उपादान के रूप में कर्ता नहीं हो सकता, वह साक्षी रूप में कर्ता है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्रकृति में उपादानमूलक कर्तृत्व है और पुरुष में अधिष्ठानमूलक।<sup>३</sup>

पांचवां उत्कट है—सर्वोत्कट। यह किस विचारधारा से सम्बन्धित है, यह प्रामाणिक रूप से नहीं कहा जा सकता फिर भी यदि गहराई से विचार किया जाए तो सर्वोत्कट एकात्मवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाला दर्शन होना चाहिए। इस मान्यता के अनुसार ब्रह्म सत्य है और संसार में दिखाई देने वाले सारे पदार्थ माया

१. सूटी १ पृ. १४।

२. सू १ पृ. २१।

३. विस्तार हेतु देखें सू १ पृ. २५, २६।

रूप हैं, उनका अस्तित्व नहीं है। डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार सर्वोत्कट वे विचारक हैं, जो तत्त्व की सत्ता को अस्वीकार करते हुए अभाव से ही सभी उत्पत्ति को संभव मानते हैं और यह कहते हैं कि कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो सर्वथा सर्वकाल में अस्तित्व रखता हो। इस प्रकार ये सर्वोच्छेदवाद का प्रतिपादन करते हैं अतः इन्हें सर्वोत्कट कहा जाता है।<sup>१</sup>

पांच उत्कटों की व्याख्या के पश्चात् भी एक भौतिकवादी विचारधारा का निरूपण इस अध्याय में हुआ है। सूत्रकृतांग में इसका संवादी पाठ मिलता है।<sup>२</sup> आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार ये अजितकेशकंबलि के दार्शनिक विचार हैं। इसमें तज्जीवतच्छरीरवादी दार्शनिक विचारधारा की प्रस्तुति है। सूत्रकृतांग में इस मत की पुष्टि में अनेक हेतु दिए गए हैं, जैसे—कोई व्यक्ति तलवार और म्यान, मुंज और शलाका, मांस और हड्डी की भांति आत्मा और शरीर को अलग-अलग करके नहीं दिखा सकता, इसी प्रकार हथेली में आंवला, दही से नवनीत तथा ईख से रस निकालने की भांति आत्मा को शरीर से निकालकर नहीं दिखाया जा सकता अतः आत्मा से भिन्न शरीर का अस्तित्व नहीं है।<sup>३</sup> बौद्धों के दीघनिकाय सूत्र में वर्णित अजितकेशकंबलि के विचार इसके संवादी हैं।<sup>४</sup>

इस प्रकार यह सम्पूर्ण अध्ययन भौतिकवादी मतों को प्रस्तुत करता है। पांच मतों के पश्चात् सातवें, आठवें सूत्र का मत बाद के किसी आचार्य ने सूत्रकृतांग से इसमें जोड़ दिया, ऐसा संभव लगता है। बुद्ध ने अजितकेशकंबलि का नाम तत्कालीन छह तीर्थंकरों में दिया है, इससे स्पष्ट होता है कि उस समय इनके मत का व्यापक प्रचार-प्रसार था फिर भी यह शोध का बिंदु है कि इन दो सूत्रों का समावेश इस अध्ययन में क्यों किया गया ?

१. ऋषि पृ. ५७।

२. सू. २/१/१५।

३. सू. २/१/१७।

४. दीघ १/२/४/२२।

## २०. उक्कलज्झयणं : उत्कल अध्ययन

१. पंच उक्कला<sup>१</sup> पण्णत्ता, तंजहा—१. दंडुक्कले २. रज्जुक्कले ३. तेणुक्कले ४. देसुक्कले ५. सव्वुक्कले<sup>२</sup> ।

पांच उत्कट प्रज्ञप्त हैं—१. दण्ड उत्कट २. रज्जु उत्कट ३. स्तेन उत्कट ४. देश उत्कट ५. सर्व उत्कट ।

२. से किं तं दंडुक्कले? दंडुक्कले णामं जे णं दंडदिट्ठंतेणं आदिल्लमज्झवसाणाणं<sup>३</sup> पण्णवणाए समुदयमेत्ताऽभिधाणाइं णत्थि सरीरातो परं जीवो त्ति भवगतिवोच्छेदं वदति<sup>४</sup>, से तं दंडुक्कले ।

दंड उत्कट क्या होता है? दण्ड उत्कट को दण्ड के दृष्टान्त से समझना चाहिए। जैसे दंड का आदि, मध्य और अंत मिलकर दंड की संज्ञा प्राप्त करता है, वैसे ही शरीर से भिन्न आत्मा नामक तत्त्व नहीं है। शरीर का नाश होने पर संसार का नाश हो जाता है, इसे दण्डोत्कट कहा जाता है<sup>५</sup> ।

३. से किं तं रज्जुक्कले? रज्जुक्कले णामं जे णं रज्जुदिट्ठंतेणं समुदयमेत्तपण्णवणाए पंचमहभूतखंधमेत्ताऽभिधाणाइं संसारसंसतीवोच्छेदं<sup>६</sup> वदति, से तं रज्जुक्कले ।

रज्जु उत्कट किसे कहते हैं? रज्जु उत्कट को रज्जु दृष्टान्त से प्रतिपादित किया जा सकता है। जीव पांच महाभूत के स्कंधों का समुदय मात्र है। महाभूतों का नाश होने पर संसार की परम्परा का नाश हो जाता है, इसे रज्जु उत्कट कहा जाता है<sup>७</sup> ।

१. टीकाकार ने उक्कट की संस्कृत छाया उत्कट की है। (ऋवृ पृ. १४०)
२. ठाणं (५/२०२) में इन्हीं पांच उत्कलों का निर्देश मिलता है लेकिन वहां ये पांचों उत्कल—उत्कट राज्य-शक्ति से संबंधित हैं। स्थानांग के टीकाकार अभयदेवसूरि ने उक्कल का संस्कृत रूप उत्कल और उत्कट—दोनों किया है।
३. °वसाणं (स, पा) ।
४. वदंति (स) ।
५. दंडोत्कट से ऋषि देहात्मैक्य की स्थापना करके पुनर्जन्म के व्यवच्छेद का प्रतिपादन करते हैं। जैसे पूरा दंड, दंड की संज्ञा पाता है, वैसे ही शरीर से भिन्न आत्मा का कोई अस्तित्व नहीं है, यह देहात्मवाद का सिद्धान्त प्रतीत होता है। इस परम्परा में देह को ही सब कुछ मान लेने से पुण्य, पाप, पुनर्जन्म आदि का अस्तित्व मानना भी संभव नहीं है। देह के साथ ही संसार-परम्परा का विच्छेद हो जाता है।
६. °संसतिं (अ), °संततीं (स, पा) ।
७. रज्जु उत्कट में रज्जु की उपमा से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है, जैसे धागों का समूह रज्जु है। इसके अतिरिक्त उसका कोई अस्तित्व नहीं है, वैसे ही पांच भूतों का समुदय होने पर उसमें आत्मा नामक तत्त्व उत्पन्न हो जाता है। ये

पाचों भूत सारे लोक में व्याप्त हैं अतः इन्हें महाभूत कहा जाता है। नास्तिकवादी मत के अनुसार शरीर में जो कठोरभाग है, वह पृथ्वीभूत है। जो द्रव भाग है, वह अप्भाग है। शरीर में जो उष्ण भाग है, वह तैजस्भूत है। शरीर में जो चल-स्वभाव या उच्छ्वास-निःश्वास हैं, वह वायुभूत है। शरीर में जो खाली स्थान है, वह आकाशभूत है। भूतों से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। किसी एक भूत की कमी होने पर पृथ्वीभूत पृथ्वी में, अप्भूत अप् में, वायुभूत वायु में, तैजस्भूत तैजस् में तथा आकाशभूत आकाश में मिल जाता है अतः इस मान्यता में पुनर्जन्म को स्थान नहीं है। (सूटी १ पृ. १०)

सूत्रकृतांग की टीका में पंचभूतों से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इस पक्ष को पुष्ट करने वाले सात दृष्टान्तों का उल्लेख है, उनमें से दो दृष्टान्तों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है—

\* जैसे जल के बिना जल का बुद्बुद नहीं होता, वैसे ही भूतों से व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।

\* जैसे गंधर्वनगर आदि यथार्थ न होने पर भी यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करते हैं, वैसे ही शरीर के आकार में परिणत भूतों का समुदय मात्र भी आत्मा का भ्रम उत्पन्न करता है लेकिन यथार्थ में वह उससे पृथक् नहीं है। (सूटी १ पृ. १४)



४. से किं तं तेणुक्कले ? तेणुक्कले णामं जेणं अण्णसत्थदिट्ठंतगाहेहिं सपक्खुब्भावणाणिरते मम 'नेतं इति'<sup>१</sup> परकरुणाच्छेदं<sup>२</sup> वदति, से तं तेणुक्कले ।

स्तेनोत्कट किसे कहा जाता है ? जो अन्य शास्त्रों की दृष्टान्त गाथाओं के माध्यम से अपने पक्ष को प्रकट करने में लगा हुआ ऐसा कहता है कि मेरा कथन ही सत्य है, दूसरे का नहीं। इस प्रकार दूसरों की अहिंसक—धार्मिक मान्यताओं का निराकरण करता है, वह स्तेनोत्कट कहलाता है<sup>३</sup> ।

५. से किं तं देसुक्कले ? देसुक्कले णामं जे णं 'अत्थि न्नेस'<sup>४</sup> इति सिद्धे जीवस्स अकत्तादिएहिं गाहेहिं देसुच्छेदं<sup>५</sup> वदति, से तं देसुक्कले ।

देश उत्कट किसे कहा जाता है ? देश उत्कट में जीव आत्मा का अस्तित्व स्वीकार करता हुआ उसके कर्तृत्व को स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार जीव के अकर्तृत्व का प्रतिपादन करता हुआ जीव के देशोच्छेद का कथन करता है, वह देश उत्कट<sup>६</sup> है ।

६. से किं तं सव्वुक्कले ? सव्वुक्कले णामं जे णं सव्वतो सव्वसंभवाभावा णो<sup>७</sup> तच्चं, सव्वतो सव्वहा सव्वकालं च णत्थि त्ति सव्वुच्छेदं वदति, से तं सव्वुक्कले ।

सर्व उत्कट क्या है ? सर्वतः सबकी उत्पत्ति का अभाव होने से सर्व काल में सर्वतः सब प्रकार से पदार्थ का अस्तित्व नहीं है, वह सर्वोत्कट<sup>८</sup> कहलाता है ।

७. 'उड्डं पायतला' अथे केसग्गमत्थका एस आतापज्जवे<sup>९</sup> कसिणे तयपरियंते जीवे, एस जीवे जीवति, एतं तं जीवितं भवति<sup>१०</sup>, से जहा णामए दड्डेसु बीएसु ण<sup>१०</sup> पुणो अंकुरुप्पत्ती भवति, एवामेव दड्डे

१. गेतमिति (पा, ब) ।

२. परकरण<sup>०</sup> (ब) ।

३. स्तेनोत्कट को दो रूपों में व्याख्यायित किया जा सकता है—

\* दूसरे के अच्छे विचारों का अपहरण करना ।

\* दूसरे के विचारों को गलत रूप में प्रस्तुत करके स्वमत को प्रकाशित करना ।

मेरा सिद्धान्त ही सत्य है, दूसरे का नहीं—यह मिथ्याभिनवेश सत्य को एकांगी बना देता है। इस साम्प्रदायिक अभिनवेश और दृष्टिराग के कारण व्यक्ति दूसरे के सिद्धान्तों को तोड़-मरोड़कर अपने पक्ष की स्थापना में लगा रहता है ।

४. × (अ) ।

५. देशोत्कट अकारकवादियों का मत है। वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके भी उसके कर्तृत्व को स्वीकार नहीं करते। आगमयुग के अनुसार पूरणकाश्यप और पकुधकात्यायन का मत अक्रियवादी था। सांख्यदर्शन आत्मा के भोक्तृत्व को स्वीकार करके भी उसके कर्तृत्व को स्वीकार नहीं करता। उनके मतानुसार आत्मा अमूर्त, नित्य और सर्वव्यापी है अतः

पुरुष प्रकृति के परिणामन का उपादान के रूप में कर्ता नहीं हो सकता, वह साक्षी रूप में कर्ता है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार प्रकृति में उपादानमूलक कर्तृत्व है और पुरुष में अधिष्ठान-मूलक। (विस्तार हेतु देखें सू १ पृ. २५, २६)

६. णे (पा) ।

७. सर्वोत्कट किस दार्शनिक परम्परा से सम्बन्धित है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। फिर भी यदि गहराई से विचार करें तो सर्वोत्कट एकात्मवादी विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसके अनुसार ब्रह्म सत्य है और संसार में दिखाई देने वाले सारे पदार्थ माया रूप हैं, उनका अस्तित्व नहीं है ।

८. आताए प<sup>०</sup> (पा, ब) ।

९. सूत्रकृतांग (२/१/१५) में यह पाठ इस प्रकार मिलता है—  
“उड्डं पायतला, अहे केसग्गमत्थया, तिरियं तयपरियंते जीवे । एस आया पज्जवे कसिणे । एस जीवे जीवति, एस मए णो जीवति ..... ।” सूत्रगडों में ‘तिरियं’ पाठ महत्त्वपूर्ण है। यह शब्द ऋषिभाषित में नहीं है लेकिन फिर भी भावार्थ स्पष्ट है ।

१०. णो (पा, ब) ।

सरीरे ण पुणो सरीरुप्पत्ती भवति । तम्हा इणमेव जीवितं, णत्थि परलोए, णत्थि सुकडदुक्कडाणं<sup>१</sup> कम्माणं फलवित्तिविसेसे । णो पच्चायंति जीवा, णो फुसंति पुण्णपावा, अफले कल्लाणपावाए ।

सिर से पैर तक तथा नीचे पादतल से मस्तक के केशाग्र तक आत्मा के पर्यव हैं । सम्पूर्ण त्वचा पर्यन्त तक जीव है । यह (शरीर) जीता है, तब तक प्राणी जीता है, यह उसका जीवन है । जैसे दग्ध बीजों में पुनः अंकुरों की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही शरीर के जल जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती इसलिए जो अभी मिला है, वही जीवन है । परलोक नहीं है, सुकृत और दुष्कृत कर्मों की फल-प्राप्ति भी नहीं है । जीव का पुनर्जन्म नहीं होता । पुण्य और पाप आत्मा का स्पर्श नहीं करते । पुण्य और पाप निष्फल हैं<sup>२</sup> ।

८. तम्हा एतं सम्मं ति बेमि, उड्डं पायतला अहे केसग्गमत्थका एस आया पज्जवे कसिणे तयपरियंते एस जीवे । एस मडे, णो एतं तं 'जीवितं भवति'<sup>३</sup> से जहाणामए दड्ढेसु बीएसु 'न पुणो अंकुरुप्पत्ती भवति'<sup>४</sup> एवामेव दड्ढे सरीरे न पुणो सरीरुप्पत्ती भवति । तम्हा पुण्णपावाऽग्गहणा सुहदुक्खसंभवाभावा<sup>५</sup> सरीरदाहे पावकम्माभावा सरीरं डहेत्ता णो पुणो सरीरुप्पत्ती भवति ॥

इसलिए जो सम्यक् है, वह मैं कहता हूँ । सिर से लेकर पैर तक तथा पैर से मस्तक के केशाग्र तक आत्मा के पर्यव हैं । त्वक् पर्यन्त जीव है । इसके मरने पर यह जीव नहीं होता । जैसे बीजों के दग्ध होने पर उनमें अंकुरों की उत्पत्ति नहीं होती, वैसे ही शरीर के दग्ध हो जाने पर शरीर की उत्पत्ति नहीं हो सकती अतः पुण्य और पाप के ग्रहण न होने से सुख और दुःख की उत्पत्ति का अभाव है । शरीर के दग्ध होने पर पाप कर्म का अभाव हो जाता है । शरीर जल जाने पर पुनः शरीर की उत्पत्ति नहीं होती ।

९. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणारवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, दान्त, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं कहता हूँ ।

१. सुक्कड° (पा, ला) ।

२. इस सूत्र में अजितकेशकंबलि के तज्जीवतच्छरीरवाद के दार्शनिक विचारों की प्रस्तुति है । आश्चर्य का विषय यह है कि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में ऋषिभाषित का संवादी पाठ मिलता है । यहां जो पाठ संक्षेप में है, वह सूत्रकृतांग में विस्तार से मिलता है । वहां उनके मत की पुष्टि में अनेक हेतु मिलते हैं, जैसे—कोई भी व्यक्ति तलवार और म्यान, मुंज और शलाका, मांस और हड्डी की भांति आत्मा और शरीर को अलग-अलग करके नहीं दिखा सकता, इसी प्रकार हथेली

में आंवला, दही से नवनीत तथा ईख से रस निकालने की भांति आत्मा को शरीर से निकालकर नहीं दिखाया जा सकता अतः आत्मा से भिन्न शरीर का अस्तित्व नहीं है । (सू २/१/१५-१७) बौद्धों के दीघनिकाय सूत्र में वर्णित अजितकेशकंबलि के विचार इसके संवादी हैं । (दीघ १/२/४/२२)

३, ४. × (ब, स) ।

५. °दुह° (पा) ।



एगवीसइमं गाहावइपुत्तरुणज्झयणं

इक्कीसवां अध्ययन : गाथापतिपुत्र तरुण



## २१. ऋषि गाथापतिपुत्र तरुण

इक्कीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि गाथापति तरुण हैं। गाथापतिपुत्र इस नाम के आगे 'तरुण' विशेषण लगाने से यह भ्रम पैदा होता है कि यह उनकी युवावस्था में ऋषि बनने की बात को प्रकट कर रहा है अथवा यह उनका मूल नाम था क्योंकि गाथापतिपुत्र उनका नाम नहीं होना चाहिए। इससे तो यह फलित होता है कि ये किसी समृद्ध श्रेष्ठी के पुत्र थे अथवा उनके पिता का नाम गाथापति था। ऋषिभाषित की प्रथम संग्रहणी की तीसरी गाथा में 'तरुण' नाम का उल्लेख है, इससे कल्पना की जा सकती है कि यह उनका विशेषण नहीं, अपितु मूल नाम था।

भगवान् महावीर के समय चार प्रसिद्ध वादों के ३६३ मत प्रसिद्ध थे। उनमें क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४, वैनयिकों के ३२ तथा अज्ञानवादियों के ६७ भेद थे। अज्ञानवादी अज्ञान से सिद्धि-प्राप्ति मानते थे। उनकी मान्यता थी कि जगत् का स्वरूप क्या है, यह कैसे बना है? इसके कितने तत्त्व हैं? इन सब बातों का ज्ञान करना व्यर्थ है। मोक्ष-प्राप्ति हेतु इन सबका ज्ञान आवश्यक नहीं है। ऋषि ने अज्ञान से होने वाली अनेक विसंगतियों का खुलकर वर्णन किया है। ऋषि का माहात्म्य और सारल्य इस बात से प्रकट हो रहा है कि उन्होंने अपने अज्ञान को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। अध्ययन का प्रारम्भ ही उन्होंने इस वाक्य से किया है कि पहले मैं कुछ नहीं जानता था, समझता था, अज्ञान के कारण मैंने कामना के वशीभूत होकर अनेक कार्य किए, अब ज्ञानी होने के कारण कामना के वशीभूत होकर किए जाने वाले कार्य मेरे लिए अकरणीय हो गए हैं। ऋषि के इस वक्तव्य से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें कोई अतिशायी ज्ञान प्राप्त हुआ है, लेकिन कैवल्य की प्राप्ति नहीं हुई। यदि कैवल्य प्राप्त होता तो वे यह नहीं कहते कि अब मैं अज्ञान को छोड़कर ज्ञानी बनकर सारे दुःखों का अन्त करूंगा। ऋषि ने आत्मज्ञान और बाह्यज्ञान—दोनों को महत्त्व दिया है। उन्होंने पशु-पक्षियों के अनेक दृष्टान्तों से अज्ञान से होने वाले दुःख को प्रकट किया है।

प्रायः धर्मों में ज्ञान का महत्त्व प्रतिपादित है। गीता के निम्न वाक्य ज्ञान के माहात्म्य को प्रकट कर रहे हैं—

\* ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पंडितं बुधाः।<sup>१</sup>

\* ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि, भस्मसात् कुरुते क्षणात्।<sup>२</sup>

\* न हि ज्ञानेन सदृशं, पवित्रमिह विद्यते।<sup>३</sup>

निर्युक्ति-साहित्य में ज्ञान को प्रकाशक तत्त्व बताया है।<sup>४</sup> आधुनिक पाश्चात्य विद्वान् ज्ञान को शक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। उन्होंने अपने लिए 'अण्णाणमूलक' विशेषण का प्रयोग किया है। अध्ययन के अनेक

१. गीता ४/१९।

२. गीता ४/३७।

३. गीता ४/३८।

४. आवनि ९७ ; णाणं पयासगं।

वक्तव्यों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गाथापति तरुण भी पहले अज्ञानवादी परम्परा से प्रभावित थे लेकिन बाद में सम्यक् दृष्टिकोण उदित होने से उनके जीवन में ज्ञान का सूर्य उदित हो गया।

ऋषि कथाप्रिय हैं अतः इस छोटे से अध्ययन में उन्होंने तीन कथाओं का संकेत कर दिया है। प्रथम कथा पंचतंत्र अथवा जातक से सम्बन्धित है। दूसरी कथा भी संभवतः उसी से सम्बद्ध होनी चाहिए। तीसरी कथा में उन्होंने भद्रा का नामोल्लेख किया है। यहां 'भद्रा' शब्द 'अच्छी' के अर्थ में उसके विशेषण के रूप में प्रयुक्त है अथवा नाम के रूप में, यह विमर्शनीय है क्योंकि जैन कथाओं में भद्रा नाम की किसी महिला ने अपने पुत्र को मारकर खाया हो, ऐसा उल्लेख नहीं मिलता इसलिए यह संभव लगता है कि भद्रा उसका विशेषण होना चाहिए। यहां सुकौशल की मां सहदेवी की कथा प्रसंग के अनुसार उपयुक्त लगती है। टीकाकार ने भी इस प्रश्न को उठाया है कि सुकौशलमातृसहदेवी कथा, सा तु किमिहाधिक्रियते न वेति शंक्यते।<sup>१</sup>

---

१. ऋषु पृ. १४१।

## २१. गाहावइपुत्तज्झयणं : गाथापतिपुत्र अध्ययन

१. गाहं पुरा किंचि जाणामि सव्वलोकंसि, गाहावतिपुत्तेण तरुणेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

मैं पहले सम्पूर्ण लोक के बारे में कुछ नहीं जानता था, अर्हत् गाथापतिपुत्र तरुण ने ऐसा कहा ।

२. अण्णाणमूलकं खलु भो पुव्वं न जाणामि न पासामि<sup>१</sup> नोऽभिसमावेमि नोऽभिसंबुज्झामि, नाणमूलाकं खलु भो इयाणिं जाणामि पासामि अभिसमावेमि<sup>२</sup> अभिसंबुज्झामि । अण्णाणमूलकं खलु मम कामेहिं किच्चं करणिज्जं, पाणमूलकं खलु मम कामेहिं अकिच्चं अकरणिज्जं । अण्णाणमूलकं जीवा चाउरंतं संसारं जाव परियद्वयंति, पाणमूलकं जीवा चाउरंतं जाव वीयीवयंति । तम्हा अण्णाणं परिवज्ज पाणमूलकं सव्वदुक्खाणं अंतं करिस्सामि, सव्वदुक्खाणं अंतं किच्चा सिवमयल जाव<sup>३</sup> सासतं अब्भुवगते<sup>४</sup> चिद्धिस्सामि ।

अज्ञान होने के कारण पहले मैं न जानता था, न देखता था, न समझता था और न अवबोध रखता था । वर्तमान में ज्ञानी होने के कारण मैं जानता हूँ, देखता हूँ, समझता हूँ और अबुद्ध होता हूँ । अज्ञान के कारण मैंने कामना के वशीभूत होकर कार्य किया । ज्ञान होने के कारण मेरे लिए कामना के वशीभूत होकर होने वाले कृत्य अकरणीय हो गए । अज्ञान के कारण जीव चातुरन्त संसार में परिभ्रमण करते हैं । ज्ञान सम्पन्न होने पर जीव चातुरन्त संसार का पार पा जाते हैं इसलिए अज्ञान को छोड़कर ज्ञान सम्पन्न होकर मैं सब दुःखों का अन्त करूँगा । सब दुःखों का अन्त करके शिव, अचल यावत् शाश्वत स्थान को प्राप्त करके मोक्ष में स्थित रहूँगा ।

३. अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं ।

अण्णाणमूलो संसारो, विविहो सव्वदेहिणं ॥ १ ॥

अज्ञान उत्कृष्ट दुःख है । अज्ञान से भय उत्पन्न होता है । समस्त प्राणियों के लिए संसार-परम्परा का कारण अज्ञान ही है ।

४. मिगा बज्झंति पासेहिं, विहंगा मत्तवारणा ।

मच्छा गलेहि सासंति, अण्णाणं सुमहब्भयं ॥ २ ॥

अज्ञान के कारण ही मृग, पक्षी और मदोन्मत्त हाथी जाल में बंधते हैं । मछलियां कांटे से नियंत्रित की जाती हैं अतः अज्ञान सबसे बड़ा भय है ।

५. जम्मं जरा य मच्चू य, सोगो माणोऽवमाणणा ।

अण्णाणमूलं जीवाणं, संसारस्स य संतती ॥ ३ ॥

अज्ञान के कारण ही जीवों को जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक तथा मान और अपमान प्राप्त होते हैं । प्राणियों की संसार-परम्परा का मूल कारण अज्ञान है ।

१. पासामी (आ) ।

२. अभिगमावेमि (अ), °मामेमि (पा, ब) ।

३. जाव पाठ की पूर्ति हेतु देखें ऋषिभाषित का सूत्र ९/२ ।

४. × (अ, पा, स) ।



६. अण्णाणेण अहं पुव्वं, दीहं संसारसागरं।  
जम्मजोणिभयावत्तं, सरंतो<sup>१</sup> दुक्खजालकं ॥ ४ ॥

अज्ञान के कारण ही मैंने पहले जन्म योनि जन्य भय के आवर्त वाले दुःखद संसार-सागर में दीर्घ काल तक भ्रमण किया।

७. दीवे पातो पतंगस्स, कोसियारस्स बंधणं।  
किंपाकभक्खणं चेव, अण्णाणस्स णिदंसणं ॥ ५ ॥

पतंगे का दीपक में झंपापात, रेशम के कीड़े का बंधन तथा किंपाक फल का भक्षण—ये अज्ञान के उदाहरण हैं।

८. बितियं जरो दुपाणत्थं, दिट्ठो अण्णाणमोहितो।  
संभग्गातलट्ठी उ, मिगारी णिधणं गतो ॥ ६ ॥

कूप में स्थित दूसरे सिंह को देखकर अज्ञान से मोहित वृद्ध सिंह (अपनी परछाई को दूसरा सिंह समझकर वह उसमें कूद पड़ा।) इससे उसका शरीर भग्न हो गया और वह मृत्यु को प्राप्त हो गया।<sup>२</sup>

९. मिगारी य भुयंगो य, अण्णाणेण विमोहिता।  
गाहादंसणिवातेणं, विणासं दो वि ते गता ॥ ७ ॥

अज्ञान से मूढ़ सिंह और भुजंग पंजे की पकड़ और दंश के प्रहार से आपस में विनाश को प्राप्त हो गए।<sup>३</sup>

१०. सुप्पियं तणयं भद्दा, अण्णाणेण विमोहिता।  
माता तस्सेव सोगेण, कुब्धा तं चेव खादति<sup>४</sup> ॥ ८ ॥

अज्ञान से मूढ़ भद्रा ने अपने अत्यन्त प्रिय पुत्र के शोक से क्षुभित होकर उसी का भक्षण कर लिया।<sup>५</sup>

११. विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं व<sup>६</sup> जोयणं।  
साहणं वावि विज्जाणं, अण्णाणेण ण सिज्झति<sup>७</sup> ॥ ९ ॥

अज्ञान के कारण ही औषधियों का मेल, अनेक संयोगों का योग तथा विद्याओं की साधना सिद्ध नहीं होती।

१२. विण्णासो ओसहीणं तु, संजोगाणं व जोयणं।  
साहणं वावि विज्जाणं, णाणजोगेण सिज्झति<sup>८</sup> ॥ १० ॥

औषधियों का विन्यास, अनेक द्रव्यों के संयोगों का योग तथा विद्याओं की साधना—ज्ञान-योग से सिद्ध होती है।

१३. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् गाथापतिपुत्र तरुण ऋषि) कहता हूँ।

१. सरितो (ब), सरितो (पा)।

५. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ३।

२., ३. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १, २।

६. च (ब)।

४. वर्तमान की क्रिया का प्रयोग होने पर भी यह अतीत काल का अवबोध देती है।

७, ८. सिज्झती (स)।

दुवीसइमं दगभालज्झयणं

बावीसवां अध्ययन : दकभाल/गर्दभाल



## २२. ऋषि दकभाल अथवा गर्दभाल

बावीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—दकभाल या गर्दभाल। इसलिए इस अध्ययन के दो नाम हैं—दकभाल एवं गर्दभाल। उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन में राजा संजय के प्रेरणास्रोत के रूप में गर्दभिल्ल ऋषि के नाम का उल्लेख मिलता है। इनके नाम के आगे 'विद्याचरणपारक' विशेषण भी मिलता है।<sup>१</sup> भगवती के दूसरे शतक में भी गर्दभाल आचार्य का उल्लेख मिलता है<sup>२</sup> लेकिन ये गर्दभिल्ल ऋषि ऋषिभाषित के ऋषि नहीं होने चाहिए। अध्ययन की विषय-वस्तु की गहराई में जाने पर ऐसा प्रतीत होता है कि ये वैदिक ऋषि रहे होंगे, जो ईश्वरकर्तृत्व के समर्थक थे फिर भी इस अध्ययन के कर्तृत्व के संदर्भ में और अधिक खोज की आवश्यकता है।

अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि ने कर्म के परिशाटन की प्रेरणा देते हुए किया है। ऋषि के अनुसार कर्मों का परिशाटन करने वाला ज्ञानी कर्म से वैसे ही अलिप्त रहता है, जैसे जल में कमल-पत्र।

दूसरे सूत्र में ऋषि ने गहन दार्शनिक चर्चा प्रस्तुत की है। सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कंध में इस अध्ययन का संवादी पाठ मिलता है। दोनों पाठों के साम्य को देखने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि सूत्रकृतांग में जो बात विस्तार से कही गई है, वही बात ऋषिभाषित में संक्षेप में कही गई है। सूत्रकृतांग में यह पाठ ईश्वरकारणिकवाद को प्रस्तुत करने वाला है। यदि सूत्रकृतांग का पाठ सामने न होता तो इस अध्ययन की गहन दार्शनिक पृष्ठभूमि को नहीं समझा जा सकता था क्योंकि ऋषिभाषित के टीकाकार ने धम्म—धर्म का अर्थ मैथुन की अभिलाषा (ग्रामधर्म) किया है। गद्य के बाद पद्य में दी गई गाथाएं भी टीकाकार के अर्थ की संवादी हैं लेकिन पाठ-साम्य की दृष्टि से यहां सूत्रकृतांग का अर्थ अधिक संगत लगता है।

सूयगडो में पुरुषादिक<sup>३</sup>, पुरुषोत्तरिक, पुरुषप्रणीत, पुरुषसंभूत, पुरुषप्रद्योतित, पुरुषअभिसमन्वागत आदि विशेषण प्रयुक्त हैं। इनके स्थान पर ऋषिभाषित में पुरुषादिक, पुरुषप्रवर, पुरुषज्येष्ठ, पुरुषकल्पित, पुरुषप्रद्योतित, पुरुषसमन्वागत विशेषण हैं। अंत में पुरुषमेव अभिभूत चिद्वृत्ति के स्थान पर ऋषिभाषित में पुरुषमेव अभिउंजियाणं चिद्वृत्ति पाठ है।

ऋषिभाषित में अरति दृष्टान्त का विस्तार किया गया है। शेष गण्ड, वल्मीक आदि का केवल संकेत मात्र किया है। सूत्रकृतांग में ये सब दृष्टान्त विस्तार से वर्णित हैं—

१. उ १८/२२।

२. भ २/२४ ; तत्थ णं सावत्थीए नगरीए गद्दभालस्स अंतेवासी....।

३. इस अध्ययन के संदर्भ में खोज का विषय यह है कि संवादी पाठ होने से कौन किससे प्रभावित हुआ ? सूयगडो में यह पाठ ऋषिभाषित से प्रक्षिप्त हुआ अथवा ऋषि सूयगडो से प्रभावित हुए ?

४. ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में उल्लेख मिलता है कि वह पुरुष भोजन करने वाले (चेतन) और न करने वाले (अचेतन) सभी को चारों ओर से व्याप्त किए हुए है। (ऋग्वेद १०/९०/४ ; ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनानशने अभि)

**गण्ड**—व्रण शरीर में उत्पन्न होता है, शरीर में बढ़ता है, शरीर में अभिसमन्वागत है और शरीर में ही व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार धर्मों का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत हैं, ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर से प्रकाशित हैं, ईश्वर से अभिसमन्वागत हैं और ये ईश्वर में ही व्याप्त होकर रहते हैं।<sup>१</sup>

**वल्मीक**—दीमक कृत मिट्टी का टीला पृथ्वी में उत्पन्न होता है, पृथ्वी में बढ़ता है, पृथ्वी में अभिसमन्वागत है और पृथ्वी में ही व्याप्त होकर रहता है, इसी प्रकार धर्मों का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत हैं, ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर से प्रकाशित हैं, ईश्वर से अभिसमन्वागत हैं और ये ईश्वर में ही व्याप्त होकर रहते हैं।<sup>२</sup>

**वृक्ष**—जैसे वृक्ष पृथ्वी में उत्पन्न होता है, पृथ्वी में बढ़ता है, पृथ्वी में अभिसमन्वागत है और पृथ्वी में ही व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार धर्मों का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत हैं, ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर से प्रकाशित हैं, ईश्वर से अभिसमन्वागत हैं और ये ईश्वर में ही व्याप्त होकर रहते हैं।<sup>३</sup>

**पुष्करिणी**—जैसे पुष्करिणी पृथ्वी में उत्पन्न होती है, पृथ्वी में बढ़ती है, पृथ्वी में अभिसमन्वागत है और पृथ्वी में ही व्याप्त होकर रहती है। इसी प्रकार धर्मों का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत हैं, ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर से प्रकाशित हैं, ईश्वर से अभिसमन्वागत हैं और ये ईश्वर में ही व्याप्त होकर रहते हैं।<sup>४</sup>

**उदकपुष्कल**—जैसे जल-कमल जल में उत्पन्न होता है, जल में बढ़ता है, जल में अभिसमन्वागत है और जल में ही व्याप्त होकर रहता है। इसी प्रकार धर्मों का भी ईश्वर कारण है, ईश्वर उनका कार्य है, ईश्वर द्वारा प्रणीत हैं, ईश्वर से उत्पन्न हैं, ईश्वर से प्रकाशित हैं, ईश्वर से अभिसमन्वागत हैं और ये ईश्वर में ही व्याप्त होकर रहते हैं।<sup>५</sup>

सूत्रकृतांग में स्तूप और वनखण्ड का दृष्टान्त उल्लिखित नहीं है।

सहज ही एक प्रश्न उपस्थित होता है कि इतनी गहन दार्शनिक चर्चा करने के पश्चात् ऋषि ने नारी के

१. सू २/१/३४; से जहाणामए गंडे सिया सरीरे जाए सरीरे संवुड्डे सरीरे अभिसमण्णागए सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिस-पज्जोत्तिता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।
२. सू २/१/३४; से जहाणामए वम्मिए सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्डे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोत्तिता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।
३. सू २/१/३४; से जहाणामए रुक्खे सिया पुढविजाए पुढविसंवुड्डे पुढविअभिसमण्णागए पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिस-पज्जोत्तिता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।
४. सू २/१/३४; से जहाणामए पुक्खरिणी सिया पुढविजाया पुढविसंवुड्डा पुढविअभिसमण्णागया पुढविमेव अभिभूय चिट्ठइ। एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोत्तिता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।
५. सू २/१/३४; से जहाणामए उदगबुब्बुए सिया उदगजाए उदगसंवुड्डे उदगअभिसमण्णागए उदगमेव अभिभूय चिट्ठइ एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया पुरिससंभूता पुरिसपज्जोत्तिता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिट्ठंति।

बारे में इतनी गाथाएं कैसे लिख दीं। इस अध्याय में ऋषि ने सारी उपमाओं में नारी को दो रूपों में चित्रित किया है—बाहर से सुंदर, अंदर से दुष्ट। यदि इस सम्पूर्ण प्रसंग को वैदिक दर्शन की गहराई में देखें तो संभावना की जा सकती है कि यहां ऋषि ने नारी को माया का वाचक मानकर माया के वास्तविक स्वरूप को व्यक्त किया है। माया अपने सौन्दर्य से बाह्य रूप में पुरुष को आकृष्ट करती है लेकिन उसका परिणाम दुःखदायी होता है। वह पुरुष को पग-पग पर ठगती है। पांच, छह और सात—इन तीनों गाथाओं में दी गई नौ उपमाएं माया के सही रूप को प्रस्तुत करने वाली हैं।

ऐसा संभव लगता है कि इन गाथाओं को नारी से सम्बन्धित समझकर इस अध्ययन में अन्य ग्रंथों की कुछ गाथाएं भी जोड़ दी गई हैं। जैसे चौथी और दसवीं गाथा व्यवहारभाष्य<sup>१</sup> की हैं। इसी प्रकार आठवीं और नवीं गाथा के बारे में भी विमर्श की आवश्यकता है। क्योंकि इन दोनों गाथाओं में स्पष्ट रूप से नारी की निंदा है, उनको माया के साथ घटित नहीं किया जा सकता।

ऋषि का कथन है कि जैसे अग्नि से जलने का भय रहता है अतः उसका परिहार किया जाता है, वैसे ही संसार में जो शंकास्पद स्थान हैं, उनका उपभोग सोच-समझकर करना चाहिए। कालज्ञ और शास्त्रज्ञ व्यक्ति को वस्तु के विनाशी और अविनाशी स्वरूप को जानना चाहिए। विषयान्तर होते हुए भी अध्ययन के अंत में ऋषि ने बहुत महत्त्वपूर्ण बात कही है कि जिस प्रकार शरीर में मस्तक का और वृक्ष में जड़ का मुख्य स्थान है, वैसे ही सब अच्छे धर्मों में ध्यान का प्रमुख स्थान है।

---

१. व्यवहारभाष्य ९३५, ९३७।

## २२. दगभालज्झयणं : दकभाल अध्ययन

१. परिसाडी कम्मे अपरिसाडिणो ऽबुद्धा, तम्हा<sup>१</sup> खलु परिसाडिणो<sup>२</sup> बुद्धा णोवलिप्यंति रएणं पुक्खरपत्तं व<sup>३</sup> वारिणा, दगभालेण<sup>४</sup> अरहता इसिणा बुद्धं ।

कर्म परिशाटन करने योग्य हैं। अज्ञानी कर्मों का परिशाटन नहीं करते, ज्ञानी कर्मों का परिशाटन करते हैं इसलिए वे वैसे ही कर्मों से लिप्त नहीं होते, जैसे पानी में कमलपत्र<sup>५</sup>, ऐसा अर्हत् दकभाल (गर्दभाल) ऋषि ने कहा।

२. पुरिसादीया<sup>६</sup> धम्मा पुरिसप्पवरा<sup>७</sup> पुरिसजेट्ठा<sup>८</sup> पुरिसकप्पिया पुरिसपज्जोविता पुरिससमन्नागता<sup>९</sup> पुरिसमेव अभिउंजियाण<sup>१०</sup> चिद्धंति<sup>११</sup> ।

धर्मों<sup>१२</sup> (चेतन-अचेतन स्वभावों) का आदि कारण ईश्वर है। यह जगत् ईश्वर प्रधान, ईश्वर ज्येष्ठ, ईश्वर द्वारा निर्मित, ईश्वर से प्रकाशित, ईश्वर से अभिसमन्वागत है और सब ईश्वर में ही व्याप्त होकर रहते हैं।

१. तम्हा उ (अ, स) ।

२. अपरि<sup>०</sup> (पु) ।

३. च (पा) ।

४. यहां ऋषि का नाम 'दकभाल' उल्लिखित है लेकिन अध्ययन का नाम गर्दभीय भी मिलता है। ऋषि का नाम दगभाल (दकभाल) था या गर्दभ (गर्दभिल्ल), यह विमर्शनीय है। टीकाकार ने इस संदर्भ में कोई विमर्श नहीं किया केवल इतना उल्लेख किया है कि दगभालाध्ययनं गर्दभीयेत्यपर-नामकम् (ऋवृ पृ १४२) ।

५. टीकाकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—कर्म हिंसा जन्य है। बुद्ध अहिंसक होते हैं इसलिए बुद्ध हिंसा से वैसे ही लिप्त नहीं होते, जैसे पानी से कमलपत्र, ऐसा अर्हत् गर्दभाल ऋषि ने कहा। (ऋवृ पृ १४२ ; परिशाति हिंसकं कर्म, अपरिशातिनो बुद्धा: तस्मात् खल्वपरिशातिनो बुद्धा णोवलिप्यन्ते)

६. सूत्रकृतांग की भांति यहां 'पुरिसादिया' पाठ होना चाहिए लेकिन प्रतियों में यह पाठ नहीं मिलने के कारण हमने 'पुरिसादीया' पाठ रखा है। सूत्रकृतांग के टीकाकार ने पुरुष का अर्थ ईश्वर या आत्मा किया है। यहां ईश्वरकर्तृत्व का प्रसंग है अतः यहां पुरुष का ईश्वर अर्थ होना चाहिए। पुरुष ही सब धर्मों का आदि कारण है। (सूटी २ पृ. १९०; पुरुष ईश्वर आत्मा वा कारणमादिर्येषां ते पुरुषादिका ईश्वरकारणिका आत्मकारणिका वा।)

७. पुरिसप्पवरा के स्थान पर 'पुरिसप्पभवा' अथवा 'पुरिसोत्तरिया' पाठ होना चाहिए। सूयगडो में इसके स्थान पर 'पुरिसोत्तरिया' पाठ मिलता है। प्रथम पुरिसादीया विशेषण का अर्थ है—ईश्वर जगत् का आदि कारण है। पुरिसोत्तरिया का अर्थ होगा ईश्वर

उसका (उत्तर) कार्य है। इसका अर्थ है कि पुरुष ही चेतन-अचेतन पदार्थ के रूप में अपने आपको फैलाता है। जगत् के आदि कारण और उत्तर कार्य रूप में वही है। आचार्य महाप्रज्ञ ने इस प्रसंग की यह व्याख्या की है कि जगत् का आदि बिन्दु भी वही है और उत्तरबिन्दु (भविष्य) भी वही है। (सू २ पृ. ४८०, ४८१)

८. सूयगडो में 'पुरिसजेट्ठा' के स्थान पर 'पुरिससंभूया' शब्द का प्रयोग है, वह संगत लगता है। 'धम्मा' के साथ पुरिसजेट्ठा विशेषण कुछ भ्रम पैदा करता है। बहुत अधिक संभव लगता है कि बाद के आचार्यों के समक्ष इस पूरे प्रसंग की पृष्ठ-भूमि नहीं रही अतः उन्होंने इसका अर्थ भिन्न रूप में कर दिया।

९. सूत्रकृतांग के टीकाकार ने इसका अर्थ किया है कि जन्म, जरा, मरण, व्याधि, रोग, शोक, सुख-दुःख आदि जो जीवों के धर्म हैं तथा वर्ण, गंध, रस, स्पर्श आदि जो मूर्त अजीव द्रव्यों के धर्म हैं तथा गति, स्थिति, अवकाश आदि जो अमूर्त अजीव द्रव्यों के धर्म हैं, वे सब ईश्वरकृत हैं। (सूटी २ पृ. १९०)

१०. °याणं (पा) ।

११. सूयगडो (२/१/३४) में ईश्वरकारणिकवाद के प्रसंग में जो पाठ मिलता है, वह इसका संवादी है—

.....इह खलु धम्मा पुरिसादिया पुरिसोत्तरिया पुरिसप्पणीया, पुरिससंभूता पुरिसपज्जोविता पुरिसअभिसमण्णागता पुरिसमेव अभिभूय चिद्धंति ।

१२. टीकाकार ने धर्म का अर्थ ग्रामधर्म अर्थात् मैथुन की अभिलाषा किया है। (धर्मा इति ग्रामधर्मा मैथुनाभिलाषः (ऋवृ पृ १४२) ।

३. से जहानामए अरती सिया सरीरंसि जाता सरीरंसि वड्डिता सरीरसमन्नागता सरीरं चेव अभिउंजियाण चिट्ठति, एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया जाव चिट्ठति<sup>१</sup>। एवं गंडे<sup>२</sup> वम्मीके थूभे रुक्खे वणसंडे पुक्खरिणी<sup>३</sup> णवरं पुढवीय जाता भाणियव्वा, उदगपुक्खले<sup>४</sup> उदगं णेतव्वं<sup>५</sup>। से जहाणामए अगणिकाए सिया अरणीय<sup>६</sup> जाते जाव अरणीं चेव अभिभूय चिट्ठति, एवामेव धम्मा वि पुरिसादीया तं चेव।

जैसे कोई अरति<sup>०</sup>—मेद शरीर में पैदा होता है, शरीर में बढ़ता है और शरीर से ही व्याप्त होकर रहता है, इसी प्रकार सब धर्मों का आदि कारण ईश्वर है यावत् ईश्वर से ही व्याप्त होकर रहते हैं। इसी प्रकार फोड़ा, वल्मीक—दीमक द्वारा बनाया गया मिट्टी का टीला, स्तूप, वृक्ष, वनखण्ड और पुष्करिणी—ये सब पृथ्वी से उत्पन्न होकर पृथ्वी से जुड़कर रहते हैं, जैसे कमल पानी में उत्पन्न होता है और उससे जुड़कर रहता है, जैसे अग्नि अरणि<sup>७</sup> से उत्पन्न होती है और अरणि का ही आश्रय लेकर रहती है। इसी प्रकार सब धर्मों का आदि कारण ईश्वर है। आगे वैसा ही जानना चाहिए।

४. धित्तेसिं गामणगराणं, जेसिं महिला पणायिका।

ते यावि धिक्कया पुरिसा, जे इत्थीणं वसं गता<sup>११</sup> ॥ १ ॥

उन ग्राम और नगरों को धिक्कार है, जहां महिला प्रशासिका है। वे व्यक्ति भी धिक्कार के पात्र हैं, जो स्त्रियों के वशीभूत हैं।

५. गाहाकुला सुत्तिव्वा<sup>१०</sup> व, आवगा<sup>११</sup> मधुरोदका।

फुल्ला व पडमिणी रम्मा, वालक्कंता व मालई<sup>१२</sup> ॥ २ ॥

स्त्री मधुर जल से युक्त, रम्य और विकसित कमल के फूलों वाली उस नदी के समान है, जो मगरमच्छों

१. सूत्रकृतांग (२/१/३४) में इसके स्थान पर कुछ अंतर के साथ निम्न पाठ मिलता है—  
से जहाणामए अरई सिया सरीरे जाया सरीरे संवुड्डा, सरीरे अभिसमण्णागया सरीरमेव अभिभूय चिट्ठइ, एवमेव धम्मा वि पुरिसादिया.....चिट्ठति।
२. सूत्रकृतांग में पहले गण्ड उपमा का वर्णन है फिर अरति का उल्लेख है।
३. सूयगडो (२/१/३४) में थूभ —स्तूप और वनखण्ड ये दो दृष्टान्त नहीं हैं।
४. सूयगडो (२/१/३४) में उदक से सम्बन्धित उदकबुद्बुद का दृष्टान्त और दिया गया है।
५. °व्वाणि (पा)।
६. अग्निकाय में अरणि का उदाहरण सूयगडो में प्राप्त नहीं है।
७. आचार्य महाप्रज्ञ ने 'अरति' का अर्थ मेद का रोग किया है। (सू टिप्पण पृ. ४८१) यह पकता नहीं केवल गांठ के रूप में ही रहता है। (निचू २ पृ. २१५ ; अरतितं वा अरतितो जं ण

पच्चति।) आटे में अरति का अर्थ पित्तज बीमारी भी मिलता है। सूत्रकृतांग के टीकाकार ने इसका अर्थ चित्त का उद्वेग भी किया है। (सूटी २ पृ. १९१ ; अरति:— चित्तोद्वेगलक्षणा)

८. एक प्रकार की लकड़ी, जिसका संघर्षण करने से अग्नि उत्पन्न होती है।

९. व्यभा ९३५, गहन दार्शनिक चर्चा करने के बाद ऋषि ने नारी की निंदा में इतने पद्य क्यों लिखें, यह आश्चर्य का विषय है। इस प्रसंग के दो फलित निकल सकते हैं—

\* ऋषि कभी किसी नारी से प्रताड़ित हुए होंगे।

\* ब्रह्मप्राप्ति में नारी (माया) बाधक है अतः साधकों को प्रेरणा देने के लिए उन्होंने ये पद्य लिखे होंगे। विस्तार हेतु देखें २२. ऋषि दकभाल पृ. १७८, १७९।

१०. सुत्तिव्वा (पु, वृ)।

११. भावका (पु, वृ)।

१२. मालगी (आ, पा, ब, स)।



से युक्त तथा तीव्र वेग वाली है। नारी सर्प से आक्रान्त मालती पुष्प के समान है।

६. हेमा गुहा ससीहा वा, माला वा वज्झकप्पिता।  
सविसा गंधजुत्ती वा, अंतोदुट्टा व वाहिणी ॥ ३ ॥
७. गरंता मदिरा वावि, जोगकण्णा व सालिणी।  
णारी लोगम्मि विण्णेया, जा होज्जा सगुणोदया ॥ ४ ॥

लोक में नारी को सिंह युक्त स्वर्णमयी गुफा, वध्य के लिए बनाई गई कनेर की माला<sup>१</sup>, विषमिश्रित गंधगुटिका, भीतर ही भीतर विद्रोह करने वाली सेना<sup>२</sup>, विषभावित मदिरा एवं वशीकरण करने वाली योगकन्या के समान जानना चाहिए, वह अपने स्त्रियोचित गुणों से उदित होती है।

८. उच्छायणं कुलाणं तु, दव्वहीणाणं<sup>३</sup> लाघवो।  
पतिट्ठा सब्बदुक्खाणं, णिट्ठाणं अज्जियाणं<sup>४</sup> य<sup>५</sup> ॥ ५ ॥

नारी कुलों का नाश करने वाली, निर्धन पुरुषों का तिरस्कार करने वाली, सब दुःखों का आधार तथा आर्यत्व<sup>६</sup> का नाश करने वाली है।

९. गेहं<sup>७</sup> वेराण गंभीरं, विग्घो सद्धम्मचारिणं<sup>८</sup>।  
दुट्ठासो अखलीणं<sup>९</sup> व, लोके सूता<sup>१०</sup> किमंगणा<sup>११</sup> ॥ ६ ॥

नारी वैर का गुप्त घर, सद्धर्म का आचरण करने वाले के लिए विघ्न-बाधा स्वरूप, लगाम रहित दुष्ट घोड़े के समान है अतः लोक में उत्पन्न ऐसी नारियों से क्या ?

१०. इत्थी उ<sup>१२</sup> बलवं जत्थ, गामेसु णगरेसु वा।  
'अणस्सयस्स हेसं तं, अपव्वेसु'<sup>१३</sup> य मुंडणं<sup>१४</sup> ॥ ७ ॥

जिन ग्राम और नगरों में स्त्रियां बलवान् होती हैं, वहां वे लगाम रहित घोड़े की आवाज और अपर्व में मुण्डन के समान होती हैं।

१. कनेर की माला, जो वध्य को पहनाने के लिए निर्मित होती है, वह दीखने में रम्य लगती है पर लोग उसे पसंद नहीं करते।  
२. इस पद का यह अर्थ भी संभव है—भीतरी भंवरजाल से युक्त नदी। वस्तुतः यहां यह अर्थ इसलिए संगत नहीं बैठता क्योंकि नदी की बात पांचवीं गाथा में आ चुकी है।  
३. दव<sup>३</sup> (आ, ला)।  
४. अविद्याण (अ, पा), अविणाण (ब)।  
५. या (पा), आठवें और नवें श्लोक की उपमाओं में लिंग विपर्यय हो गया है। पतिट्ठा को छोड़कर सारे विशेषण नपुंसक लिंग या पुल्लिंग में हैं।  
६. इस चरण का 'अर्जित धन का नाश करने वाली' अर्थ भी हो सकता है।

७. गिहं (आ, ला)।  
८. वा धम्म<sup>८</sup> (पा)।  
९. गलीणं (अ, ला, स, पा)।  
१०. सुता (पु)।  
११. टीकाकार के अनुसार इस पद्य का अर्थ इस प्रकार है—लोक में ऐसी कुत्सित स्त्रियां प्रसिद्ध हैं—एवं श्रुता लोके किमङ्गना कुस्त्री (ऋवृ पृ. १४२)  
१२. व (स)।  
१३. अणस्सा जत्थ हेसंति अपव्वम्मि (व्यभा ९३७)।  
१४. मंडणं (स)

१०/१. धित्तेसिं गामणगराणं, जेसिं महिला पणायिका।

ते यावि धिक्कया पुरिसा, जे इत्थीणं वसं गता<sup>१</sup> ॥ ८ ॥

उन ग्राम और नगरों को धिक्कार है, जिसका नेतृत्व करने वाली नारी होती है और वे लोग भी धिक्कार के पात्र हैं, जो स्त्रियों के वशीभूत हैं।

११. डाहो<sup>२</sup> भयं हुतासातो, विसातो मरणं भयं।

छेदो भयं च सत्थातो, वालातो दसणं भयं<sup>३</sup> ॥ ११ ॥

अग्नि से जलने का, विष से मरण का, शस्त्र से छेदन-भेदन का तथा सांप से डस जाने का भय रहता है।

१२. संकणीयं च जं वत्थू, अप्पडीकारमेव य।

‘तं वत्थू’<sup>४</sup> सुट्टु जाणेज्जा, जुज्जंते जेऽणुजोइता ॥ १० ॥

जो वस्तु शंकास्पद और अप्रतिकार्य है, उस वस्तु के उपभोक्ता को उसे सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए।

१३. जत्थत्थी जे समारंभा, जे वा जे साणुबंधिणो।

ते वत्थू सुट्टु जाणेज्जा, णेया<sup>५</sup> सव्वविणिच्छए ॥ ११ ॥

जहां जो समारम्भ—अविरति आदि आस्रव हैं तथा (दुःखद) परम्परा से युक्त हैं, उन्हें सम्यक् प्रकार से जानना चाहिए। सब तत्त्वों का निश्चय करने में यह परिज्ञान जानने योग्य है।

१४. जेसिं जहिं सुहुप्पत्ती, जे वा जे साणुगामिणो।

विणासी अविणासी वा<sup>६</sup>, जाणेज्जा कालवेयवी ॥ १२ ॥

जिन लोगों को जहां सुख की उत्पत्ति होती है तथा जो जिनका अनुगमन करते हैं, कालज्ञ और शास्त्रज्ञ व्यक्ति को उसके विनाशी और अविनाशी रूप को पहचानना चाहिए।

१. पुनरुक्त होने के कारण कुछ प्रतियों में इस गाथा का केवल प्रथम चरण का संकेत मात्र मिलता है। चूंकि यहां सभी प्रतियों में इसका संकेत मिलता है इसलिए यहां गाथा रखी है पर उसे मूल क्रमांक के साथ नहीं जोड़ा है। जातक अट्टकहा में इस गाथा की निम्न संवादी गाथा मिलती है—  
धिरत्थु तं जनपदं, यत्थित्थी परिनायिका।  
ते चापि धिक्कता सत्ता, ये इत्थीनं वसं गता ॥  
(जातक १३ पृ. १९६)

२. दाहो (स)।

३. इस गाथा में ऋषि ने केवल उपमाएं दी हैं, स्त्री के साथ उसे घटित नहीं किया लेकिन अगली गाथा को पढ़ने से स्पष्ट होता है कि ऋषि स्त्री को अग्नि, विष, शस्त्र और सर्प की भांति शंकास्थान और भयस्थान के रूप में वर्णित कर रहे हैं।

४. × (पा)।

५. णेयो (ला), णेव (पु)।

६. य (आ, ब)।

१५. सीसच्छेदे धुवो मच्चू, मूलच्छेदे हतो दुमो।  
मूलं फलं च सव्वं च, जाणेज्जा सव्ववत्थुसु॥ १३॥

शीर्ष का उच्छेद होने पर निश्चित ही मृत्यु है, मूल का नाश होने पर वृक्ष समाप्त हो जाता है इसलिए सब वस्तुओं के मूल कारण और उसके फल का ज्ञान करना चाहिए।

१६. सीसं जहा सरिरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।  
सव्वस्स साधुधम्मस्स, तहा ज्ञाणं विधीयते॥ १४॥

जैसे शरीर में मस्तक का और वृक्ष में जड़ का मुख्य स्थान है, वैसे ही सब अच्छे धर्मों में ध्यान का स्थान है।

१७. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् दगभाल अथवा गर्दभाल ऋषि) कहता हूँ।

तेवीसइमं रामपुत्तज्झयणं

तेवीसवां अध्ययन : रामपुत्र



## २३. ऋषि रामपुत्र

तेवीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि का नाम है—रामपुत्र। ठाणं सूत्र में दश अध्ययन वाले दश आगमों के नाम हैं, उसमें आठवें द्विगृद्धिदशा नामक आगम ग्रंथ के दसवें अध्ययन का नाम रामगुप्त था।<sup>१</sup> वर्तमान में यह ग्रंथ ही लुप्त है।

ठाणं सूत्र में अंतकृद्दशा के दश अध्ययनों के नाम में चौथे अध्ययन का नाम रामगुप्त है।<sup>२</sup> तत्त्वार्थराज वार्तिक में महावीर के तीर्थ में होने वाले दस अंतकृद्द में एक नाम रामपुत्र का है लेकिन वर्तमान में उपलब्ध अंतकृद्दशा के अध्ययनों के नामों में परिवर्तन है। संभव है ये वाचना-भेद या काल के अंतराल में परिवर्तित हो गए। एक संभावना यह भी है कि मध्यकाल में साम्प्रदायिक विद्वेष के समय वैदिक ऋषि होने के कारण इनके जीवन और उपदेश को वहां से हटाकर किसी दूसरे का वर्णन कर दिया गया हो।

अनुत्तरौपपातिक सूत्र में पांचवें अध्ययन का नाम रामपुत्र—रामपुत्र है।<sup>३</sup> उसके अनुसार ये साकेत नगर से सम्बन्धित थे। इनकी मां का नाम भद्रा था। बत्तीस कन्याओं के साथ इनका विवाह हुआ तथा महान् ऋद्धि के साथ महावीर के शासन में इनकी दीक्षा हुई। ये मासिक संलेखना करके सर्वार्थसिद्ध देवलोक में उत्पन्न हुए फिर महाविदेह में उत्पन्न होकर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे लेकिन इनकी ऋषिभाषित के ऋषि के साथ तुलना करना संभव नहीं है। ये तीर्थंकर अरिष्टनेमि के समय के ऋषि होने चाहिए। औपपातिक सूत्र में आठ परिव्राजक क्षत्रियों में एक नाम 'राम' है, वह रामपुत्र का वाचक होना चाहिए। इन्होंने स्वतंत्र परम्परा का प्रवर्तन किया। बौद्ध त्रिपिटकों के अनुसार इनकी विपुल शिष्य-सम्पदा थी अतः संभव है इनके नाम से एक स्वतंत्र परिव्राजक परम्परा चली हो।

सूयगडो में बाहुक, तारायण<sup>४</sup>, असित देविल, द्वैपायन आदि ऋषिभाषित के ऋषियों के साथ इनके नाम का भी उल्लेख मिलता है। उसके अनुसार प्राचीनकाल में ये तप्त तपोधन और महातपस्वी थे और भोजन करते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए।<sup>५</sup> सूत्रकृतांग में 'ऐसा मैंने सुना है'—यह उल्लेख विशेष महत्त्वपूर्ण है।<sup>६</sup> चूर्णिकार के अनुसार ये महाभारत, पुराण आदि ग्रंथों में तथा इह—निर्ग्रन्थ शासन में ऋषिभाषित ग्रंथ में सम्मत हैं। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि रामपुत्र भगवान् अरिष्टनेमि कालीन ऋषि हुए तथा निर्ग्रन्थ परम्परा में सम्मानपूर्वक स्थान प्राप्त था।<sup>७</sup> चूर्णिकार के अनुसार इन महापुरुषों ने राजा होकर वानप्रस्थ को स्वीकार किया।<sup>८</sup>

१. ठाणं १०/११८।

२. ठाणं १०/११३ ; अंतगडदसाणं दस अज्झयणा पण्णत्ता, तं जहा—

णमि मातंगे सोमिले रामगुत्ते सुदंसणे चव।

जमाली य भगाली य, किंसे चिल्लाए ति य॥

३. अनु ३/२/१।

४. टीकाकार ने 'नारायण' ऋषि का उल्लेख किया है।

५. सू १/३/६१-६४।

६. सू १/३/६४ ; इह मेयमणुस्सुयं।

७. सूचू १ पृ. ९६।

८. सूचू १ पृ. ९५ ; महापुरिसा पहाणा पुरिसा राजानो भूत्वा वनवासं गता, पच्छा णिव्वाणं गताः।

सूत्रकृतांग के टीकाकार ने 'रामउत्ते' का संस्कृत रूप रामगुप्त किया है लेकिन डॉ. सागरमलजी जैन और एम. ए. ढाकी के अनुसार यहां 'रामपुत्त' पाठ होना चाहिए। वैसे उक्त शब्द के दोनों संस्कृत रूपान्तर हो सकते हैं—पुत्र और गुप्त।

डॉ. भागचन्द जैन 'भास्कर' ने अपने निबंध<sup>१</sup> में रामगुप्त को समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र माना है। डॉ. सागरमलजी जैन और मधुसूदन ढाकी का इस विषय में मतैक्य नहीं है क्योंकि इनको समुद्रगुप्त का पुत्र मानने से सूत्रकृतांग को परवर्ती काल की रचना मानना होगा।<sup>२</sup> दूसरी बात राजा रामगुप्त का इतिहास में कहीं भी संन्यस्त होने का उल्लेख नहीं मिलता है अतः ऋषिभाषित के ऋषि के साथ इनकी तुलना नहीं की जा सकती।

बौद्ध परम्परा में उद्दक रामपुत्त का नाम मिलता है।<sup>३</sup> ये आयु में बुद्ध से बड़े थे। प्रारम्भ में बुद्ध ने इनसे ध्यान की शिक्षा ग्रहण की थी। बाद में बुद्ध जब उपदेश देने की स्थिति में हुए, तब तक ये दिवंगत हो गए थे।<sup>४</sup>

यह एक आश्चर्य एवं शोध का विषय है कि वैदिक ऋषि होते हुए भी वैदिक साहित्य में कहीं भी इनके नाम का उल्लेख नहीं मिलता।

सम्पूर्ण अध्याय गद्य में उपदिष्ट है। अध्ययन के प्रारम्भ में ऋषि ने दो प्रकार के मरणों का उल्लेख किया है—सुखद मरण और दुःखद मरण। अध्ययन में उपदिष्ट मरण के भेदों से ही स्पष्ट आभासित हो जाता है कि ऋषि ब्राह्मण परिव्राजक परम्परा से सम्बन्धित थे। यदि वे निर्ग्रन्थ परम्परा से सम्बन्धित होते तो वे मरण के इन दो भेदों का उल्लेख करते—बालमरण और पंडितमरण।

अध्ययन में प्रदत्त उपदेश छद्मस्थ अवस्था में दिया गया प्रतीत होता है। ऋषि सरलता से स्वयं को अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं कि मैं ममकार युक्त, अशुभ लेश्या वाला तथा कर्मग्रंथि के बंधन से पीड़ित हूँ। ऋषि भविष्य के लिए दृढ़ संकल्प प्रस्तुत करते हैं कि मैं कर्म ग्रंथियों के बंधन को काटने में समर्थ हूँ। अब मैं कर्म-बंधन को काटकर ज्ञान, दर्शन और चरित्र की आराधना करूंगा। ज्ञान से जानकर, दर्शन से देखकर, संयम से संयमित होकर तथा तप से अष्टविध कर्मरजों को प्रकम्पित करके शाश्वत सिद्धिगति को प्राप्त करके शाश्वत काल तक वहां स्थित रहूंगा। उत्तराध्ययन में कुछ अंतर के साथ इसका संवादी श्लोक मिलता है। वहां ज्ञान से जानकर, दर्शन से श्रद्धा करके, चरित्र से निग्रह करके तथा तप से विशोधि की बात कही गई है।<sup>५</sup>

१. Aspect of Jainology Vol II, P. 8-10 Some Ethical Aspects of Mahayana Buddhism as Depicted in the Suttrakritanga, Page 2 (यह लेख) All India seminar on Early Buddhism and Mahayana Dept. of Pali and Buddhist studies. B.H.U. Nov. 10-13, 1984 में पढ़ा गया था।

२. इस संदर्भ में विस्तार हेतु देखें Aspects of Jainology Vol. II में प्रकाशित डॉ. सागरमलजी जैन एवं मधुसूदन

ढाकी का लेख, हिन्दी विभाग पृ. ८-११।

३. महावग्ग १/६/१०; अयं खो उद्दको रामपुत्तो पण्डितो ब्यत्तो मेधावी दीघरत्तं अप्परजक्खजातिको यन्नूनाहं उद्दकस्स रामपुत्तस्स पठमं धम्मं देसेय्यं, सो इमं धम्मं खिप्पमेव आजानिस्सतीति ।....

४. ऋषि पृ. ६२।

५. उ २८/३५ ;

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सहहे।

चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई॥

## २३. रामपुत्रज्ज्ञयणं : रामपुत्र अध्ययन

१. दुवे मरणा<sup>१</sup> अस्मिं लोए एवमाहिज्जंति, तंजहा ; सुहमतं<sup>२</sup> चेव दुहमतं चेव, रामपुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं।

इस लोक में दो प्रकार के मरण कहे गए हैं—सुखमय मृत्यु और दुःखमय मृत्यु, अर्हत् रामपुत्र ऋषि ने ऐसा कहा।

२. एत्थं विण्णत्तिं बेमि। इमस्स खलु ममाइयस्स असमाहियलेसस्स गंडपलिघाइयस्स<sup>३</sup> गंडबंधणपडिघातं करिस्सामि। अलं पुरे मएणं<sup>४</sup> तम्हा गंडबंधणपडिघातं करेत्ता णाण-दंसण-चरित्ताइं पडिसेविस्सामि। णाणेणं<sup>५</sup> जाणिय दंसणेणं पासित्ता संजमेणं<sup>६</sup> संजमिय तवेण अट्टविहकम्मरयमलं विधुणित विसोहिय अणादीयं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरंतसंसारकंतारं वीतिवइत्ता सिवमचलमरुयमक्खय-मव्वाबाहमपुणरावत्तयं सिद्धिगतिणामधिज्जं ठाणं संपत्ते अणागतद्धं सासतं कालं चिट्ठिस्सामि त्ति।

यहां मैं विज्ञप्ति कहता हूं कि मैं ममकार से युक्त हूं, अशुभ लेश्या वाला हूं, कर्म ग्रंथि<sup>७</sup> से पीड़ित हूं, कर्म ग्रंथि के बंधन से पीड़ित हूं अतः मैं अपनी इस कर्मग्रंथि के बंधन का प्रतिघात करूंगा। मैंने पहले जो बंधन किया है, उसको मैं काटने में समर्थ हूं इसलिए मैं कर्मग्रंथि के बंधन का प्रतिघात करके ज्ञान, दर्शन, चारित्र की अनुपालना—आराधना करूंगा। ज्ञान से जानकर, दर्शन से देखकर, संयम से स्वयं को संयमित करके और तप से अष्टविध कर्मरज मल को प्रकम्पित करके, विशोधित करके अनादि-अनंत दीर्घपथ वाली, चार गति रूप, चार अंतों वाली संसार-अटवी को पार करके शिव, अचल, अरुज, अक्षय, अव्याबाध और अपुनरावृत्त सिद्धिगति नामक स्थान को प्राप्त करके भविष्य में शाश्वत काल तक वहां स्थित रहूंगा।

३. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् रामपुत्र ऋषि) कहता हूं।

१. ऋषि का सुखद और दुःखद मृत्यु से क्या तात्पर्य है, यह नहीं कहा जा सकता लेकिन आगे के सूत्र में किए गए संकल्प के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि वे पंडित-मरण की बात कह रहे हैं। जैन आगमों में मरण के अनेक भेद-प्रभेद मिलते हैं, उनमें दो वर्गीकरण मुख्य हैं—अकाममरण और सकाममरण। (उ ५/२) प्रकारान्तर से मरण के तीन प्रकार भी मिलते हैं—बालमरण, पंडितमरण और बालपंडित मरण। विस्तार हेतु देखें उत्तराध्ययन का पांचवां अध्ययन और उसका आमुख।

२. शूत्रिण के अनुसार मत की संस्कृत छाया मत और मृत दोनों हो सकती है लेकिन यह शाब्दिक क्रीड़ा मात्र है। हमारे अभिमत

से मरण का विशेषण होने से मत या मृत नहीं अपितु संस्कृत छाया मय होनी चाहिए—सुखमय और दुःखमय।

३. प्रायः सभी प्रतियों में 'गंडपलिघाइयस्स' के बाद 'गंडबंधण-पलियस्स' पाठ मिलता है लेकिन पा प्रति में यह पाठ नहीं है, यह पाठ पुनरुक्त प्रतीत होता है अतः यहां नहीं होना चाहिए।

४. मएण (अ, ला)।

५. णाणेण (पा)।

६. \*मेण (पा)।

७. 'गंड' शब्द का सामान्य अर्थ फोड़ा या व्रण होता है लेकिन यहां 'गंड' शब्द का अर्थ ग्रंथि होना चाहिए।





चउवीसइमं हरिगिरिज्झयणं

चौबीसवां अध्ययन : हरिगिरि



## २४. ऋषि हरिगिरि

चौबीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—हरिगिरि। प्रतियों में चौबीसवें ऋषि के हरिगिरि और हरिगिरि—ये दोनों नाम मिलते हैं। यहां श्रीगिरि की भांति ऋषि का नाम ह्रीगिरि भी हो सकता है लेकिन अधिक प्रतियों में हरिगिरि पाठ मिलता है अतः हमने हरिगिरि पाठ को स्वीकृत किया है। हरिगिरि के बारे में आगम, उनके व्याख्या-साहित्य एवं अन्य परम्पराओं में भी कोई उल्लेख नहीं मिलता अतः इनके जीवन-प्रसंगों के बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ भी कह पाना संभव नहीं है।

वैदिक परम्परा में हरिगिरि नामक किसी ऋषि का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य, उद्दालक आरुणि आदि ऋषियों के साथ हारित ऋषि का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> स्थानांग सूत्र में कौत्स गोत्र के सात प्रकारों में छठा हारित गोत्र है<sup>२</sup> लेकिन इनके साथ हरिगिरि ऋषि का सम्बन्ध जोड़ना शोध का विषय है।

बौद्धों की थेर गाथा में दो हारित स्थविरों का उल्लेख मिलता है। प्रथम हारित स्थविर ब्राह्मण कुल में उत्पन्न थे। सांप के डसने से इनकी पत्नी का देहान्त हो गया अतः इनको वैराग्य उत्पन्न हो गया। ये बुद्ध के पास दीक्षित हुए लेकिन इनका मन विक्षिप्त रहता था। एक दिन भिक्षार्थ जाते हुए उन्होंने गांव में एक आदमी को तीर बनाते हुए देखा। हारित के मन में विकल्प उठा कि जब व्यक्ति अचेतन वस्तु को ठीक कर सकता है तो मैं अपने मोह विक्षिप्त मन को क्यों न ठीक करूं? बाद में आत्मचिंतन करते हुए उन्होंने मन पर विजय प्राप्त की और अविद्या का भेदन किया।<sup>३</sup> दूसरे हारित स्थविर भी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न थे। भगवान् के उपदेश को सुनकर इनके जीवन में परिवर्तन आया।<sup>४</sup>

प्रथम हारित स्थविर के पूरे घटना प्रसंग के आलोक में उनके उपदेश को देखा जाए तो ऐसा लगता है कि हरिगिरि का ही दूसरा नाम हारित रहा होगा। पहले उनका मन संसार में आसक्त था, बाद में विरक्त हो गया। जब उन्होंने सत्य को पहचान लिया तो अध्ययन के प्रारम्भ में ऋषि अपने अनुभव को प्रकट करते हुए कहते हैं कि पहले संसार के भौतिक आकर्षण अच्छे लगते थे लेकिन अब वे आकर्षण अच्छे नहीं लगते। वे आत्मचिंतन प्रस्तुत करते हैं कि जीव कर्म के वशीभूत होकर चारों गतियों में परिभ्रमण करते हैं, इस बात को जानते हुए भी मेरी आत्मा इस लोक में सुखोत्पादक और परलोक में दुःख उत्पन्न करने वाले अस्थिर और अनित्य पदार्थों में आसक्त होती है। संसरण के कारण को जानकर अब मैं ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य का आचरण करूंगा तथा शाश्वत स्थान को प्राप्त करूंगा।

१. बृहदा ६/५/३।

मंडलिणो ते हारिता ते सोमया।

२. ठाणं ७/३४ ; जे कोच्छा ते सत्तविधा पण्णत्ता, तं जहा—ते कोच्छा ते मोग्गलायणा ते पिंगलायणा मे कोडिण्णा, ते

३. थेर १/२९ पृ. १२।

४. थेर ३/१८४ पृ. ९०।

ऋषि का अनुभव है कि सर्वसहा पृथ्वी, गुरु और औषधि जैसे हितकर होती है, वैसे ही सद्धर्म प्राणियों के लिए नित्य हितकर है। शीघ्रगामी घोड़ों से युक्त रथचक्र के पहिए की भांति जीवन में सुख-दुःख गतिशील रहते हैं। आसक्ति व्यक्ति को संसार में परिभ्रमण करवाती रहती है अतः व्यक्ति को अनित्यता का चिन्तन करके पदार्थ और व्यक्ति में होने वाली आसक्ति का त्याग करना चाहिए।

ऋषि कहते हैं कि यौवन, सुंदर रूप की प्राप्ति, सौभाग्य, धन-सम्पदा और प्राणियों का जीवन पानी के बुदबुदे की भांति अस्थिर है। इस संसार में अनित्यता निर्भय होकर विचरण करती है। संसार की कोई भी शक्ति अनित्यता को नहीं रोक सकती। महान् ऋद्धिसम्पन्न देवेन्द्र, प्रख्यात दानवेन्द्र और वीर राजा भी विवश होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। व्यक्ति सात पीढ़ी का चिन्तन करता है और सोचता है कि मैं ऐसा करूंगा तो ऐसा हो जाएगा लेकिन काल के समक्ष सारे संकल्प हतप्रभ हो जाते हैं।

विषय को मोड़ देते हुए कर्मवाद के सिद्धान्त को प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं कि व्यक्ति इस संसार में कर्म के आधार पर ही कांति, जाति, वय या अवस्था को प्राप्त करता है। कर्म के आधार पर ही वह सुख और दुःख को प्राप्त करता है। संसार में दुःख का एकमात्र कारण मोह है। जैसे मछली कांटे को निगलती हुई अपने विनाश को नहीं देखती, वैसे ही मोहमूढ़ व्यक्ति दूसरों को कष्ट देता हुआ आनंद का अनुभव करता है। जैसे छिन्न लता और जड़ रहित वृक्ष समाप्त हो जाता है, वैसे ही मोह का नाश होने पर कर्मों का विनाश हो जाता है। रंगमञ्च पर नट की भांति जीव कर्म के अनुसार ही विविध रूपों को धारण करता है। पाप करते समय वह स्ववश होता है लेकिन उसके फल को भोगता हुआ स्ववश नहीं होता। जैसे रज्जु-बंधन से बंधा हुआ व्यक्ति दूसरे के द्वारा प्रेरित किए जाने पर चलता है, वैसे ही प्राणी अपने विचित्र कर्मों से बद्ध और मुक्त होता है।

अंत में ऋषि कहते हैं कि कर्म-परम्परा की विचित्रता को जानकर व्यक्ति उससे मुक्त होने के लिए समाधि का संधान करे तथा सर्वज्ञ-प्रणीत मार्ग का अनुगमन करे, जिससे उत्तम स्थान को प्राप्त किया जा सके।

इस अध्ययन में ऋषि ने आगमिक शैली की भांति पाठ के बीच अनेक एकार्थक शब्दों का प्रयोग किया है जैसे सज्जति रज्जति....., सउण-पडण-विकिरण....आदि।

## २४. हरिगिरिज्जयणं : हरिगिरि अध्ययन

१. सव्वमिणं पुरा भव्वं, इदाणिं पुण अभव्वं, हरिगिरिणा अरहता इसिणा बुद्धं ।

पहले सब कुछ भव्य था, अब अभव्य है<sup>१</sup>, ऐसा अर्हत् हरिगिरि<sup>२</sup> ऋषि ने कहा ।

२. वयंति<sup>३</sup> खलु भो य नेरइया नेरइयत्ता तिरिक्खा<sup>४</sup> तिरिक्खत्ता मणुस्सा मणुस्सत्ता देवा देवत्ता, अणुपरियट्ठंति जीवा चाउरंतं संसारकंतारं कम्माणुगामिणो, तथा वि मे जीवे इधलोके सुहुप्पादके, परलोके दुहुप्पादके अणिए अधुवे अणितिए अणिच्चे असासते सज्जति रज्जति गिज्जति मुज्जति अज्जोववज्जति विणिघातमावज्जति । इमं च णं पुणो सडण-पडण-विकिरण-विद्धंसणधम्मं अणोगजोगक्खेमसमायुतं जीवस्स-ऽतारेलुकिं<sup>५</sup> संसारणिव्वेढिं करेति, संसारणिव्वेढिं करेत्ता 'अणाइयं अणवदगं दीहमद्धं चाउरंत-संसारसागरं अणुपरियट्ठइ । तम्हाऽधुवं असासतमिणं संसारे सव्वजीवाणं संसतीकारणमिति<sup>६</sup> णच्चा णाण-दंसण-चरित्ताणि सेविस्सामि, णाणदंसणचरित्ताणि सेवित्ता अणादीयं जाव कंतारं वीतित्तित्ता सिवमचलं जाव ठाणं अब्भुवगते चिट्ठिस्सामि ।'<sup>७</sup>

नैरयिक नारकत्व को, तिर्यञ्च तिर्यञ्चरूप को, मनुष्य मनुष्य रूप को तथा देव देवरूप को प्राप्त करते हैं । इस प्रकार जीव कर्म के अनुगामी होकर चार गति रूप चार अंतों वाली अटवी में परिभ्रमण करते रहते हैं फिर भी मेरी यह आत्मा इस लोक में सुखोत्पादक और परलोक में दुःखोत्पादक अस्थिर, अधुव्र, अनियत, अनित्य, अशाश्वत<sup>८</sup> पदार्थों में आसक्त होती है, अनुरक्त होती है, गृद्ध होती है, मूर्च्छित होती है, अध्युपपन्न<sup>९</sup> होती है और विनिघात को प्राप्त करती है । यह आत्मा शटन, पतन, विकिरण और विध्वंस को प्राप्त होती है । अनेक योगक्षेम से युक्त यह जीव दुस्तरणीय सांसारिक बंधनों से स्वयं को आवेष्टित करता है । सांसारिक बंधनों से आवेष्टित होकर अनादि अनंत दीर्घपथ वाले चातुरंत संसार-कान्तार में परिभ्रमण करता है इसलिए अधुव्र और अशाश्वत इस संसार में सब प्राणियों के संसरण के कारण को जानकर मैं ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आचरण करूंगा । ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आसेवन कर अनादि यावत् संसार-कान्तार का अतिक्रमण कर शिव, अचल यावत् शाश्वत स्थान प्राप्त करके स्थित रहूंगा ।

१. टीकाकार ने भव्य का भवितव्यापेक्ष तथा अभव्य का भवितव्यता से रहित अर्थ किया है । टीकाकार का तात्पर्य यह होना चाहिए कि पहले जो कुछ हुआ, वह भवितव्यता के अनुरूप हो गया लेकिन अब भविष्य हमारे हाथ में है । भविष्य का निर्माण वर्तमान के पुरुषार्थ पर आधृत है ।  
दूसरे सूत्र की विषयवस्तु को देखते हुए इस सूत्र का अर्थ यह होना चाहिए कि संसार में पहले सब अच्छा लगता था । संसार के भौतिक आकर्षण आकृष्ट करते थे लेकिन अब संसार के सारे भौतिक आकर्षण अच्छे नहीं लगते हैं ।
२. ऋषि का नाम हरिगिरि भी मिलता है ।
३. चर्यंति ( ला, ब ) ।
४. तिरिया ( आ, ला ) ।
५. °लुके ( आ, ला, पा ), अभारे° ( स ) ।
६. °तीकरण° ( अ, पा, ब ) ।
७. प्रायः प्रतियों में केवल 'सिवमचलं चिट्ठिस्सामि' इतना ही पाठ मिलता है ।
८. अणिए से असासते तक के पांचों शब्द अस्थिरता के पर्यायवाची हैं लेकिन फिर भी इनकी अर्थ-परम्परा मिलती है । देखें एकार्थक कोश पृ. ३३७ ।
९. सज्जति से अज्जोववज्जति तक के शब्द आसक्ति की विविध अवस्थाओं के द्योतक हैं । विपाकश्रुत के टीकाकार ने इनको एकार्थक माना है । ( विपाटी प. ४१; मुच्छि ए त्ति एकार्थकाः )

३. कंतारे वारिमज्जे वा, दित्ते वा अग्गिसंभमे।  
तमंसि 'वा जधा णेता'<sup>१</sup>, तथा धम्मो जिणाहितो ॥ १ ॥

अटवी में, पानी के मध्य में, प्रदीप्त अग्नि से उत्पन्न भय में तथा अंधकार में जैसे नेता की आवश्यकता होती है, वैसे ही जिन-प्रज्ञप्त धर्म अनिवार्य कहा गया है।

४. धारिणी सुसहा चेव, गुरू भेसज्जमेव वा।  
सद्धम्मो सव्वजीवाणं, णिच्चं लोके हितं करो ॥ २ ॥

जैसे सर्वसहा पृथ्वी, गुरू और औषधियां लोक में हितकर होती हैं, वैसे ही सद्धर्म सब प्राणियों के लिए नित्य हितकर है।

५. सिग्घवायिसमाउत्ते<sup>२</sup>, रथचक्के जहा अरा।  
'फडंतं वल्लिच्छेदं वा'<sup>३</sup>, सुहदुक्खे<sup>४</sup> सरीरिणो ॥ ३ ॥

शीघ्रगामी घोड़ों से युक्त रथचक्र के पहिए जैसे शीघ्र गति करते हैं, वृक्ष को खोदने पर जैसे लता का छेद हो जाता है, वैसे ही संसारी प्राणियों के जीवन में सुख-दुःख गतिशील हैं<sup>५</sup>।

६. संसारे सव्वजीवाणं, गेही<sup>६</sup> संपरियत्तते।  
उदुंबकतरूणं<sup>७</sup> वा, वसणुस्सवकारणं ॥ ४ ॥

संसार में सब प्राणियों को आसक्ति परिभ्रमण करवाती है, जैसे उदुम्बर<sup>८</sup> वृक्ष का कष्ट (नाश) लोगों के लिए आनंद का कारण बनता है।

७. वण्ह रविं ससंकं वा, सागरं सरियं तथा।  
इंदज्जायं अणीयं च, सज्जं मेहं व चिंतए ॥ ५ ॥

(अनित्यता में) अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, सागर, नदी, इन्द्रध्वज, सज्जित सेना और मेघ के स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए<sup>९</sup>।

१. टीकाकार ने वाडधाणे पाठ स्वीकार करते हुए उल्लेख किया कि वाडधाणे त्ति पदस्यार्थो न ज्ञायते (ऋवृ १४३)
२. सिग्घवट्टिसमाउत्ता (ब)।
३. फडंता वल्लिच्छेया (पु, पा)।
४. सुहदुक्खे त्ति द्विवचनं संस्कृतकल्पम् (ऋवृ पृ. १४३)।
५. इस गाथा में दो उपमाएं हैं। प्रथम उपमा का भावार्थ स्पष्ट है कि रथ के चक्र की भांति जीवन में सुख और दुःख गतिशील रहते हैं। जिस प्रकार वृक्ष का छेदन करने पर लता का छेदन हो जाता है, वैसे ही (कर्मों का नाश) होने पर संसारी प्राणी के सुख-दुःख समाप्त हो जाते हैं। इस संदर्भ में और भी विमर्श किया जा सकता है।
६. गहा (पा)।
७. यहां 'उदुंबर' पाठ होना चाहिए लेकिन प्रतियों में 'उदुंबक' पाठ मिलता है अतः हमने मूल में 'उदुंबक' पाठ रखा है।
८. भवनवासी देवों के दस चैत्य वृक्षों में एक उदुम्बर वृक्ष है। (ठाणं १०/८२/१) उदुम्बर—गूलर के वृक्ष से मद्य बनता है।

- इस गाथा का भाव यह होना चाहिए कि जैसे उदुम्बर के फल का नाश होने पर मद्य बनता है, आसक्ति के कारण वह मद्य लोगों के लिए आनंद का कारण बनता है लेकिन उसका परिणाम दुःखद होता है। टीकाकार ने इसका भिन्न अर्थ किया है। उनके अनुसार उदुम्बर वृक्षों का प्रसव दोहद व्यसनोत्सव का कारण बनता है अर्थात् उदुम्बर के पुष्पित होने पर मदनोत्सव मनाया जाता है।
९. इस गाथा में ऋषि ने अनित्यता शब्द का प्रयोग नहीं किया लेकिन सारे दृष्टान्त अनित्यता का साक्षात् कराने वाले हैं। ऋषि ने अनीक—सेना का उल्लेख क्यों किया, यह विमर्शनीय है। दूसरे नय से इस पद्य की व्याख्या करने पर यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति इन प्राकृतिक वस्तुओं का चिन्तन करके उनसे प्रेरणा ग्रहण करे, जैसे अग्नि का प्रकाश, सूर्य की तेजस्विता, चन्द्रमा की निर्मलता, सागर की गहराई, सरिता की प्रवाहशीलता, इन्द्रध्वज की अनित्यता, सेना की मर्यादा तथा सद्यः मेघ की अनित्यता।

८. जोव्वणं रूवसंपत्तिं, सोभगं<sup>१</sup> धणसंपदं ।  
जीवितं वावि जीवाणं, जलबुब्बुयसण्णिभं<sup>२</sup> ॥ ६ ॥

यौवन, सुंदर रूप की प्राप्ति, सौभाग्य, धन-सम्पदा तथा प्राणियों का जीवनजल के बुद्बुदे की भांति (चंचल) है।

९. देविंदा समहिड्डीया<sup>३</sup>, दाणविंदा य विस्सुता ।  
णरिंदा जे य विक्कंता, संखयं विवसा गता ॥ ७ ॥

महर्द्धिक देवेन्द्र, प्रख्यात दानवेन्द्र और वीर राजा विवश होकर एक दिन मृत्यु को प्राप्त हो गए।

१०. सव्वत्थ णिरणुक्कोसा, णिव्विसेसप्पहारिणी ।  
सुत्त-मत्त-पमत्ताणं, एका जगतिऽणिच्चता<sup>४</sup> ॥ ८ ॥

बिना किसी भेदभाव के प्रहार करने वाली निर्दयी अनित्यता इस संसार में सर्वत्र सुप्त, उन्मत्त और प्रमत्त व्यक्तियों पर प्रहार करती है।

११. देविंदा दाणविंदा य, णरिंदा जे य विस्सुता ।  
पुण्णकम्मोदयब्भूतं, पीतिं पावन्ति पीवरं ॥ ९ ॥

प्रख्यात देवेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्र पुण्य कर्म के उदय से अत्यधिक प्रीति को प्राप्त करते हैं।

१२. आऊं<sup>५</sup> धणं बलं रूवं, सोभगं सरलत्तणं<sup>६</sup> ।  
णिरामयं<sup>७</sup> च कंतिं च, दिस्सते विविहं जगे ॥ १० ॥

इस संसार में आयु, धन, बल, रूप, सौभाग्य, सरलता, आरोग्य और कांति विविध रूपों में दिखाई देती है।

१३. 'सदेवोरगगंधव्वे, सतिरिक्खे समाणुसे'<sup>८</sup> ।  
णिब्भया<sup>९</sup> णिव्विसेसा य, जगे वत्तेयऽणिच्चता<sup>१०</sup> ॥ ११ ॥

देव, उरग, गन्धर्व, तिर्यञ्च और मनुष्यों से युक्त इस लोक में अनित्यता समान रूप से निर्भय होकर विचरण करती है।

१. सोभगं (पा, पु)।

२. °बुबुय° (पा)।

३. सुमहि° (अ, पु)।

४. संधि होने के पश्चात् यहां जगतऽणिच्चता पाठ होना चाहिए।

५. आऊं (पा)।

६. तरल° (अ)।

७. णीसा° (पा)।

८. °गंधव्वं सतिरिक्खं समाणुसं (अ, पा, ब)।

९. णिभया (पा)।

१०. वर्तेत अनित्यता (ऋवृ पृ. १४३)।



१४. दाणमाणोवयारेहिं, सामभेदक्कियाहिं यं।  
ण सक्का सण्णिवारेउं, तेलोक्केणाविण्णिच्चता ॥ १२ ॥

दान, मान, उपचार, साम<sup>१</sup>, (दाम, दंड), भेद<sup>२</sup> आदि क्रिया और त्रैलोक्य की शक्ति के द्वारा भी अनित्यता को रोकना संभव नहीं है।

१५. उच्चं वा जइ वा णीयं, देहिणं वा णमस्सितं।  
जागरंतं पमत्तं वा, सव्वत्थाणाऽभिलुप्पती ॥ १३ ॥

प्राणी उच्च हो या नीच, जागृत हो या प्रमत्त, भले दूसरों के द्वारा नमस्कृत हो पर अनित्यता सर्वत्र प्राणियों का नाश करती है।

१६. एवमेतं करिस्सामि, ततो एवं भविस्सती।  
संकप्पो देहिणं जो य, ण तं कालो पडिच्छती ॥ १४ ॥

‘मैं यह कार्य करूंगा तो ऐसा हो जाएगा’ प्राणियों के इस संकल्प को काल स्वीकार नहीं करता है।

१७. जा<sup>३</sup> ऽजया सहजा जा<sup>४</sup> वा, सव्वत्थेवाणुगामिणी।  
छाय व्व देहिणो गूढा, ‘सव्वमंतेतऽणिच्चता’<sup>५</sup> ॥ १५ ॥

जो अजेय है और छाया की भांति गूढ़ रूप में प्रत्येक प्राणी की सहजात होकर सर्वत्र अनुगमन करती है, वह अनित्यता सबका अंत कर देती है।

१८. कम्मभावेऽणुवत्तंती, दीसंती य तथा तथा।  
देहिणं पकती<sup>६</sup> चेव, लीणा वत्तेतऽणिच्चता ॥ १६ ॥

कर्म का सद्भाव होने पर अनित्यता प्राणियों की प्रकृति में लीन होकर विविध रूपों में दिखाई देकर प्राणियों का अनुगमन करती है।

१९. जं कडं देहिणो<sup>७</sup> जेणं, णाणावण्णं सुहासुहं।  
णाणाऽवत्थंतरोवेतं, सव्वमण्णेति तं तथा ॥ १७ ॥

प्राणी अनेकविध जो शुभ-अशुभ कर्म करता है, उसी के अनुसार नाना अवस्थाओं को प्राप्त करके वह उसका अनुगमन करता है।

१. साम, दाम, दण्ड और भेद—इन चार राजनीति के सूत्रों में ऋषि ने प्रथम और अंतिम का उल्लेख करके चारों का इन्हीं में समाहार कर दिया है।

२. या (पा)।

३. अभयदेवसूरि के अनुसार परस्पर उपकार-प्रदर्शन और गुण कीर्तन द्वारा दूसरों को वश में करना साम है। (स्थाटी ३/४०० टी प. १४१ परस्परोपकारप्रदर्शन-गुणकीर्तनादिना शत्रोरात्म-वशीकरणं साम।)

४. जिसको जीतना हो, उसके स्वामी के स्नेह से दूर करके परस्पर

फूट डालना भेद है। (स्थाटी ३/४०० प. १४१; जिगीषितशत्रु-परिवर्गस्य स्वाम्यादिस्नेहापनयनादिः।)

५. जो (स)।

६. जे (स)।

७. ‘मण्णेत्त णि’ (आ, ला, स, पा), अंत एति अनित्यता।

८. पकतिं (पु)।

९. देहिणं (ब)।

२०. कंती जाई<sup>१</sup> वयोऽवस्था, जुज्जंते जेण कम्मणा।  
णिच्चत्ती<sup>२</sup> तारिसी तीसे, वायाए व<sup>३</sup> पडिंसुका ॥ १८ ॥

वाणी से जैसे सदृश प्रतिध्वनि होती है, वैसे ही जिस कर्म से जैसी कान्ति, जाति, वय या अवस्था का योग होता है, वैसी ही कान्ति आदि का निर्माण होता है।

२१. ताहं<sup>४</sup> कडोदयुब्भूता, गाणागोयविकप्पिता<sup>५</sup>।  
भंगोदयऽणुवत्तंते, संसारे सव्वदेहिणं ॥ १९ ॥

इस संसार में प्राणियों के पूर्व कृत कर्मों के आधार पर अनेक प्रकार के गोत्रों की रचना होती है। अनेक भंगों के उदय के अनुसार प्राणी उनका अनुवर्तन करता है।

२२. कंदमूला जहा वल्ली, वल्लीमूलं जहा फलं।  
मोहमूलं तहा कम्मं, कम्ममूला अणिच्चया ॥ २० ॥

जैसे लता का मूल जड़ है और फल का मूल लता है, वैसे ही कर्मों का मूल मोह है और अनित्यता का मूल कर्म है।

२३. बज्जते<sup>६</sup> बुज्जते चेव, हेतुजुत्तं सुभासुभं।  
कंदसंदाणसंबद्धं, वल्लीणं व फलाफलं ॥ २१ ॥

जैसे मूल की परम्परा से लताओं के फल या अफल सम्बद्ध होते हैं, वैसे ही हेतुयुक्त अशुभ-शुभ कर्मों से प्राणी संसार में बंधता या प्रतिबुद्ध होता है।

२४. छिण्णादाणं सयं कम्मं, भुज्जते तं न वज्जते।  
छिन्नमूलं व वल्लीणं, पुव्वुप्पणं फलाफलं ॥ २२ ॥

जैसे मूल से विच्छिन्न लता में पूर्व में उत्पन्न फल या अफल की ही प्राप्ति संभव है, नए फलों का आना संभव नहीं है, वैसे ही नए कर्मों का ग्रहण बंद होने पर भी पूर्व कृत कर्मों को भोगना पड़ता है, उसका त्याग संभव नहीं है।

२५. छिन्नमूला जहा वल्ली, सुक्कमूलो जहा दुमो।  
नट्टमोहं तहा कम्मं, सिण्णं वा हतणायकं ॥ २३ ॥

जैसे जड़ से कटी हुई लता और सूखी हुई जड़ वाला वृक्ष समाप्त हो जाता है, वैसे ही मोह का नाश होने पर कर्मों का वैसे ही विनाश हो जाता है, जैसे सेनापति का नाश होने पर सेना।

१. जा वा (अ, पु)

२. णिच्चता (अ, स)।

३. य (अ, पा)।

४. नाहं (पा), प्रतियों में 'ताहं' पाठ मिलता है लेकिन यहां 'तहा' पाठ की संभावना की जा सकती है।

५. टीकाकार ने 'गोय' के स्थान पर 'गाय'—गात्र शब्द की व्याख्या की है लेकिन प्रसंग के अनुसार 'गोय' पाठ ही सम्यक् प्रतीत होता है।

६. बुज्जए (पु)।

२६. अपरोही<sup>१</sup> जहा बीयं, धूमहीणो जहाऽणलो ।  
छिन्नमूलं तहा कम्मं, नट्टसण्णो व देसगो ॥ २४ ॥

अंकुरित होने की शक्ति से रहित बीज और धूमहीन अग्नि जैसे नष्ट हो जाती हैं, वैसे ही कर्म के मूल मोह के नष्ट हो जाने पर सब कर्म वैसे ही समाप्त हो जाते हैं, जैसे नष्ट संज्ञा वाला देशक—पथ—प्रदर्शक ।

२७. जुज्जते कम्मुणा जेणं, वेसं धारेति तारिसं ।  
वित्त-कंतिसमत्थो वा, रंगमज्झे<sup>२</sup> जहा नडो ॥ २५ ॥

जैसे रंगमंच पर वित्त और कांति से समर्थ नट तदनुरूप वेश को धारण करता है, वैसे ही व्यक्ति जिस कर्म से युक्त होता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है ।

२८. संसारसंतती<sup>३</sup> चित्ता, देहिणं विविहोदया ।  
सव्वे दुमालया<sup>४</sup> चेव, सव्वपुप्फफलोदया ॥ २६ ॥

जैसे सब वृक्ष फूलों और फलों से विविध प्रकार के होते हैं, वैसे ही विविध प्रकार के कर्मों के उदय से प्राणियों को विचित्र संसार—परम्परा प्राप्त होती है ।

२९. पावं परस्स कुव्वंतो, हसते मोहमोहितो ।  
मच्छो गलं गसंतो वा, विणिघातं न पस्सती ॥ २७ ॥

जैसे मछली कांटे को निगलती हुई अपने विनाश को नहीं देखती, वैसे ही मोह से मूर्च्छित व्यक्ति दूसरों को कष्ट देता हुआ आनंद का अनुभव करता है ।

३०. परोवघाततल्लिच्छो, दप्पमोहबलुद्धुरो ।  
सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं न विंदती ॥ २८ ॥

जैसे वृद्ध सिंह<sup>५</sup> कूप में झांकता हुआ उसमें गिरने के गुण और दोष के बारे में नहीं जानता, वैसे ही दूसरे के उपघात में तल्लीन तथा अहंकार, मोह और बल से उद्धत प्राणी अपने हित—अहित को नहीं देखता ।

३१. पच्चुप्पणरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लितो ।  
दित्तं पावति उक्कंठं, वारिमज्झे व वारणो ॥ २९ ॥

मोह मल्ल से प्रेरित होकर व्यक्ति वार्तमानिक भोगों में आसक्त होकर आकंठ कीचड़ में फंसे हाथी की भांति और अधिक उत्तेजित हो जाता है ।

३२. सवसो पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेदेति दुम्मती ।  
आसत्तकण्ठपासो वा, मुक्काधारो<sup>६</sup> दुहट्टिओ ॥ ३० ॥

दुर्बुद्धि व्यक्ति पहले स्वाधीन अवस्था में पाप करके परिणाम के समय दुःख का अनुभव करता है । वह गले में कसे हुए फंदे वाले आधारहीन<sup>७</sup> व्यक्ति की तरह दुःख का अनुभव करता है ।

१. अप<sup>०</sup> (पा) ।

२. यहां 'रंगमंचे' पाठ होना चाहिए ।

३. संतई (अ) ।

४. दुयालया (पा) ।

५. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ४ ।

६. मुक्क धाहो (ब, स) ।

७. निराधार का अर्थ है—जिसके नीचे कुछ आधार न हो । इससे उसके गले पर दबाव पड़ने से तत्काल मौत हो जाती है ।

३३. चंचलं सुहमादाय, सत्ता मोहम्मि माणवा।  
आदिच्चरस्मितत्तं<sup>१</sup> वा, मच्छा झिज्जंतपाणियं<sup>२</sup> ॥ ३१ ॥

चंचल सुख को प्राप्त करके मानव मोह में आसक्त हो जाते हैं लेकिन बाद में वे वैसे ही दुःख से तड़पते हैं, जैसे सूर्य की किरणों से तप्त सरोवर का जल समाप्त होने पर मछलियां।

३४. अधुवं संसिया रज्जं, अवसा पावंति संखयं।  
छिज्जं व तरुमारूढा, फलत्थी व जहा नरा ॥ ३२ ॥

अधुव राज्य का आश्रय लेकर व्यक्ति अवश होकर वैसे ही नाश को प्राप्त होते हैं, जैसे फल की इच्छा रखने वाले किसी छिन्न वृक्ष पर आरूढ़ मानव।

३५. मोहोदये सयं जंतू, मोहंतं चेव खिंसती<sup>३</sup>।  
छिण्णकण्णो जहा कोई, हसेज्ज छिन्ननासियं ॥ ३३ ॥

स्वयं मोहोदय से मूढ़ होने पर भी प्राणी दूसरे मोहान्ध व्यक्ति से वैसे ही द्वेष करता है, जैसे कटे कान वाला व्यक्ति कटे नाक वाले व्यक्ति को देखकर हंसता है।

३६. मोहोदई सयं जंतू, मंदमोहं तु खिंसती।  
हेमभूसणधारि व्व<sup>४</sup>, जहा लक्खाविभूसणं<sup>५</sup> ॥ ३४ ॥

मोहोदय से मूढ़ प्राणी मंद मोह वाले प्राणी का वैसे ही तिरस्कार करता है, जैसे स्वर्ण आभूषण धारण करने वाला लाख का आभूषण धारण करने वाले व्यक्ति का।

३७. मोही मोहीण मज्झम्मि, कीलते मोहमोहितो।  
गहीणं व्व<sup>६</sup> गही मज्झे, जहत्यं गहमोहितो ॥ ३५ ॥

मोह से मूढ़ व्यक्ति मोह ग्रस्त होकर मोही व्यक्तियों के मध्य वैसे ही क्रीड़ाएं करता है, जैसे ग्रहावेश से मूढ़ व्यक्तियों के मध्य ग्रहावेश से उन्मत्त व्यक्ति।

३८. बंधंता निज्जरंता य, कम्मं नऽण्णं ति देहिणो।  
वारिग्गाहघडीउ व्व, घडिज्जंत निबंधणा ॥ ३६ ॥

पानी की घड़ी भरती है, खाली होती है, वैसे ही प्राणी स्वयं कर्मों का बंधन करते हैं और निर्जरा करते हैं। अन्य कारण इसमें निमित्त नहीं बनता।

३९. बज्झते मुच्चते चेव, जीवो चित्तेण कम्मणा।  
बद्धो वा रज्जुपासेहिं, ईरियंतो<sup>७</sup> पओगसो ॥ ३७ ॥

रज्जु-बंधन से बंधा हुआ व्यक्ति दूसरे के द्वारा प्रेरित किए जाने पर चलता है, वैसे ही प्राणी अपने

१. °तत्ता (आ, ला, पु)।

२. °पाणिया (पु, आ, ला)।

३. वेसई (पा, ब, ला)।

४. व्वा (पु, पा)।

५. लक्खवि° (मु, आ)।

६. च (पा)।

७. इरि° (ब)।

विचित्र कर्मों से बद्ध और मुक्त होता है।

४०. कम्मस्स संतईं<sup>१</sup> चित्तं, सम्मं नच्चा जित्तिंदिए।  
कम्मसंताणमोक्खाय, समाहिमभिसंधए ॥ ३८ ॥

जितेन्द्रिय साधक कर्म-परम्परा की विचित्रता को सम्यक् प्रकार से जानकर कर्म-परम्परा से मुक्त होने के लिए समाधि का अभिसंधान करे।

४१. दव्वओ खेत्तओ चेव, कालओ भावओ तहा।  
निच्चानिच्चं तु विण्णाय, संसारे सव्वदेहिणं ॥ ३९ ॥

साधक संसार में सब प्राणियों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से नित्य तथा अनित्य रूप में जाने।

४२. निच्चलं कतमारोगं, थाणं तेलोक्कसक्कयं।  
सव्वण्णुमग्गऽणुगता<sup>२</sup>, जीवा पावंति उत्तमं ॥ ४० ॥

सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत मार्ग का अनुगमन करने वाले जीव त्रिलोक में सम्मानित, नीरोग, निश्चल और उत्तम स्थान को प्राप्त करते हैं।

४३. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् हरिगिरि ऋषि) कहता हूँ।

१. संतईं (आ, ला, पा)।

२. °मग्गाणु° (ब, पा)।

पणवीसइमं अंबडज्झयणं

पच्चीसवां अध्ययन : अम्बइ



## २५. ऋषि अम्बड़

पच्चीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—अम्बड़। औपपातिक सूत्र में आठ ब्राह्मण परिव्राजकों में तीसरे परिव्राजक अम्बड़ हैं। औपपातिक सूत्र के अनुसार ये चार वेद, इतिहास, निघण्टु, षष्टितंत्र, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष् आदि ग्रंथों के पारगामी विद्वान् थे। ये दानधर्म, शौचधर्म और तीर्थाभिषेक की प्ररूपणा करते थे।<sup>१</sup>

भगवती सूत्र के अनुसार अम्बड़ परिव्राजक प्रकृति भद्र, प्रकृति उपशान्त, उपशान्त कषाय, मार्दव युक्त तथा विनीत थे। वे बेले-बेले की तपस्या में हाथ ऊपर करके आतापना लेते थे। शुभ परिणाम और प्रशस्त अध्यवसाय से उनके तदावरणीय कर्मों का क्षयोपशम होने से वैक्रिय-लब्धि की प्राप्ति हो गई।<sup>२</sup> वैक्रिय लब्धि के कारण वे लोगों को विस्मित करने के लिए काम्पिल्यपुर नगर में एक साथ सौ घरों से भिक्षा ग्रहण करते थे तथा सौ घरों में निवास करते थे।<sup>३</sup> भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थ धर्म के प्रति पूर्ण श्रद्धावान् होते हुए भी उन्होंने जीवन पर्यन्त परिव्राजक वेश को नहीं छोड़ा। चतुर्दशी और अष्टमी आदि पर्वतिथियों में वे पूर्ण पौषध करते थे।<sup>४</sup> अंत में संलेखना के साथ दिवंगत होकर ब्रह्मलोक कल्प में उत्पन्न हुए। उनके सात सौ शिष्यों का उल्लेख भी दोनों ग्रंथों में विस्तार से मिलता है।<sup>५</sup>

स्थानांग सूत्र में अंतकृद्दशा के दस अध्ययनों के नामों में दसवें अध्ययन का नाम 'अम्बड़पुत्त' है<sup>६</sup> लेकिन वर्तमान में इसके नाम में परिवर्तन है। स्थानांग सूत्र में भगवान् के शासन में तीर्थकर गोत्र बांधने वालों में एक नाम श्राविका<sup>७</sup> (सुलसा) द्वारा प्रतिबुद्ध अम्बड़ संन्यासी का है। स्थानांग की टीका के अनुसार औपपातिक में उल्लिखित अम्बड़ संन्यासी इससे भिन्न होने चाहिए।<sup>८</sup> यहां टीकाकार का अभिमत काफी अंशों में सत्य के निकट प्रतीत होता है। फिर भी यहां एक अहं प्रश्न यह उठता है कि यदि औपपातिक और भगवती में उल्लिखित तथा स्थानांग और समवायांग में निर्दिष्ट अम्बड़ परिव्राजक को भिन्न-भिन्न माना जाए तो इनमें से ऋषिभाषित में उल्लिखित अम्बड़ के साथ किसका सम्बन्ध जोड़ा जाए? ये दोनों महावीर के शासन में हुए हैं। ऐसा संभव लगता है कि पच्चीसवें अध्ययन के प्रवक्ता अम्बड़ ऋषि का सम्बन्ध भगवती और औपपातिक में उल्लिखित अम्बड़ परिव्राजक से होना चाहिए। इस मत की पुष्टि में कुछ तर्क दिए जा सकते हैं—

\* औपपातिक में निर्दिष्ट आठ परिव्राजकों में द्वीपायन, नारद आदि भी ऋषिभाषित से सम्बन्धित ऋषि हैं।

१. औप ९६-९८।

२. भ. १४/१११।

३. औप ११९, भ. १४/११०।

४. औप १२०, १२१, भ. १४/११२।

५. भ. १४/१०७-०९, औप ११५-१७।

६. ठाणं १०/११३

७. सुलसा और अम्बड़ की कथा के विस्तार हेतु देखें ठाणं पृ. ८८६।

८. स्थाटी प. ४३४ ; यश्चौपपातिकोपाङ्गे महाविदेहे

सेत्स्यतीत्यभिधीयते सोऽन्य इति सम्भाव्यते।



\* ठाणं में स्पष्ट उल्लेख है कि श्राविका द्वारा प्रतिबुद्ध अम्बड़ संन्यासी लेकिन भगवती और औपपातिक के विस्तृत वर्णन में कहीं भी सुलसा वाली घटना का उल्लेख नहीं है। इतनी प्रसिद्ध घटना का उल्लेख न होना भी यह सिद्ध करता है कि ये अम्बड़ संन्यासी भावी तीर्थंकर वाले अम्बड़ से भिन्न हैं।

बौद्ध और वैदिक परम्परा में अम्बड़ नामक किसी संन्यासी या ऋषि का उल्लेख नहीं मिलता है। वैदिक परम्परा ने इनके इतिहास को सुरक्षित क्यों नहीं रखा, यह विचारणीय प्रश्न है। ऐसा संभव लगता है कि ये परिव्राजक होते हुए भी भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थ प्रवचन से पूर्णतः प्रभावित थे इसलिए पुराणों और स्मृतियों में इनका विशेष उल्लेख नहीं मिलता।

इस अध्ययन में वर्णित यौगंधरायण<sup>१</sup> भी ऐतिहासिक पुरुष हैं। ये राजा उदयन के महामंत्री थे। अम्बड़ ऋषि और योगंधरायण की चर्चा कहां हुई, इस संदर्भ में ग्रंथ में कोई उल्लेख प्राप्त नहीं है। इस अध्ययन को पढ़कर यह भी प्रतीत होता है कि यह प्रसंग संकलित किया गया है। यदि स्वयं ऋषि बोलते तो अध्ययन का प्रारम्भ स्वयं का नाम लेते हुए नहीं करते। इस अध्ययन के सम्बन्ध में यह शोध का विषय है कि अन्य अध्यायों की भांति इसमें 'अर्हत् अंबड़ ऋषि ने ऐसा कहा' यह उल्लेख क्यों नहीं है ?

अम्बड़ परिव्राजक यौगंधरायण को पूछते हैं कि मेरे मन में गर्भावास—मैथुन से विरक्ति है, तुम ब्रह्मचारी क्यों नहीं हो? प्रश्न के उत्तर में यौगंधरायण अम्बड़ संन्यासी को उत्तर देते हुए कहते हैं कि जो व्यक्ति स्त्रियों से पराजित है, पाप कर्मों से मुक्त नहीं है, वे मैथुन में आसक्त होते हैं। वे ही प्राणातिपात, मृषावाद आदि आस्रवों का सेवन करके दुर्गतिगामी बनते हैं। जो आर्य पाप कर्मों से मुक्त हैं, वे मैथुन में आसक्त नहीं होते। वे प्राणातिपात आदि से विरत होकर पापकर्मों का क्षय करके सद्गतिगामी होते हैं। वे साध्वाचार का सम्यक् पालन करते हुए निर्दोष शय्या आदि की गवेषणा करते हैं तथा सुंदर स्त्रियों को देखकर भी विकार को प्राप्त नहीं होते।

पुनः प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि यह कैसे संभव है कि व्यक्ति का स्त्रियों के प्रति राग उत्पन्न न हो? उत्तर दिया जाता है कि यह विरक्ति सराग और वीतराग—दोनों में होती है। इसे तीन दृष्टान्तों द्वारा समझाया गया है—१. हाथी द्वारा महावृक्ष को उखाड़ना। २. तैलपात्र धारक का दृष्टान्त। ३. किम्पाक फल का उदाहरण।

अध्ययन में तीनों दृष्टान्तों की व्याख्या नहीं है। टीकाकार ने भी इन दृष्टान्तों को स्पष्ट नहीं किया है। विषय के अनुरूप प्रथम दृष्टान्त को कैसे घटित किया जाए, यह विमर्श का बिंदु है। अंतिम दो दृष्टान्त प्रसिद्ध होने के कारण गम्य हैं।

तैलपात्र वाले दृष्टान्त में दो कथानकों को प्रस्तुत किया जा सकता है। भरत चक्रवर्ती के समय घटित तैलपात्र धारक का घटना प्रसंग तथा दूसरा 'तैलपात्र' जातक का घटना प्रसंग। दोनों घटनाएं विषय-वस्तु की दृष्टि

१. यौगंधरायण का विस्तृत वर्णन कथासरित्सागर में मिलता है लेकिन वहां कहीं भी अम्बड़ संन्यासी वाला प्रसंग दृष्टिगत नहीं होता।

से काफी संवादी हैं। जातक के अतीत भव की कथा में कुछ अंतर है।<sup>१</sup>

अंत में ऋषि ने आहार क्यों करना चाहिए, इस बात को तीन दृष्टान्तों से स्पष्ट किया है। प्रथम उदाहरण शकट-चक्र से सम्बन्धित है। शाकटिक पहिए में तैल इसलिए डालता है कि गाड़ी भार वहन कर सके, वह भग्न न हो। दूसरे दृष्टान्त में लाक्षाकार अंगारों को उतनी ही आग देता है, जिससे आग न बुझे और लाख को भी ताप पहुंचता रहे तथा तीसरे दृष्टान्त में बाण-निर्माता तुष के द्वारा उतनी ही अग्नि उत्पन्न करता है, जिससे आग न बुझे और बाण-संधान के लिए ताप भी मिल सके। इसी प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ शरीर को उतना ही भोजन दे, जिससे उसका शरीर भग्न न हो, वह कार्य करता रहे।

पूरे अध्ययन में यह आशंका पदे-पदे हो रही है कि कितना वक्तव्य यौगंधरायण का है तथा कितना अम्बड ऋषि का। यद्यपि टीकाकार ने इस संदर्भ में अपने विचार व्यक्त किए हैं लेकिन वे भी समीचीन प्रतीत नहीं होते।

निष्कर्षतः मुनिचर्या के अनेक नियम और साधना के सूत्रों की दृष्टि से यह अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। टीकाकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'यौगंधरायण अध्ययन' अधिक उपयुक्त है।<sup>२</sup> चूंकि इस ग्रंथ में सभी अध्ययन ऋषियों के नाम से सम्बन्धित हैं अतः अम्बड अध्ययन नाम ही उपयुक्त लगता है।

१. विस्तार हेतु देखें परि. २ कथा सं. ५ तथा तैलपात्र जातक ९६ भा. १ पृ. ५३१-४१।

२. ऋषु पृ. १४६ ; अम्बडाध्ययनस्य यौगंधरायणाध्ययनमिति युक्ततरं नाम भवेत्।

## २५. अंबडज्झयणं : अम्बडु अध्ययन

१. तए णं अंबडे परिव्वायगे जोगंधरायणं एवं वयासी “मणे मे विरइं<sup>१</sup> भो देवाणुप्पिओ गम्भवासाहि, कहं न तुमं बंभचारि ?”

तब अम्बडु परिव्राजक ने योगंधरायण को इस प्रकार कहा—“हे देवानुप्रिय! मेरे मन में गर्भावास—मैथुन से विरक्ति है, तुम ब्रह्मचारी क्यों नहीं हो ?”

२. तए णं जोगंधरायणे अम्बडं परिव्वायणं एवं वयासी—‘आरिया एहि या एहि ता<sup>२</sup> आयाणाहि।<sup>३</sup> जे खलु हारिता पावेहिं कम्मेहिं अविप्पमुक्का ते खलु गम्भवासाहि रज्जंति<sup>४</sup>। ते सयमेव पाणे अतिवातेति अण्णे वि पाणे अतिवातावेति अण्णे वि पाणे अतिवातावेते वा सातिज्जंति समणुजाणंति। ते सयमेव मुसं भासंति.....सातिज्जंति समणुजाणंति। ‘अविरता अप्पडिहताऽपच्चक्खातपावकम्मा मणुजा अदत्तं आदियंति.....सातिज्जंति समणुजाणंति, ते सयमेव।<sup>५</sup> अब्बंभपरिग्गहं गिण्हंति मीसियं भाणियव्वं जाव समणुजाणंति। एवामेव ते अस्संजता अविरता अप्पडिहताऽपच्चक्खातपावकम्मा सकिरिया असंवुता<sup>६</sup> एकंतदण्डा एकंतबाला बहुं पावं कम्मं कलिकलुसं समज्जिणित्ता इतो चुता दुग्गतिगामिणो भवंति। एहि हारिता आयाणाहि।

तब योगंधरायण ने अम्बडु परिव्राजक को ऐसा कहा—‘आर्य! आओ, आओ और इस तथ्य को जानो। जो व्यक्ति स्त्रियों से पराजित हैं, पाप कर्मों (भोगों) से मुक्त नहीं हैं, वे गर्भावास—मैथुन में आसक्त होते हैं। वे स्वयं प्राणों का अतिपात करते हैं, दूसरों से प्राणों का अतिपात करवाते हैं और प्राणों का अतिपात करने वाले अन्य लोगों की अनुमोदना करते हैं। वे मनुष्य स्वयं असत्य-भाषण करते हैं, दूसरों से असत्यभाषण करवाते हैं और असत्य भाषण करने वालों का अनुमोदन करते हैं। वे अविरत<sup>७</sup>, अप्रतिहतपापकर्मा तथा अप्रत्याख्यातपापकर्मा<sup>८</sup> मनुष्य स्वयं अदत्त का ग्रहण करते हैं, दूसरों से अदत्त ग्रहण करवाते हैं तथा अदत्त ग्रहण करने वालों का अनुमोदन करते हैं। वे स्वयं अब्रह्म और परिग्रह को स्वीकार करते हैं, (दूसरों से अब्रह्म का सेवन तथा परिग्रह का ग्रहण करवाते हैं तथा अब्रह्म-सेवन और परिग्रह का ग्रहण करने वाले का अनुमोदन करते हैं।) इस प्रकार वे असंयत, अविरत,

१. विरइं (आ, स, हे)।

२. वा (स)।

३. भारियाए हिया एहि ता आया<sup>३</sup> (पा, ला, ब, हे)।

४. सज्जंति (पु, पा)।

५. आ, ब और स प्रति में ‘जाव’ उल्लेख के साथ अविरता से लेकर सयमेव तक का पाठ नहीं है।

६. अस्संवुता (अ, पा)।

७. जो पाप कर्मों से निवृत्त नहीं होता, वह अविरत कहलाता है। चूर्णिकार जिनदास ने अनेक प्रकार के तप में रत को विरत तथा इसके विपरीत को अविरत कहा है। (दशजिचू पृ. १५४)

८. दशजिचू पृ. १५४; तत्थ पडिहयपावकम्मो नाम नाणावरणा-दीणि अट्ट कम्माणि पत्तेयं पत्तेयं जेण हयाणि सो पडिहय-पावकम्मो। पच्चक्खायपावकम्मो नाम निरुद्धासवदुवारो भण्णति—यहां पापकर्मा शब्द का सम्बन्ध अप्रतिहत और अप्रत्याख्यात—दोनों के साथ है। दशवैकालिक की जिनदास चूर्णिकार के अनुसार ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों में प्रत्येक को हत करने वाला प्रतिहतपापकर्मा तथा आस्रव द्वार का निरोध करने वाला प्रत्याख्यातपापकर्मा कहलाता है। सामान्यतः ये दोनों शब्द एकार्थक हैं।

अप्रतिहतपापकर्मा तथा अप्रत्याख्यातपापकर्मा, सक्रिय, असंवृत, एकान्त हिंसक, एकान्त अज्ञानी बहुत कलुषित पाप कर्मों का अर्जन करके इस लोक से च्युत होकर दुर्गतिगामी होते हैं। आओ, जो कर्मोपादान से आकृष्ट हैं, उनको जानो।

३. जे खलु आरिया पावेहिं कम्मेहिं विप्पमुक्का, ते खलु गब्भवासाहि णो सज्जंति। ते णो सयमेव पाणे अतिवातेति एवं तधेव विवरीतं जाव<sup>१</sup> अकिरिया संवुडा एकंतपंडिता ववगतरागदोसा तिगुत्तिगुत्ता तिदंडोवरता णीसल्ला अगारवा ववगयचउक्कसाया चउविकहविवज्जिता पंचमहव्वया<sup>२</sup> तिगुत्ता पंचिदियसुसंवुडा छज्जीवणिकाए सुट्टु णिरता सत्तभयविप्पमुक्का अट्टमयट्टाणजढा णवबंभचेरगुत्ता<sup>३</sup> दससमाहिट्टाणसंपयुत्ता बहुं पावं कम्मं कलिकलुसं खवइत्ता इतो चुता सोग्गतिगामिणो भवंति।

जो आर्य पापकर्मों से मुक्त होते हैं, वे गर्भावास—मैथुन में आसक्त नहीं होते। वे स्वयं प्राणों का अतिपात नहीं करते यावत् वे अक्रिय, संवृत, एकान्त पंडित, राग-द्वेष से उपरत, त्रिगुप्तियों से गुप्त, तीन दण्डों<sup>४</sup> से उपरत, निःशल्य<sup>५</sup>, तीन गौरव<sup>६</sup> से रहित, चार कषाय से रहित, चतुर्विध विकथाओं<sup>७</sup> का वर्जन करने वाले, पांच महाव्रत से युक्त, त्रिगुप्त, पांच इन्द्रियों से संवृत, षड्जीवनिकाय की रक्षा में सम्यक् रत, सात प्रकार के भय<sup>८</sup> से मुक्त, आठ

१. 'जाव' पाठ की पूर्ति इसी अध्ययन के दूसरे सूत्र से है लेकिन उससे विपरीत पाठ होगा।
२. टीकाकार के अनुसार यहां 'पंचमहव्वयधरा' पाठ होना चाहिए—धर त्ति अपरित्याज्यं, पुस्तकेषु तु न दृश्यते (ऋवृ पृ. १४५)।
३. °चेरजुत्ता (पु)।
४. मन, वचन और काया—ये तीन दण्ड हैं। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार मन, वचन और काया की कोई भी प्रवृत्ति जो दुःख जनक या परिताप जनक हो, वह 'दण्ड' शब्द के अन्तर्गत आती है। (दश पृ. १३१)
५. जो मानसिक वृत्तियां शल्य (अन्तर्ग्रण) की भांति कष्टप्रद होती हैं, उन्हें शल्य कहा जाता है। शल्य तीन प्रकार के होते हैं—१. माया शल्य—माया पूर्ण आचरण। २. निदान शल्य—ऐहिक और पारलौकिक उपलब्धि के लिए धर्म का विनिमय ३. और मिथ्यादर्शन—मिथ्यात्व युक्त दृष्टिकोण। टाणं (३/३८५) इन तीनों प्रकार के शल्यों से रहित को निःशल्य कहा जाता है।
६. आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार गौरव का अर्थ है—अभिमान से उत्तप्त चित्त की अवस्था। उसके तीन प्रकार हैं—१. ऋद्धि गौरव—ऐश्वर्य का अभिमान २. रस गौरव—रसों का अभिमान ३. सात गौरव—सुखों का अभिमान। (टाणं ३/५०५) विस्तार हेतु देखें सम ३/४ का टिप्पण पृ. ११।
७. आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार जिस कथा से संयम में बाधा उत्पन्न होती है, स्वादवृत्ति बढ़ती है, हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है और राजनीतिक दृष्टिकोण का निर्माण होता है, वह विकथा कहलाती है। (टाणं पृ. ५०५) वर्जनीय कथाओं को विकथा कहा जाता है। उनके चार प्रकार हैं—१. स्त्रीकथा २. भक्तकथा ३. देशकथा ४. राजकथा। (टाणं ४/२४१-४५) तथा निशीथ भाष्य (गा. १२१-३०) में इनके बारे में विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है।
८. जीभा (९२१, ९२२) में सात प्रकार के भय इस प्रकार हैं—
  - \* इहलोकभय—इस लोक से सम्बन्धित भय।
  - \* परलोकभय—मनुष्य का देव, तिर्यञ्च आदि से भयभीत होना।
  - \* आदानभय—चोर आदि द्वारा धन लेने पर उत्पन्न भय।
  - \* अकस्माद्भय—अंधकार में बिना कारण उत्पन्न भय।
  - \* आजीविकाभय—दुष्काल या दरिद्रता की स्थिति में जीविका चलाने के लिए उत्पन्न भय।
  - \* अश्लोकभय—कोई ऐसा कार्य करूंगा तो लोक में अकीर्ति होगी, इस प्रकार अकीर्ति से उत्पन्न भय।
  - \* मरणभय—मरने का भय।

टाणं सूत्र (७/२७) में इनके नाम और क्रम में अंतर है।

प्रकार के मदस्थान<sup>१</sup> से रहित, नव ब्रह्मचर्य<sup>२</sup> से गुप्त, दश समाधि-स्थान<sup>३</sup> में उपयुक्त साधक बहुत प्रकार के कलुषित पाप कर्मों का क्षय करके इहलोक से च्युत होकर सद्गतिगामी होते हैं।

४. ते णं<sup>४</sup> भगवं, सुत्तमग्गाणुसारी खीणकसाए दंतिदिए सरीरसाधारणद्वा जोगसंधाणताए<sup>५</sup> णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उग्गमुप्पायणासुद्धं इतरइतरेहिं<sup>६</sup> कुलेहिं परकडं परणिट्ठितं विगतिंगालं विगतधूमं पिण्डं सेज्जं उवधिं च गवेसमाणा<sup>७</sup> संगतविणयोवयारसालिणीओ कल-मधुर-रिभितभासिणीओ<sup>८</sup> संगतगतहसितभणितसुंदरथणजहणपडिरूवाओ इत्थियाओ पासित्ता णो मणसा वि पाउब्भावं गच्छंति<sup>९</sup>

इसलिए हे भगवन्! सूत्र मार्ग के अनुसार चलने वाले वे क्षीणकषाय और इन्द्रियों का दमन करने वाले होते हैं। वे शरीर को धारण करने एवं योगों का संधान करने के लिए नव कोटि<sup>१०</sup> परिशुद्ध, एषणा के दश दोषों<sup>११</sup> से मुक्त, सोलह उद्गम<sup>१२</sup> एवं उत्पादन<sup>१३</sup> के दोषों से शुद्ध, विविध घरों में गृहस्थ के द्वारा बनाया हुआ तथा दूसरों

१. आठ मदस्थान इस प्रकार हैं—१. जातिमद २. कुलमद ३. बलमद ४. रूपमद ५. तपोमद ६. श्रुतमद ७. लाभमद ८. और ऐश्वर्यमद। (टाणं ८/२१)
२. ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियां इस प्रकार हैं—१. विविक्त शयनासन २. स्त्रीकथा वर्जन ३. स्त्री की निषद्या पर बैठने का वर्जन ४. दृष्टि-संयम ५. प्रणीतभोजन का वर्जन ६. अतिआहार का वर्जन ७. भुक्तभोग का अस्मरण ८. इंद्रियविषय का संयम ९. विभूषा का वर्जन। ब्रह्मचर्य की नौ गुप्तियों के नामों में ग्रंथों में मतभेद है। विस्तार हेतु देखें उक्त. अध्ययन १६ का आमुख पृ. २६४, २६५
३. समाधि के दस स्थान इस प्रकार हैं—१. प्राणातिपात विरमण २. मृषावाद विरमण ३. अदत्तादान विरमण ४. मैथुन विरमण ५. परिग्रह विरमण ६. ईर्यासमिति ७. भाषासमिति ८. एषणा समिति ९. आदान-भण्ड-अमत्र-निक्षेपणा समिति १०. उच्चार-प्रस्रवण-श्लेष्म-सिंघाण-जल्ल-पारिष्ठापनिका-समिति। (टाणं १०/१३)
४. 'णं' यहां वाक्यालंकार के अर्थ में प्रयुक्त है।
५. × (आ, ला), °संधणरताए (पा, हे)।
६. इतरात° (पा)।
७. एसमाणा (अ, पा)।
८. °रिभित° (पा)।
९. टीकाकार के अनुसार अम्बड़ ऋषि का कथन सूत्र संख्या ४ तक ही है। इससे आगे का कथन यौगंधरायण का है— एतावदेव ऋषिभाषितमित्यम्बटस्य संबोधितत्वादानुमेयम्, शेषाणामृषिभाषितानां वाग्वृत्तिं त्वनुसृत्य हारिता इत्यादि लघुवाक्यं यौगंधरायणभाषितमिति। (ऋट्ट्वृ. १४५) टीकाकार

- का यह मंतव्य कुछ विमर्शनीय है। पांचवें सूत्र में यौगंधरायण के प्रश्न का उत्तर ऋषि ने सूत्र ६ से १० तक में दिया है अतः ये पांचों वक्तव्य भी अम्बड़ ऋषि के होने चाहिए क्योंकि स्वयं प्रश्न करके वे स्वयं उत्तर नहीं देते। इस संदर्भ में और भी गहन विमर्श की आवश्यकता है।
१०. जिसके द्वारा गच्छ में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं, वह कोटि है। (जीभा १२८७; कोडिज्जंते जम्हा, बहवो दोसा उ सहियए गच्छं। कोडि त्ति तेण भण्णति।) कोटि के नौ प्रकार ये हैं—स्वयं हनन करना, दूसरे से हनन करवाना तथा हनन का अनुमोदन करना, पचन, पाचन तथा पाचन का अनुमोदन, स्वयं क्रय करना, क्रय करवाना तथा क्रय का अनुमोदन करना—ये नौ कोटियां हैं। इनसे शुद्ध भिक्षा लेना नव कोटि परिशुद्ध भिक्षा है।
  ११. एषणा के दश दोष इस प्रकार हैं—१. शंकित २. म्रक्षित ३. निक्षिप्त ४. पिहित ५. संहत ६. दायक ७. उन्मिश्र ८. अपरिणत ९. लिप्त १०. और छर्दित।
  १२. उद्गम के सोलह दोष इस प्रकार हैं—१. आधाकर्म २. औद्देशिक ३. पूतिकर्म ४. मिश्रजात ५. स्थापना ६. प्राभृतिका ७. प्रादुष्करण ८. क्रीत ९. प्रामित्य १०. परिवर्तित ११. अभिहत १२. उद्भिन्न १३. मालापहृत १४. आच्छेद्य १५. अनिसृष्ट १६. अध्यवपूरक।
  १३. उत्पादन के सोलह दोष इस प्रकार हैं—१. धात्री २. दूती ३. निमित्त ४. आजीवना ५. वनीपक ६. चिकित्सा ७. क्रोध ८. मान ९. माया १०. लोभ ११. संस्तव १२. विद्या १३. मंत्र १४. चूर्ण १५. योग १६. मूलकर्म।

के लिए निष्पन्न, अंगार<sup>१</sup> एवं धूम<sup>२</sup> आदि दोषों से रहित आहार, शय्या और उपधि की गवेषणा करते हैं। उचित विनयोपचार से युक्त, लास्य युक्त, मधुरभाषिणी, उचित गति, उचित हास्य और उचित भाषण में निपुण, सुन्दर स्तन और प्रतिरूप जंघा वाली स्त्रियों को देखकर वे मन से भी विकार को प्राप्त नहीं होते।

५. से कधमेतं ? विगतरागता सरागस्स वि य णं 'अविक्ख हतमोहस्स'<sup>३</sup>। तत्थ तत्थ इतरइतरेसु<sup>४</sup> कुलेसु परकडं जाव<sup>५</sup> पडिरूवाइं पासिन्ता णो मणसा वि पादुब्भावो भवति।

यह कैसे संभव है कि नारियों के प्रति राग पैदा न हो? यह वीतरागता सराग और मोह-विजेता दोनों में होती है। वहां-वहां विविध कुलों में परकृत यावत् सुंदर रूप देखकर भी मन में राग की उत्पत्ति नहीं होती।

६. तं कहमिति ?

मूलघाते हतो रुक्खो, पुप्फघाते हतं फलं।

छिण्णाए मुद्ध सूईए, कतो तालस्स रोहणं ? ॥१ ॥

यह कैसे संभव है ?

उत्तर—मूल के नष्ट होने पर वृक्ष का विनाश हो जाता है, पुष्प का नाश होने पर फल विनष्ट हो जाता है। ताड़वृक्ष के मूर्धन्य भाग को सूई से छेदने पर उसकी वृद्धि कैसे संभव है ?

७. से कधमेतं ? हत्थिमहारुक्खणिदरिसणं<sup>६</sup> तेल्लपाउधम्मं<sup>७</sup> किंपागफलणिदरिसणं।

ऐसा कैसे संभव है ? (इस बात को तीन दृष्टान्तों से समझना चाहिए) — हाथी द्वारा महावृक्ष को उखाड़ने का दृष्टान्त, तैलपात्र<sup>८</sup> का दृष्टान्त तथा किम्पाक फल का उदाहरण।

८. से जधाणामए साकडिए अक्खमक्खेज्जा, एस मे णो भज्जिस्सति भारं च मे वहिस्सति,

१. राग, आसक्ति, गृद्धि तथा मूर्च्छा से प्रासुक एषणीय भक्त-पान की प्रशंसा करते हुए आहार करना अंगार दोष है। (पिनि ३१४ ; तं होति सइंगालं, जं आहारेति मुच्छितो संतो)
२. नीरस या अप्रिय आहार की निंदा करते हुए उसे द्वेष या क्लेश जनित परिणामों से खाना धूम दोष है। (पिनि ३१४ ; तं पुण होति सधूमं, जं आहारेति निंदतो)
३. अविक्खहितं (आ, ला, पा)।
४. इतरातरेसु (आ, ला, ब, पा)।
५. 'जाव' पाठ के विस्तार हेतु देखें सूत्र संख्या २५/४ का पाठ।
६. हत्थिमहरुं (अ, पा)।
७. कुछ अंतर के साथ तैलपत्त जातक में भी ऐसी ही कथा मिलती है। इसकी अतीत भव की कथा में कुछ अंतर है। उसमें बोधिसत्त्व तक्षशिला का राज्य लेने के लिए पांच आदमियों के साथ जाते हैं। पांचों में कोई रूप से, कोई रस से, कोई गंध से, कोई स्पर्श तथा कोई शब्द से आकृष्ट होकर मार्गवर्ती

- यक्षिणियों के अधीन होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। बोधिसत्त्व इनसे अप्रभावित रहकर तक्षशिला पहुंचकर वहां का राज्य प्राप्त कर लेते हैं। (देखें तैलपत्त जातक ९६, भा १ पृ. ५३१-४१, कथा के विस्तार हेतु देखें परि २, कथा सं. ५)
८. जैसे शक्तिसम्पन्न हाथी बड़े से बड़े वृक्ष को जड़ से उखाड़ देता है, वैसे ही साधक कामनाओं को जड़ से उखाड़ देता है। साधक को तैलपात्र धारक की भांति प्रतिक्षण अप्रमत्त रहना चाहिए। किम्पाक का फल जैसे दिखने में सुंदर लगता है लेकिन उसको खाने से वह परिणामभद्र नहीं होता, वैसे ही कामभोग किम्पाक फल की भांति भद्र दिखाई देते हैं लेकिन उनका परिणाम दुःखद होता है। यहां दृष्टान्त बहुत संक्षेप में उल्लिखित है। संभव है इनका विस्तार कालान्तर में लुप्त हो गया हो। इनमें प्रथम दृष्टान्त स्पष्ट नहीं है। अंतिम दो दृष्टान्त प्रसिद्ध होने के कारण गम्य हैं।

एवामेवोवमाए समणे णिग्गंथे छहिं ठाणेहिं आहारं आहारेमाणे वा णो अतिक्कमेति, वेदणा वेयावच्चे तं चेव<sup>१</sup> ।

जिस प्रकार शाकटिक अपनी गाड़ी के पहिए में तैल इसलिए डालता है कि वह पहिया या गाड़ी भग्न नहीं होगी और मेरा भार वहन कर सकेगी, वैसे ही श्रमण निर्ग्रन्थ छह कारणों से आहार करते हुए श्रामण्य का अतिक्रमण नहीं करता। मुनि के आहार करने के छह कारण हैं—वेदना, वैयावृत्य आदि।<sup>२</sup>

१. से जधाणामए जतुकारगे इंगालेसु अगणिकायं णिसिरेज्जा एस मे अगणिकाए णो विज्झहिंति<sup>३</sup> जतुं च तावेस्सामि, एवामेवोवमाए समणे णिग्गंथे छहिं ठाणेहिं आहारं आहारेमाणे णो अतिक्कमेति, वेदणा वेयावच्चे तं चेव ।

जिस प्रकार एक लाक्षाकार अंगारों में उतनी ही अग्नि प्रज्वलित करता है कि आग भी न बुझे और लाख को भी ताप पहुंचता रहे, इसी उपमा के अनुसार श्रमण निर्ग्रन्थ भी छह कारणों से आहार करता हुआ निर्ग्रन्थ धर्म का अतिक्रमण नहीं करता। आहार करने के छह कारण हैं—वेदना, वैयावृत्य आदि।

१०. से जधाणामए उसुकारए तुसेहिं अगणिकायं णिसिरेज्जा एस मे अगणिकाए णो विज्झहिंति उसुं च तावेस्सामि, एवामेवोवमाए समणे णिग्गंथे सेसं तं चेव<sup>४</sup> ।

जिस प्रकार बाण बनाने वाला तुष से उतनी ही अग्नि उत्पन्न करता है कि अग्नि भी न बुझे और इषु—बाण को सांधने के लिए ताप भी मिल सके। इसी प्रकार श्रमण निर्ग्रन्थ शरीर को उतना ही भोजन देता है, जिससे शरीर चल सके।

११. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् अम्बड़ परिव्राजक ऋषि) कहता हूँ।

१. इरियट्टाए य संजमट्टाए तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए (पा) ।

२. ठाणं सूत्र (६/४१) में साधु के लिए आहार करने के छह कारण निर्दिष्ट हैं—१. वेदना २. वैयावृत्त ३. ईर्या-समिति का सम्यक् पालन ४. संयम की रक्षा ५. प्राण-धारण

६. धर्म-चिन्तन ।

३. विज्झतिस्सति (पा) ।

४. टीकाकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम 'यौगंधरायणा-ध्ययनम्' अधिक उपयुक्त है। (अम्बटाध्ययनस्य यौगंधरायणा-ध्ययनमिति युक्ततरं नाम भवेत् (ऋवृ पृ. १४६)

छब्बीसइमं मातंगज्झयणं

छब्बीसवां अध्ययन : मातङ्ग





## २६. ऋषि मातङ्ग

छब्बीसवें अध्ययन के ऋषि मातङ्ग के नाम से प्रसिद्ध हैं लेकिन यहां ऐसा संभव लगता है कि ऋषि का मूल नाम कुछ और था। ये चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए अतः जाति के आधार पर इनका मातङ्ग नाम प्रसिद्ध हो गया।

ललितविस्तर के तृतीय परिवर्त में मातङ्ग नामक प्रत्येकबुद्ध ऋषि का उल्लेख मिलता है। सुत्तनिपात के उरग वर्ग में मातङ्ग स्थविर का वर्णन मिलता है, जिसके बारे में बुद्ध कहते हैं कि श्वपाक चाण्डाल, जो मातङ्ग के नाम से प्रसिद्ध हो गया। उसने अपने सत्कर्मों से इस लोक में दुर्लभ यश प्राप्त किया है। उसकी सेवा में बहुत से ख्याति प्राप्त क्षत्रिय और ब्राह्मण आते रहते थे। कामासक्ति का त्याग करके स्वस्थ चित्त वाला वह मातङ्ग ऋषि देह-त्याग के पश्चात् ब्रह्म लोक में गया। जन्मना चाण्डाल जाति भी उसको ब्रह्मलोक में जाने से रोक नहीं सकी। इसी प्रसंग में वहां वर्णन है कि कोई भी व्यक्ति जन्म से ब्राह्मण अथवा चाण्डाल नहीं होता।<sup>१</sup> सुत्तनिपात के इस प्रसंग को देखकर स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये ऋषिभाषित के मातङ्ग ऋषि ही होने चाहिए। पांच महाव्रत का वर्णन होने से भी इनको महावीरकालीन बौद्ध ऋषि माना जा सकता है।

महाभारत आदिपुराण में मातङ्ग राजर्षि का वर्णन मिलता है, जो शाप के कारण व्याध हो गए थे<sup>२</sup> तथा वनपर्व में एक महर्षि के रूप में इनका नाम मिलता है। उद्योगपर्व में भी मातङ्ग नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है, जिनका उपदेश पुरुषार्थ की महत्ता सिद्ध करने वाला था।<sup>३</sup>

ये किस परम्परा से सम्बन्धित थे, इस बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी कह पाना कठिन है लेकिन उनके उपदेश को पढ़कर यह कहा जा सकता है कि ये श्रमण परम्परा (जैन या बौद्ध) से सम्बन्धित ऋषि थे, जिन्होंने तत्कालीन प्रचलित जातिवाद के विरोध में अपने क्रान्त विचार प्रकट किए। स्थानांग सूत्र में अंतकृद्दशा के दूसरे अध्ययन का नाम मातङ्ग है<sup>४</sup> लेकिन वर्तमान में इन अध्ययनों के नामों में परिवर्तन है। तत्त्वार्थ राजवार्तिक में महावीर के तीर्थ में अंतकृद् होने वाले दस नाम हैं, जिनमें एक नाम मतङ्ग है।<sup>५</sup> ठाणं सूत्र के अनुसार अंतकृद्दशा के दस अध्ययनों में दूसरे अध्ययन का नाम मातङ्ग था। वर्तमान में यह अध्ययन अन्य नाम से मिलता है। संभव है प्राचीनकाल में इस अध्ययन में मातङ्ग ऋषि के जीवन का ही वर्णन हो, कालान्तर में उसका लोप हो गया।

अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि ने कितने प्रकार के धर्म हैं? इस प्रश्न से किया है। यहां धर्म का तात्पर्य या तो

१. सुत्तनि १/१३७-४०।

२. महा आदि ६७/६६।

३. महा उद्योग १२७/१९, २०।

४. ठाणं १०/११३।

५. तरा १/२० पृ. ७३।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों के कर्तव्य से होना चाहिए अथवा यह भी संभव लगता है कि धर्म का वर्णन करने वाली गाथाएं कालान्तर में लुप्त हो गई क्योंकि ऋषि ने इस अध्ययन में स्पष्ट रूप से धर्म का वर्णन न करके ब्राह्मण के गुण, उसके कर्तव्य एवं दिव्य खेती की बात कही है। प्रथम तीन गाथाओं में ऋषि इस बात को प्रकट करना चाहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चारों वर्णों को अपना निर्धारित कार्य करना चाहिए। ब्राह्मण वर्ग यदि युद्ध की शिक्षा ग्रहण करे अथवा शस्त्रजीवी हो तो यह उसके धर्म के विरुद्ध होगा। राजा (क्षत्रिय) और वणिक् यज्ञ करें तो यह ऐसा ही विपर्यास होगा, जैसे उत्तर और दक्षिण से आए दो अंधे रास्ते में ही टकरा जाएं।

अध्ययन के अंत में यद्यपि ऋषि ने चारों वर्णों का उल्लेख किया है लेकिन दूसरे सूत्र में कर्तव्य के विपर्यास में राजा (क्षत्रिय), वणिक् (वैश्य) और माहण (ब्राह्मण)—इन तीन वर्णों का ही उल्लेख क्यों किया? शूद्र का वर्णन क्यों नहीं किया, क्या शूद्र अपने कर्तव्य से विपरीत कार्य नहीं करते थे? इन प्रश्नों के उत्तर में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का गहन अध्ययन करना आवश्यक है। ऋषि के कथन से यह स्पष्ट आभास हो रहा है कि शूद्र को छोड़कर ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण अपने मूल कर्तव्य से च्युत हो रहे थे।

मातङ्ग ऋषि ने संक्षेप में ब्राह्मण की आंतरिक विशेषताओं को उजागर किया है। ऋषि के अनुसार शस्त्रधारी ब्राह्मण नहीं हो सकता। मृषा बोलने वाला, चोरी करने वाला, मैथुन सेवन करने वाला तथा परिग्रह रखने वाला ब्राह्मण नहीं होता। धर्म के अंगों में लीन तथा स्वाध्याय-ध्यान करने वाला ब्राह्मण होता है। सर्वेन्द्रियगुप्त, शीलान्गों में संलग्न तथा शील की प्रेक्षा करने वाला ब्राह्मण होता है। षड्जीवनिकाय का हितचिन्तक तथा विशुद्ध आत्मा वाला ब्राह्मण होता है। उत्तराध्ययन के पच्चीसवें अध्ययन में विस्तार से ब्राह्मण के स्वरूप का विमर्श हुआ है।<sup>१</sup> बौद्ध साहित्य में सुत्तनिपात<sup>२</sup> तथा धम्मपद<sup>३</sup> में विस्तार से ब्राह्मण के स्वरूप का वर्णन है। ये तीनों संदर्भ ऋषिभाषित के माहण—ब्राह्मण स्वरूप के साथ तुलनीय हैं। सूत्रकृतांग में ब्राह्मण की परिभाषा इस प्रकार है—जो सब प्रकार के पाप कर्मों से विरत होता है, प्रेय, द्वेष, कलह, आरोप, चुगली, परनिंदा, अरति-रति, मायामृषा, मिथ्यादर्शन आदि पापों से विरत होता है, जो सम्यक् प्रवृत्त, ज्ञान आदि से युक्त तथा सदा संयत होता है, क्रोध और अभिमान नहीं करता, वह 'माहन' कहलाता है।<sup>४</sup>

ऋषिभाषित के लगभग तीन अध्ययनों में ब्राह्मण का स्वरूप मिलता है। इससे दो बातें फलित होती हैं प्रथम तो यह कि उस समय समाज में ब्राह्मण अपने मौलिक धर्म से च्युत हो रहे थे अथवा ब्राह्मणों का समाज में

१. उ. २५/१९-२७।

२. सुत्तनि ३/२२०-४६, २५४, २५५।

३. धम्मपद २६/३८६-४२३।

४. सूत्र १/१६/३ इति विरतसव्वपावकम्मे पेज्ज-दोस-कलह-

अब्भक्खाण-पेसुण्ण-परपरिवाद-अरतिरति-मायामोस-मिच्छा-  
दंसणसल्लविरते समिए सहिए सया जए, णो कुज्जे णो माणी  
'माहणे' त्ति वच्चे।

ऊंचा स्थान था अतः उसके गुणों के बारे में तीनों परम्पराओं के प्रसिद्ध ग्रंथों में उल्लेख मिलता है।

अंत में ऋषि ने दिव्य कृषि करने की प्रेरणा दी है। उन्होंने कृषि के उपकरणों को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया है। इस आध्यात्मिक खेती का पूरा प्रसंग सुत्तनिपात के कसिभारद्वाज तथा धम्मपद की गाथाओं के साथ तुलनीय है।<sup>१</sup>

भगवान् बुद्ध ने खेती के लिए खेत किसको माना है, यह उल्लेख नहीं मिलता। इस संदर्भ में बौद्ध साहित्य का दार्शनिक दृष्टि से गहन अध्ययन अपेक्षित है कि उन्होंने आध्यात्मिक खेती करने के मूल स्थान का उल्लेख क्यों नहीं किया, जबकि ऋषिभाषित के ऋषि ने आत्मा को खेत के रूप में स्वीकार किया है। संभव लगता है कि बुद्ध ने आत्मा को अव्याकृत कहकर निषेध कर दिया इसलिए खेत के रूप में आत्मा का उल्लेख नहीं किया। इस दिव्य आध्यात्मिक खेती को करने वाले की योग्यता के बारे में बुद्ध मौन हैं लेकिन ऋषि कहते हैं कि क्षान्त, दान्त और पांच इंद्रियों को जीतने वाला ब्राह्मण ही इस गंभीर कृषि को कर सकता है। बुद्ध ने तप के स्थान पर श्रद्धा को बीज माना है और तप को वर्षा के रूप में स्वीकृत किया है। यहां ऋषि ने वर्षा का उल्लेख नहीं किया है। बुद्ध ने संयम के स्थान पर प्रज्ञा को युग (जूआ) सहित हल माना है। तितिक्षा के स्थान पर लज्जा को ईषादण्ड (हलदण्ड) तथा ध्यान के स्थान पर स्मृति को फाल (फावडा) माना है। दया और गुप्ति के स्थान पर मन को लगाम के रूप में स्वीकार किया है।

बुद्ध ने पराक्रम को योगक्षेम वहन करने वाला बैल माना है, जो साधक को वैसे स्थान पर पहुंचा देता है, जहां पहुंचकर व्यक्ति वीत शोक हो जाता है, जबकि ऋषि ने उपयुक्त क्रिया को बैल माना है। बत्तीसवें अध्ययन में पिंग ऋषि ने अहिंसा और समिति को जोतने योग्य बैल माना है।<sup>२</sup>

खेती में बुद्ध सत्य से निराई करते हैं, जबकि मातङ्ग ऋषि अहिंसा को निराई का साधन मानते हैं। बुद्ध ने नम्रता को प्रमोचन—बीज छांटना माना है लेकिन मातङ्ग ऋषि ने इस संदर्भ में कोई उल्लेख नहीं किया है। ऋषि ने धृति को पवित्र खलिहान, श्रद्धा को स्थिर मेढी, भावना को बाड़ तथा ईर्या समिति को संसंवृत द्वार माना है, जिससे खेती को किसी प्रकार की हानि न हो। ऋषि कषाय के मर्दन को धान्य का मर्दन, क्षमा को खेती काटना तथा निर्जरा को खेती काटने का उपकरण माना है। इन सब खेती के उपकरणों का बुद्ध ने कोई उल्लेख नहीं किया।

१. सुत्तनि १/७७-८० ;

सद्धा बीजं तपो बुद्धि, पञ्जा मे युगनङ्गलं ।  
हिरी ईसा मनो योत्तं, सति मे फालपाचनं ॥  
कायगुत्तो वचीगुत्तो, आहारे उदरे यतो ।  
सच्चं करोमि निदानं, सोरच्चं मे पमोचनं ॥

विरियं मे धुरधोरय्हं, योगक्खेमाधिवाहनं ।  
गच्छति अनिवत्तनं, यत्थ गन्त्वा न सोचति ॥  
एवमेसा कसी कट्टा, सा होति अमतप्फला ।  
एतं कसिं कसित्वान, सब्बदुक्खा पमुच्चती ति ॥

२. ऋषि ३२/३ ।

बारहवीं गाथा में ऋषि ने ब्राह्मण को लक्ष्य करके खेती करने की बात कही है। इस संदर्भ में एक प्रश्न यह उठता है कि मुख्यतः खेती करना वैश्य का धर्म बताया गया है फिर ऋषि ने कृषि को माहण—ब्राह्मण के साथ क्यों जोड़ा? इस प्रश्न का समाधान यह संभव है कि यहां 'माहण' का अर्थ ब्राह्मण न होकर मा+हण अर्थात् अहिंसक व्यक्तित्व होना चाहिए। दूसरी बात यहां आध्यात्मिक और दिव्य कृषि की बात है अतः उसका सम्बन्ध अहिंसा से ही होना चाहिए। इसकी पुष्टि इस बात से भी होती है कि अंतिम गाथा में ऋषि ने चारों वर्णों के लिए इस खेती को करने का निर्देश दिया है।

बुद्ध कहते हैं कि यह आध्यात्मिक खेती अमृत फल देने वाली तथा सांसारिक दुःखों से मुक्ति दिलाने वाली है। इस संदर्भ में ऋषि का मंतव्य है कि सब प्राणियों के प्रति दया से युक्त इस कृषि को करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी विशुद्ध हो जाते हैं। इसी ग्रंथ के बत्तीसवें अध्ययन में भी संक्षेप में अलौकिक कृषि का वर्णन मिलता है।

प्रस्तुत अध्ययन में खेती के उपकरणों में 'गोत्थणव' शब्द का अर्थ स्पष्ट नहीं है। टीकाकार ने भी इसके लिए 'अज्ञातार्थः' का उल्लेख किया है।

## २६. मातंगज्जयणं : मातङ्ग अध्ययन

१. कतरे धम्मे पण्णत्ते? सव्वाउसो सुणेध मे।  
किण्णुं बंभणवण्णाभा, जुद्धं सिक्खंति माहणा ॥१॥

हे आयुष्मन्! कितने धर्म<sup>१</sup> प्रज्ञप्त हैं, यह सब मुझसे सुनो। ब्राह्मण वर्ण की आभा वाले माहण युद्ध की शिक्षा क्यों ग्रहण करते हैं?

२. रायाणो वणिग्या जागे, माहणा सत्थजीविणो।  
अंधेण जुगेणद्धे, विपल्लत्थे उत्तरावरे<sup>२</sup> ॥२॥

३. आरूढा रायरहं, अडणीए<sup>४</sup> जुद्धमारभे।  
सधामाई<sup>५</sup> पिणिद्धंति, विवेया बंभपालणा<sup>६</sup> ॥३॥

राजा और वणिक् यज्ञ कराने लगें, ब्राह्मण शस्त्रजीवी हों और क्षत्रिय राजरथ पर आरूढ़ होकर मार्ग में ही युद्ध प्रारम्भ कर दें<sup>७</sup> यह वैसा ही विपर्यास होगा, जैसे उत्तर और दक्षिण से आए दो अंधे रास्ते में ही टकरा जाएं। जो विवेक और ब्रह्मचर्य-पालन से अपनी हिंसात्मक वृत्ति के द्वारों को बंद कर देते हैं, (वे वास्तव में माहण—ब्राह्मण हैं।)

४. ण माहणे धणुरहे<sup>८</sup>, सत्थपाणी ण माहणे।  
ण माहणे मुसं बूया, चोज्जं कुज्जा ण माहणे<sup>९</sup> ॥४॥

धनुष और रथ को पास में रखने वाला तथा शस्त्र को हाथ में धारण करने वाला माहण नहीं होता। माहण न असत्य बोलता है और न चोरी करता है।

५. मेहुणं तु ण गच्छेज्जा, णेव गिण्हे परिग्गहं।  
धम्मंगेहिं णिज्जुत्तेहिं, झाणज्जयणपरायणो ॥५॥

माहण न मैथुन का सेवन करे और न परिग्रह को ग्रहण करे। वह धर्म के अंगों में लीन रहकर ध्यान और स्वाध्याय में तल्लीन रहे<sup>१०</sup>।

१. किणा (पु), किण्णा (अ, पा, हे)।

२. ऋषि ने प्रथम गाथा में कितने प्रकार के धर्म होते हैं, यह प्रश्न तो उपस्थित कर दिया लेकिन इसका उत्तर नहीं दिया। ऐसा संभव लगता है कि 'धर्म' से यहां ऋषि का तात्पर्य कर्तव्य से है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि का धर्म (कर्तव्य) क्या है, उसे मुझसे सुनो। ऋषि ने मुख्य रूप से माहण (ब्राह्मण) के धर्म का ही प्रतिपादन किया है। यहां ऋषि का यह तात्पर्य है कि जिसकी जो आजीविका का साधन है, उसको वही करना चाहिए। यदि ब्राह्मण अध्ययन-अध्यापन को छोड़कर युद्ध करना सीखने लगे तो यह उनकी वृत्ति के विपरीत धर्म होगा।

३. प्रतियों में 'उत्तराधरे' पाठ मिलता है लेकिन यहां 'उत्तरावरे' पाठ होना चाहिए।

४. अडणीए ति मार्गे (ऋवृ पृ. १४६)।

५. सधम्माई (पा)।

६. बंभपहुणो य (अ, आ, ला, पा, ब, स)।

७. क्षत्रिय राजपथ में ही युद्ध प्रारम्भ कर दे, इससे ऋषि का तात्पर्य यह होना चाहिए कि यद्यपि युद्ध करना क्षात्रधर्म है लेकिन राजपथ पर बिना किसी घोषणा के युद्ध करना विपर्यास है।

८. धणुचरे (पा)।

९. उत्तराध्ययन के पच्चीसवें अध्ययन में गाथा १९ से २७ तक माहण (ब्राह्मण) के स्वरूप का वर्णन है। बौद्ध-साहित्य के सुत्तनिपात (३/२२०-४६) तथा धम्मपद (२६/३८५-४२३) में ब्राह्मण की विशेषताओं का वर्णन मिलता है।

१०. चौथे, पांचवें श्लोक के भाव को प्रकट करने वाली उत्तराध्ययन की गाथाएं इस प्रकार हैं —

कोहा वा जइ वा हासा, लोहा वा जइ वा भया।

मुसं न वयई जो उ, तं वयं बूम माहणं।

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।

न गेण्हइ अदत्तं जो, तं वयं बूम माहणं ॥ (उ २५/२३, २४)

६. सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं, सच्चप्पेही स माहणे।  
सीलंगेहिं णिउत्तेहिं, सीलप्पेही स माहणे ॥६॥

जो सर्वेन्द्रिय से गुप्त, सत्य-द्रष्टा, शीलान्गों में संलग्न तथा शील-प्रेक्षी होता है, वह माहण होता है।

७. छज्जीवकायहितए, सव्वसत्तदयावरे।  
स माहणे त्ति वत्तव्वे, आता जस्स विसुज्झती ॥ ७ ॥

जो षट्जीवनिकाय का हित-चिन्तक और सब प्राणियों पर दया रखने वाला है तथा जिसकी आत्मा विशुद्ध है, उसे माहण<sup>१</sup> कहना चाहिए।

८. दिव्वं भो! किसिं किसेज्जा, णेवप्पिणेज्जा<sup>२</sup>, मातंगेणं अरहता इसिणा बुइतं।

भो मुमुक्षु! दिव्य कृषि करो, उसे कभी मत छोड़ो, ऐसा अर्हत् मातंग ऋषि ने कहा।

९. आता छेत्तं तवो बीयं, संजमो जुगणंगलं।  
झाणं फालो निसित्तो य, संवरो य फलं<sup>३</sup> दढं ॥ ८ ॥

आत्मा खेत है, तप बीज है, संयम जुआ युक्त हल है, ध्यान तीक्ष्ण फावड़ा तथा संवर सुदृढ़ फल है<sup>४</sup>।

१०. अकूडत्तं च कूडेसु, विणए णियमणे<sup>५</sup> ठिते<sup>६</sup>।  
तित्तिक्खा य हलीसा तु, दया गुत्ती य पग्गहा ॥ ९ ॥

वह मायावी व्यक्तियों के बीच में माया का प्रयोग नहीं करता, सदैव विनय और संयम में स्थित रहता है, तित्तिका उसकी हलीषा—हल का दण्ड<sup>७</sup> तथा दया और गुप्ति उसकी लगाम है।

११. सम्मत्तं<sup>८</sup> गोत्थणवो<sup>९</sup>, समिती तु समिला तथा।  
धित्तित्तिसुसंबद्धा, सव्वण्णुवयणे रया ॥ १० ॥

सम्यक्त्व उसकी जुआ तथा समिति उसकी समिला—युगकील है। धृति रूपी चाबुक से सुसंबद्ध होकर वह सर्वज्ञ वचन में अनुरक्त रहता है।

१. द्र. सू १/१६/३।

२. णोदप्पिणेज्जा (आ, ला)।

३. प्रतियों में 'बीयं' पाठ मिलता है लेकिन यहां दृढ़ विशेषण के साथ 'फलं' पाठ होना चाहिए। वैसे भी पूर्वार्द्ध में तप को बीज रूप में निर्दिष्ट कर दिया है अतः यहां 'बीज' पाठ रखने से पुनरुक्ति हो जाएगी। टीकाकार ने भी इस संदर्भ में उल्लेख किया है कि बीजमिति पाठः संदिग्धपाठः पौनरुक्त्या-च्छंदसोऽशुद्धत्वाच्च। (ऋवृ पृ. १४६)

४. भगवान् बुद्ध ने श्रद्धा को बीज, तप को वर्षा, प्रज्ञा को जुआ युक्त हल तथा स्मृति को फावड़ा बताया है। (सुत्तनि १/७७)

५. छंद की दृष्टि से यहां 'णियमे' पाठ होना चाहिए।

६. नवीं गाथा से कृषि का प्रसंग चल रहा है लेकिन इस गाथा के पूर्वार्द्ध में कृषि की उपमा नहीं है।

७. बुद्ध ने लज्जा को हल का दण्ड कहा है। सुत्तनिपाठ अट्टकहा के अनुसार युग और हल को जोड़ने वाली काष्ठमयी लकड़ी ईषा कहलाती है। (सुत्तनिअट्ट १/७७, ईसाति युगनङ्गल-सन्धारिका दारुयट्ठि)

८. सम्मत्तं (पा)।

९. णणो (पा), टीकाकार ने 'गोच्छणवो त्ति अज्ञातार्थः' का उल्लेख किया है।

१२. पंचेव इंदियाणि तु, खंता दंता य णिज्जिता ।  
माहणेसु तु 'जो गोणो'<sup>१</sup>, गंभीरं कसती<sup>२</sup> किसिं ॥ ११ ॥

क्षान्त, दान्त तथा पांचों इंद्रियों को जीतने वाला माहण रूप बैल गंभीर कृषि करता है ।

१३. तवो बीयं अवंझं से, अहिंसा णिहणं<sup>३</sup> परं ।  
ववसाओ धणं तस्स, जुत्ता गोणा य संगहो ॥ १२ ॥

तप उसका अवन्ध्य (अवश्य उगने वाला) बीज है । अहिंसा उसका उत्कृष्ट निराई का साधन है ।  
व्यवसाय—पुरुषार्थ (खेती) उसका धन है तथा उपयोग युक्त बैल उसका संग्रह है ।

१४. धृति<sup>४</sup> 'खलं<sup>५</sup> च सुकियं'<sup>६</sup>, सद्धा मेढी य णिच्चला ।  
भावणा उ वती तस्स, इरिया दारं सुसंवुडं ॥ १३ ॥

धृति<sup>६</sup> पवित्र खलिहान<sup>७</sup> है । श्रद्धा उसकी स्थिर मेढी—आधार है । भावना उसकी बाड़ है और ईयां समिति उसका सुसंवृत द्वार है ।

१५. कसाया मलणं<sup>८</sup> तस्स, कित्तिवातो यं तक्खमा ।  
णिज्जरा तु लवामीसा<sup>९</sup>, इति दुक्खाण णिक्खति ॥ १४ ॥

कषाय का मर्दन धान्य का मर्दन है । क्षमा खेती को काटने के समान है । निर्जरा खेती काटने का एक उपकरण है । ऐसी खेती करने वाला माहण दुःख का नाश करता है ।

१६. एतं किसिं<sup>१०</sup> कसित्ताणं, सव्वसत्तदयावहं ।  
माहणे खत्तिए वेस्से<sup>११</sup>, सुदे वापि विसुज्जती<sup>१२</sup> ॥ १५ ॥

सब प्राणियों के प्रति दया से युक्त इस कृषि को करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी विशुद्ध हो जाते हैं ।<sup>१३</sup>

१७. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् मातंग ऋषि) कहता हूँ ।

१. ते गोणा (अ, पा, ला, स) ।

२. कसते (पु) ।

३. टीकाकार ने 'णिहणं' का अर्थ गोत्र किया है । (ऋवृ पृ. १४६)

४. बलं (ब) ।

५. खलं वसुकियं (अ, पु) ।

६. मन को नियंत्रित करने वाली शक्ति धृति है । उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका में धृति का अर्थ चित्त की स्वस्थता या अनुद्विग्नता किया है । (उशांटी प ६२२ ; धृतिश्च चित्तस्वास्थ्य-मनुद्विग्नत्वमित्यर्थः ।)

७. इसे खला भी कहा जाता है । वह भूमि खला कहलाती है, जहाँ कटाई होने के बाद धान का मर्दन करके धान्यकणों को तुषों से अलग किया जाता है ।

८. पंक्तिबद्ध बैलों से धान्य की मडाई की जाती थी, उसे 'मलन'

कहा जाता था तथा धान्य को भूसे से अलग करने के लिए उसे सूप से फटका जाता था । (निचू १ पृ. १०२)

९. व (ला, ब) ।

१०. लिवां (पा, ब, स, हे), उपज होने पर धान्य की कटाई को लवण कहा जाता था । यहाँ 'लवण' के स्थान पर 'लव' शब्द का प्रयोग है ।

११. किसिं (पा) ।

१२. वेसे (पा, ला) ।

१३. ति सुं (स) ।

१४. आध्यात्मिक कृषि हेतु सुत्तनिपात के उरगवर्ग में कसिभारद्वाजसुत गाथाएं (१/७७-८०) द्रष्टव्य हैं । इन गाथाओं हेतु देखें मातङ्ग ऋषि पृ. २१७, २१८ ।





सत्तावीसइमं वारत्तयज्झयणं

सत्तावीसवां अध्ययन : वारत्रक



## २७. ऋषि वारत्रक

ऋषिभाषित के सत्तावीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—वारत्रक। अंतकृद्दशा के छठे वर्ग में भी वारत्रक का उल्लेख मिलता है, जो राजगृह नगरी से सम्बन्धित थे तथा १२ वर्ष श्रमण पर्याय पालकर वे सिद्ध, बुद्ध हो गए<sup>१</sup> लेकिन इनके साथ ऋषिभाषित के ऋषि की तुलना नहीं की जा सकती। वारत्रक ऋषि के जीवन-प्रसंग का वर्णन आगम व्याख्या-साहित्य में मिलता है। वारत्रपुर नगर में अभयसेन राजा राज्य करता था। उसके मंत्री का नाम वारत्रक था। भिक्षा करते हुए धर्मघोष मुनि वारत्रक मंत्री के घर पहुंचे। मधु घृत युक्त खीर का थाल भिक्षार्थ लाया गया। पात्र से एक बूंद नीचे गिर गई। मुनि ने परिशाटित दोष समझकर भिक्षा नहीं ली। खीर पर मक्खियां भिनभिनाने लगीं। उनको खाने हेतु छिपकली, छिपकली पर गिरगिट, उस पर मार्जार, मार्जार पर प्रत्यन्त नगर के कुत्ते आ गए। वहां महासमर जैसा दृश्य उपस्थित हो गया। वारत्रक मंत्री यह सब दृश्य देख रहा था, उसे जातिस्मृति के साथ बोधि प्राप्त हो गई। वह दीक्षित हो गया। विहार करते हुए वह सुंसुमार नगर पहुंचा। वहां का राजा धुंधुमार था। घटना विशेष के कारण राजा प्रद्योत ने धुंधुमार के राज्य पर चढ़ाई की। वारत्रक मुनि ने निमित्त ज्ञान से धुंधुमार के विजय की घोषणा की। घोषणा के अनुसार राजा धुंधुमार विजयी हो गया और राजा प्रद्योत को बंदी बना लिया गया। कुछ दिनों के बाद राजा धुंधुमार ने अपनी पुत्री अंगारवती का विवाह प्रद्योत के साथ करके उसे विदा किया। इस घटना से वारत्रक ऋषि को भी संवेग की प्राप्ति हुई। आवश्यक निर्युक्ति<sup>२</sup> और ऋषिमण्डल<sup>३</sup> में यह कथा विस्तार से प्राप्त है।

बत्तीस योग संग्रह के अन्तर्गत आवश्यक चूर्ण में आई इस कथा से यह स्पष्ट है कि ये वारत्रक ऋषिभाषित के ऋषि ही होने चाहिए। अपने जीवन के अनुभव को ही उन्होंने उपदेश में संकलित कर दिया है। इस बात की पुष्टि बृहत्कल्पभाष्य और उसकी टीका में निर्दिष्ट उद्धरण से भी होती है। वारत्रक ऋषि का उल्लेख बृहत्कल्पभाष्य में मिलता है। वहां टीकाकार ने संक्षेप में कथा का संकेत भी किया है।<sup>४</sup>

अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए ऋषि कहते हैं कि साधु का श्रेष्ठ चारित्र ही उसकी निराबाध सम्पदा है। साधु का वैभव बाह्य भौतिक पदार्थों से नहीं आंका जाता, उसके चारित्र से जाना जाता है। ऋषि का अनुभव है कि साधु को गृहस्थ के साथ लम्बे समय तक संवास नहीं करना चाहिए, इससे आपस में स्नेहभाव बढ़ता है और वह उसके भविष्य के लिए दुःख का कारण बनता है। जो मुनि गृहस्थ के साथ मित्रता स्थापित करके उसके अनुकूल

१. अंत ६/६५।

२. आवनि ८९१, ८९२, आवचू २ पृ. १९७-२००, हाटी २ पृ. १४६-४८।

३. ऋषिमं ७६ टी पृ. ९६-९८।

४. बृभा २०२७; वारत्तिसिभासियाहरणं, बृभाटी पृ. ५८६; अत्र च वारत्रकमहर्षेः कृतस्वल्पमात्रगृहिसंगस्य प्रद्योतनृपेणोपहसित-स्याहरणम् अत एव तेन भगवता ऋषिभाषितेषु यत् सप्तविंश-मध्ययनं विरचितम्.....

भाषा का प्रयोग करता है, वह मोहमुग्ध व्यक्ति अपने आत्महित के प्रयोजन को नष्ट कर देता है।

चूँकि वारत्रक ऋषि ने अपने जीवन में निमित्त का प्रयोग किया था अतः वे प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि जो साधु लक्षण, स्वप्न, प्रहेलिका, आख्यायिका आदि का प्रयोग करता है, वह श्रामण्यभाव से बहुत दूर है। इसी प्रकार सामाजिक दृष्टि से जो चौलकर्म, उपनयन संस्कार, वर-वधू के विवाह आदि उत्सव में भाग लेता है तथा राजाओं के युद्ध में सहभागी (बिचौलिया) बनता है, वह श्रामण्यभाव से बहुत दूर है। इन सब कार्यों को करने वाला साधक आत्मजागृति के पथ पर अग्रसर नहीं हो सकता। वारत्रक ऋषि का यह उपदेश कुछ अंतर के साथ उत्तराध्ययन के पन्द्रहवें सभिक्षु अध्ययन का संवादी है।

## २७. वारत्तयज्जयणं : वारत्रक अध्ययन

१. साधु-सुचरितं अब्वाहता समणसंपदा, वारत्तएणं अरहता इसिणा बुद्धं।

साधु का श्रेष्ठ चरित्र ही निराबाध श्रमण-सम्पदा है, ऐसा अर्हत् वारत्रक ऋषि ने कहा।

२. न चिरं जणे संवसे मुणी, संवासेण सिणेहु वद्धती<sup>१</sup>।

भिक्षुस्स अणिच्चचारिणो, अत्तट्टे कम्मा दुहायती ॥ १ ॥

मुनि गृहस्थों के साथ चिरकाल तक संवास न करे क्योंकि अत्यधिक सम्पर्क से स्नेहभाव बढ़ जाता है। अनित्यचारी भिक्षु की आत्मा के लिए यह चिरसंवास राग जन्य कर्मों के रूप में दुःख उत्पन्न करता है।

३. पयहित्तु<sup>२</sup> सिणेहबंधणं, ज्ञाणज्जयणपरायणे मुणी।

णिद्धंतेण<sup>३</sup> सया वि चेतसा, णोव्वाणाय मतिं तु संदधे ॥ २ ॥

ध्यानलीन और स्वाध्याय परायण मुनि स्नेह-बंधनों को छोड़कर एकाग्र और निर्मल चित्त से निर्वाण-प्राप्ति के लिए अपनी मति का संधान करे।

४. जे भिक्खु सखेयमागते, वयणं कण्णसुहं परस्स बूया।

सेऽणुप्पियभासए हु मुद्धे<sup>४</sup>, आतट्टे नियमा तु हायती से ॥ ३ ॥

जो भिक्षु मित्रता से अभिभूत होकर दूसरों के लिए कर्णप्रिय भाषा बोलता है, वह मधुरभाषी मोह-मुग्ध मुनि नियमतः अपने आत्महित के प्रयोजन का नाश कर देता है।

५. जे लक्खण-सुमिण-पहेलियाउ, अक्खाइयाउ य कुतूहलाओ।

भेदादाणाइं<sup>५</sup> णरे पउंजते<sup>६</sup>, सामण्णभावस्स<sup>७</sup> महंतरं खु से ॥ ४ ॥

जो साधु लक्षण<sup>४</sup>, स्वप्न<sup>५</sup>, प्रहेलिका, आख्यायिका, कुतूहल, भेद-फूट डालना तथा आदान-संग्रह कर्म—इन सबका प्रयोग करता है, वह श्रामण्य भाव से बहुत दूर है।

६. जे चोलकउवणयणेसु वावि, आवाहविवाहवधूवरेसु य।

जुंजेइ जुज्जेसु य पत्थिवाणं, सामण्णभावस्स महंतरं खु से ॥ ५ ॥

जो साधु चौलकर्म<sup>६</sup>, उपनयन संस्कार<sup>७</sup> तथा वर और वधू के आवाह<sup>८</sup> और विवाह के उत्सव में भाग

१. वद्धती (ब)।

२. णिहत्ती (पा)।

३. णिद्धत्त (स)।

४. मूढे (पा, स)।

५. भद्दा (पु)।

६. पउंजे (पा)।

७. सामण्णस्स (पु)।

८. शरीर से साथ-साथ उत्पन्न होने वाले छत्र, चक्र, अंकुश आदि रेखा जनित आकारों को लक्षण कहा जाता है। (प्रसा

१३०९ ; लंछणपमुहं तु लक्खणं भणियं) इन शारीरिक लक्षणों के आधार पर शुभ-अशुभ का कथन करना।

९. स्वप्न के आधार पर शुभाशुभ का कथन।

१०. चौलकर्म—चूड़ाकर्म—मुण्डन संस्कार।

११. उपनयन-संस्कार—यज्ञ-सूत्र धारण संस्कार।

१२. आवाह शब्द के दो अर्थ मिलते हैं—१. वर पक्ष सम्बन्धी भोज २. नव विवाहित वधू को लाना—आवाह: अभिनव-परिणीतस्य वधूवरस्यानयनम्, वध्वा वरगृहानयनम् (प्रटी प. १३९, १४०)।

लेता है तथा राजाओं के युद्ध में स्वयं को जोड़ता (बिचौलिये का कार्य करता) है, ये सब कार्य श्रामण्य भाव से बहुत दूर हैं।

७. जे जीवणहेतुं<sup>१</sup> पूयणट्ठा, किंची इहलोकसुहं पउंजे।

अट्ठि विसएसु पयाहिणे से, सामण्णभावस्स<sup>२</sup> महंतरं खु से ॥ ६ ॥

जो साधु आजीविका, पूजा-प्रतिष्ठा तथा ऐहलौकिक किंचित् सुखों के लिए विषयों का अर्थी बनकर गृहस्थों के अनुकूल आचरण करता है, उसकी ये प्रवृत्तियां श्रामण्य भाव से बहुत दूर हैं।

८. ववगतकुसले संछिण्णसोए, पेज्जेण दोसेण य विप्पमुक्को।

पियमप्पियसहे अकिंचणे य, आतट्टं ण जहेज्ज धम्मजीवी ॥ ७ ॥

गृहस्थ सम्बन्धी कुशल-क्षेम की प्रवृत्ति से मुक्त, कर्म आने के स्रोत को छिन्न करने वाला<sup>३</sup>, राग-द्वेष से मुक्त, प्रिय-अप्रिय को सहन करने वाला, अकिंचन और धर्मजीवी साधक आत्मप्रयोजन—आत्महित का त्याग न करे।

९. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् वारत्रक ऋषि) कहता हूँ।

१. जीवाणं (ब)।

२. सामण्णस्स (पु)।

३. 'संछिण्णसोए' के दो संस्कृत रूप बन सकते हैं—संछिन्नस्रोतस् तथा संछिन्नशोकः अतः इसके दो अर्थ हो सकते हैं—जिसके

मिथ्यादर्शन आदि पाप आने के सारे स्रोत सूख गए हों अथवा जिसके सारे शोक दूर हो गए हों। आचारांग सूत्र में भगवान् महावीर ने आसक्ति को सबसे बड़ा स्रोत माना है।

अट्टावीसइमं अहयज्झयणं

अट्टावीसवां अध्ययन : आर्द्रक





## २८. ऋषि आर्द्रक

अट्टावीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—आर्द्रक। आर्द्रक का उल्लेख सूत्रकृतांग और उसके व्याख्या-साहित्य में विस्तार से मिलता है। चूर्णिकार के अनुसार ये अनार्यदेश में आर्द्रकपुर नगर के राजपुत्र थे। एक बार राजकुमार अभय ने आर्द्रककुमार के लिए भगवान् ऋषभ की प्रतिमा उपहार स्वरूप भेजी। प्रतिमा को देखकर उसे जातिस्मृति ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। वह दीक्षित हो गया। विहार करते-करते वह बसन्तपुर नगर में गया। वहां के सेठ की पुत्री उद्यान में क्रीड़ा कर रही थी। खेल-खेल में ही उसने मुनि को पति के रूप में वरण कर लिया। कालान्तर में मुनि आर्द्रक उत्प्रव्रजित होकर उस कन्या के साथ रहने लगे। उनके एक पुत्र की उत्पत्ति हुई। बारह वर्ष बीतने पर मुनि ने पुनः दीक्षित होना चाहा लेकिन पुत्र ने कच्चे सूत के धागे से उनको बांध दिया। बालक ने १२ वेष्टन किए थे अतः पुत्र-मोह से पुनः वे बारह वर्ष तक गृहवास में रहे। चौबीस वर्ष बीतने पर मुनि पुनः दीक्षित हो गए। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने आर्द्रककुमार को ईरान के ऐतिहासिक सम्राट् कुरुष (ई. पू. ५५८-५३०) का पुत्र माना है।<sup>१</sup>

सूत्रकृतांग चूर्ण में इनके पूर्व जन्म की कथा का उल्लेख भी प्राप्त होता है कि किस प्रकार पूर्व स्नेह और काम से अनुबद्ध होकर ये उत्प्रव्रजित हुए।<sup>२</sup> अंत में ये पांच सौ व्यक्तियों के साथ राजगृह नगरी में महावीर के चरणों में उपस्थित हुए। रास्ते में नगर के प्रवेश-द्वार पर गोशालक, ब्राह्मण, हस्तितापस आदि विभिन्न दर्शन के आचार्य मिले। सबने उसको अपनी परम्परा में दीक्षित करना चाहा लेकिन उनको पराजित करके ये आगे बढ़ गए। सूत्रकृतांग के दूसरे श्रुतस्कंध के छठे अध्ययन में इसकी विस्तार से चर्चा हुई है। महावीर के समवसरण में जाते हुए एक उन्मत्त हाथी उनके चरणों में श्रद्धा नत हो गया। राजा श्रेणिक उनके प्रभाव को देखकर उनके चरणों में प्रणत हो गया। राजा ने पूछा—“यह हाथी आपके चरणों में प्रणत कैसे हो गया?” मुनि आर्द्रक ने कहा—“राजन्! सांकलों से बंधे हाथी का बंधनमुक्त होना आश्चर्य की बात नहीं है। कच्चे सूत की डोरी से बद्ध मेरा बंधन-मुक्त होना दुष्कर है क्योंकि स्नेह के धागों को तोड़ना अत्यन्त दुष्कर होता है।”<sup>३</sup>

सम्पूर्ण अध्ययन को ध्यान से पढ़ने पर ज्ञात होता है कि आर्द्रक ऋषि ने अपने मुनि जीवन के अनुभवों को ही उपदेश के रूप में प्रकट किया है, जिससे दूसरे साधक भी इससे प्रेरणा प्राप्त कर सकें। अध्ययन के प्रारम्भ में ऋषि कहते हैं कि मुमुक्षु को सब प्रकार की कामनाओं के स्रोत का निरोध करना चाहिए क्योंकि काम स्वयं रोग

१. भारतीय इतिहास : एक दृष्टि पृ. ६७, ६८।

२. सूनि १८८-२००, सूचू २ प. ४१४-१७, सूटी प. २५८, २५९, ऋषिमण्डल ९९, १०० टी प ११४-१७।

३. सूनि २०१ ;

न दुक्करं वा नरपासमोयणं, गयस्स मत्तस्स वणम्मि रायं!।  
जहा उ वत्तावलिण तंतुणा, सुदुक्करं मे पडिभाति मोयणं ॥

हैं। दशवैकालिक निर्युक्ति में भी कहा गया है कि काम की इच्छा रखने वाले व्यक्ति निश्चित ही रोग की प्रार्थना करते हैं।<sup>१</sup> काम दुर्गति और दुःख को बढ़ाने वाले हैं। कामनाओं में लुब्ध होने वाला शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक—इन तीनों दृष्टियों से तुच्छ हो जाता है इसलिए काम शल्य, विष और आशीविष के समान भयावह हैं। उत्तराध्ययन के बत्तीसवें अध्ययन में इंद्रिय के मनोज्ञ-अमनोज्ञ विषय और उनमें राग-द्वेष के निरोध का विस्तार से वर्णन प्राप्त है।<sup>२</sup>

ऋषि स्वयं का अनुभव बताते हुए कहते हैं कि दिव्य और मानुषिक कामभोग मेरे द्वारा हजारों बार प्राप्त हुए हैं लेकिन फिर भी मैं उनसे तृप्त नहीं हो सका। प्रेय में उद्योग अत्यन्त दुःख का तथा तृष्णा का क्षय परम सुख का कारण है। कष्ट और क्लेश को कर्मविज्ञान की भाषा में प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं कि जीव आत्मकृत अपराधों से ही दुःख, क्लेश और वेदना को प्राप्त करते हैं। ऋषि के अनुसार वे ही व्यक्ति धन्यवाद के पात्र हैं, जो धीर, जितेन्द्रिय और कामरूपी पिशाच से मुक्त हो गए हैं।

‘अर्हत् ऋषि आर्द्रक ने ऐसा कहा’—इस उल्लेख के बाद भी अध्ययन में चार गाथाएं और हैं। इन गाथाओं में विषय-वैविध्य है अतः सहज ही एक प्रश्न उपस्थित होता है कि ये गाथाएं आर्द्रक ऋषि की हैं अथवा बाद में जोड़ी गई हैं। अंतिम चार गाथाओं का सार यही है कि पंडित और मेधावी पुरुष को स्वर्ण की भांति अपनी आत्मा की कालिमा और मैल को दूर करना चाहिए। अग्रिम गाथा में संक्षेप में तीन रूपक—रात्रि का क्षय, दीमक का संचय और मधुमक्खी के मधु का संग्रह प्रस्तुत करके ऋषि ने संयम में उद्यम करने की प्रेरणा दी है। बीती हुई रात्रि किसी भी कीमत पर वापस नहीं लौटती तथा व्यक्ति जिस संग्रह के कारण पाप करता है, वह संग्रह भी किसी दूसरे के काम आता है अतः व्यक्ति को संयम में पराक्रम करना चाहिए।

तीसरी गाथा में ऋषि ने एक बहुत बड़े सत्य को प्रकट किया है कि अमीरी और गरीबी के आधार पर जो ऊंच-नीच का विकल्प है, वह मानसिक कल्पना के आधार पर निर्मित है। चक्रवर्ती भी स्वर्ण के दतौन को नहीं चबाता। व्यक्ति अल्प काल के पुरुषार्थ से भी बहुत अधिक फल प्राप्त कर सकता है, फिर सिद्धि के लिए किया गया पुरुषार्थ तो और अधिक फलदायी है।

१. दशनि १४१ ;

अन्नं पि य सिं नामं, कामा रोग ति पंडिया बेंति ।

कामे पत्थेमाणो, रोगे पत्थेति खलु जंतू ॥

२. उ ३२/२१-१०० ।

## २८. अहयङ्गयणं : आर्द्रक अध्ययन

१. छिण्णसोते भिसं सव्वे, कामे कुणह सव्वसो ।

कामा रोगा मणुस्साणं<sup>१</sup>, कामा दुग्गतिवड्डणा ॥ १ ॥

मुमुक्षु सब प्रकार की कामनाओं के स्रोत को पूर्ण रूप से छिन्न कर दे क्योंकि मनुष्यों के लिए काम रोग हैं और दुर्गति को बढ़ाने वाले हैं ।

२. णासेवेज्ज मुणी गेही, एगत्तमणुपस्सतो ।

कामे कामेमाणा, अकामा जंति दोग्गतिं<sup>२</sup> ॥ २ ॥

एकत्व का अनुचिन्तन करने वाला मुनि गृद्धि—भोगासक्ति का सेवन न करे क्योंकि कामनाओं की इच्छा रखने वाला न चाहने पर भी दुर्गति में चला जाता है ।

३. जे लुब्भंति हि<sup>३</sup> कामेसु, तिविधं होति<sup>४</sup> तुच्छ<sup>५</sup> से<sup>६</sup> ।

अङ्गोववण्णा कामेसु, बहवे जीवा किलिस्संति<sup>७</sup> ॥ ३ ॥

जो कामभोगों में लुब्ध होते हैं, वे तीन प्रकार<sup>४</sup> से तुच्छ बन जाते हैं । अनेक जीव काम में अत्यधिक आसक्त होकर क्लेश का अनुभव करते हैं ।

४. सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।

बहुसाधारणा कामा, कामा संसारवड्डणा<sup>८</sup> ॥ ४ ॥

कामभोग शल्य हैं, विष हैं, आशीविष<sup>९</sup> सर्प के समान हैं<sup>१०</sup> । काम सामान्य व्यक्तियों द्वारा सेवित हैं तथा संसार को बढ़ाने वाले हैं ।

१. मणुसाणं (पा) ।

२. द्र. तु. उ ९/५३ ।

३. × (पु) ।

४. हवति (पा, हे) ।

५. तुच्छे (स) ।

६. गाथा में प्रथम पद में बहुवचन का प्रयोग है तथा दूसरे पद में एकवचन का प्रयोग हुआ है ।

७. किलीसंति (अ, ला, ब, स, पा, हे) ।

८. टीकाकार ने त्रिविधं जगत् अर्थ किया है । (ऋवृ पृ. १४७) दूसरे विकल्प में त्रिविध अर्थात् शारीरिक, सामाजिक और आत्मिक—तीनों दृष्टियों से तुच्छ बन जाता है ।

९. उत्तराध्ययन सूत्र (९/५३) में दूसरी गाथा का उत्तरार्ध और चौथी गाथा का पूर्वार्ध मिलकर एक गाथा मिलती है—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।

कामे पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं ॥

१०. आशी का अर्थ है—सर्प की दाढ़ा । जिसकी दाढ़ा में विष हो, वे आशीविष कहलाते हैं । (दशअचू पृ. २०८; आसीविस सप्पस्स दाढा आसी, तीए विसं जस्स सो आसीविसो ।) ये मणिधारी सर्प होते हैं ।

११. आचार्य महाप्रज्ञ ने उत्तराध्ययन सूत्र में इस श्लोक के पूर्वार्ध की व्याख्या करते हुए कहा है कि काम की चुभन निरन्तर बनी रहती है इसलिए वह शल्य है । उसमें मारक शक्ति होती है इसलिए वह विष है तथा काम अशीविष सर्प की भांति लुभावने लगते हैं लेकिन स्पर्श करते ही उनके द्वारा डसे जाने पर व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है । (देखें उ ९/५३ का टिप्पण पृ. १७८)

५. पत्थंति भावतो कामे, जे जीवा मोहमोहिता ।  
दुग्गमे भयसंसारे, ते धुवं दुक्खभागिणो ॥ ५ ॥

जो व्यक्ति मोह से मूढ़ हैं, भाव से काम-भोगों की अभिलाषा करते हैं, वे इस दुर्गम और भययुक्त संसार में निश्चित ही दुःख के भागी होते हैं ।

६. कामसल्लमणुद्धिता, जंतवो काममुच्छिता ।  
जरा-मरणकंतारे, परियत्तंति वुक्कमं ॥ ६ ॥

काम मूर्च्छित प्राणी काम शल्य का उद्धार किए बिना जरा और मरण रूपी अटवी में उत्क्रम से परिभ्रमण करते रहते हैं ।

७. सदेवमाणुसा कामा, मए पत्ता सहस्ससो ।  
ण याहं कामभोगेसु, तित्तपुव्वो कयाइ वि ॥ ७ ॥

दिव्य और मानुषिक काम-भोग मेरे द्वारा हजारों बार प्राप्त किए गए हैं फिर भी मैं उनसे कभी तृप्त नहीं हो सका ।

८. तित्तिं<sup>२</sup> कामेसु णासज्ज, पत्तपुव्वं अणंतसो ।  
दुक्खं बहुविहाकारं, कक्कसं परमासुभं ॥ ८ ॥

पूर्व में अनंत बार भोग प्राप्त होने पर भी कामभोगों से तृप्ति प्राप्त नहीं हुई प्रत्युत् इनसे अनेक प्रकार के कर्कश और अत्यन्त अशुभ दुःख प्राप्त हुए हैं ।

९. कामाण मग्गणं दुक्खं, तित्ती<sup>३</sup> कामेसु दुल्लभा ।  
पिज्जुज्जोगो परं दुक्खं, तण्हक्खय परं सुहं ॥ ९ ॥

कामभोगों की याचना या अन्वेषणा दुःख का कारण है । कामनाओं से तृप्ति होना अत्यन्त दुर्लभ है । प्रेय में उद्योग अत्यन्त दुःखद है, तृष्णा का क्षय परम सुख है ।

१०. कामभोगाभिभूतप्पा, वित्थिण्णा<sup>४</sup> वि णराहिवा ।  
'फीतिं खितिं'<sup>५</sup> इमं भोच्चा, दोग्गतिं विवसा गता ॥ १० ॥

बड़े-बड़े राजा भी काम-भोगों से अभिभूत होकर विस्तीर्ण पृथ्वी का भोग करके विवश होकर दुर्गति को प्राप्त हो गए ।

११. काममोहितचित्तेणं, विहाराहारकंखिणा ।  
दुग्गमे भयसंसारे, परीतं केसभागिणा ॥ ११ ॥

काम से मूढ़ चित्त वाला, आहार और विहार की आकांक्षा रखने वाला साधक इस दुर्गम और भयानक

१. वक्कमं (अ, ला, ब, पा, हे), वक्कवं (स) ।

२. तित्तिं (अ, हे), तत्ती (स) ।

३. तत्ती (अ) ।

४. विच्छिण्णा (ब) ।

५. फीतिं कित्तिं (आ, पु) ।

संसार में चारों ओर से क्लेश को प्राप्त करता है।

१२. अप्पक्कतावराहोऽयं, जीवाणं भवसागरो।  
सेओ जरग्गवाणं वा, अवसाणम्मि दुत्तरो<sup>१</sup> ॥ १२ ॥

आत्मकृत अपराधों से युक्त यह संसार-सागर प्राणियों के लिए अंत में वैसे ही दुस्तर हैं, जैसे बूढ़े बैल के लिए कीचड़ को पार करना।

१३. अप्पक्कतावराहेहिं, जीवा पावंति वेदणं।  
अप्पक्कतेहि सल्लेहिं, सल्लकारी व वेदणं ॥ १३ ॥

जैसे शल्यकर्ता व्यक्ति आत्मकृत शल्यों से वेदना को प्राप्त करता है। वैसे ही आत्मकृत अपराधों से जीव वेदना को प्राप्त करते हैं।

१४. जीवो अप्पोवघाताय, पडते<sup>२</sup> मोहमोहितो।  
बंधमोग्गरमाले व, णच्चंतो बहुवारिओ<sup>३</sup> ॥ १४ ॥

मोह से मूढ़ जीव नाचता हुआ बहुत रोकने पर भी आत्मघात के लिए पतन का रास्ता अपनाता है। जैसे द्वार पर बंधी हुई मोगरे (मालती) के पुष्पों की माला।

१५. असम्भावं पवत्तेति<sup>४</sup>, दीणं भासंति वीकवं<sup>५</sup>।  
कामग्गहाभिभूतप्पा, जीवितं 'पयहंति य'<sup>६</sup> ॥ १५ ॥

काम रूपी ग्रह से अभिभूत प्राणी असद्भाव का प्रवर्तन करते हैं, व्याकुल होकर दीन भाषा बोलते हैं। वे जीवन का नाश कर देते हैं।

१६. हिंसादाणं पवत्तेति, कामतो<sup>७</sup> केइ माणवा।  
चित्तं णाणं सविण्णाणं, केयी णेति हि संखयं ॥ १६ ॥

कुछ मानव काम के वशीभूत होकर हिंसा और परिग्रह का सेवन करते हैं। कुछ व्यक्ति अपने धन, ज्ञान और विज्ञान का नाश कर लेते हैं।

१७. सदेवोरगगंधव्वं, सतिरिक्खं समाणुसं।  
कामपंजरसंबद्धं, किस्सते विविहं जगं ॥ १७ ॥

यह जगत् देव, नाग, गन्धर्व, तिर्यञ्च और मनुष्य से संबंधित काम रूपी पिंजरे में बंधकर विविध प्रकार के क्लेश को प्राप्त करता है।

१. दुरुत्तरो (अ, स)।

२. पज्जते (अ)।

३. बहुतारि<sup>०</sup> (स)।

४. पवातंति (अ)।

५. वीकमं (पा)।

६. पयहंति (पा)।

७. कामसो (पु)।

१८. कामगहविणिम्मुक्का, धण्णा धीरा जित्तिदिया ।

वितरंति मेइणिं<sup>१</sup> रम्मं, सुद्धप्पा सुद्धवादिणो ॥ १८ ॥

जो धीर और जितेन्द्रिय मानव काम रूपी ग्रह से मुक्त होते हैं, वे धन्य हैं। वे शुद्धवादी और पवित्र आत्माएं इस रम्य मेदिनी—भव-सागर को पार कर जाती हैं।

१९. जे गिद्धे कामभोगेसु<sup>२</sup>, पावाइं कुरुते णरे ।

से संसरंति संसारं, चाउरंतं महब्भयं ॥ १९ ॥

जो मनुष्य काम-भोगों में गृद्ध होकर पाप करते हैं, वे चतुर्गति रूप महाभयंकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

२०. जहा अस्साविणिं<sup>३</sup> नावं, जातिअंधो दुरूहिओ ।

इच्छंते पारमागतुं, अंतरे च्चिय सीदती ॥ २० ॥

अद्दएण अरहता इसिणा बुइतं<sup>४</sup>

जैसे जात्यन्ध व्यक्ति छिद्र युक्त नौका को प्राप्त करके पार जाने की इच्छा करता है लेकिन वह बीच रास्ते में ही दुःख को प्राप्त करके पार नहीं पा सकता, अर्हत् आर्द्रक ऋषि ने ऐसा कहा।

२१. काले काले य मेहावी, पंडिते य खणे खणे ।

कालातो कंचणस्सेव, उद्धरे मलमप्पणो ॥ २१ ॥

मेधावी और पंडित व्यक्ति प्रतिसमय और प्रतिक्षण स्वर्ण की भांति अपनी आत्मा की कालिमा और मैल को दूर करे।

२२. अंजणस्स खयं दिस्स, वम्मीयस्स य संचयं ।

मधुस्स य समाहारं, उज्जमो संजमे वरं ॥ २२ ॥

अंजन<sup>५</sup>—रात्रि का क्षय, वल्मीक—दीमक का संचय और (मधुमक्खियों द्वारा) मधु का संग्रह देखकर संयम में उद्यम करना श्रेष्ठ है।

२३. उच्चादीयं विकप्पं तु, भावणाए विभावए ।

ण हेमं दंतकट्टं तु, चक्कवट्टी वि सादए<sup>६</sup> ॥ २३ ॥

ऊंच-नीच आदि के विकल्प तो भावनाओं के आधार पर कल्पित हैं। चक्रवर्ती भी स्वर्ण के दंतौन को नहीं चबाता।

१. मेइणि (पा, हे)।

२. दशवैकालिक निर्युक्तिकार ने 'काम' शब्द का निरुक्त करते हुए कहा है कि जो विषय व्यक्ति को धर्म से विमुख करते हैं, वे काम हैं। (दर्शन १४० ; उक्कामयंति जीवं, धम्मातो तेण ते कामा।)

३. निस्सा<sup>०</sup> (पु), रिस्सा<sup>०</sup> (अ, आ)।

४. 'अद्दएण अरहता इसिणा बुइतं' इस उल्लेख के बाद चार गाथाएं और हैं। यह खोज का विषय है कि ये गाथाएं बाद में जोड़ी

गई हैं अथवा स्वयं आर्द्रक ऋषि की हैं। विषयान्तर देखते हुए लगता है कि ये गाथाएं बाद में किसी आचार्य द्वारा जोड़ी गईं अथवा निर्युक्ति की होनी चाहिए।

५. अज्जन—रात्रि (आपटे), टीकाकार ने 'अंजण' का अर्थ काजल किया है लेकिन प्रसंगानुसार यह अर्थ यहां सम्यक् प्रतीत नहीं होता।

६. खादए (अ, ब, पु, स, हे)।

२४. खणथोवमुहुत्तमंतरं, सुविहित! पाऊणमप्पकालियं।

तस्स वि विपुले फलागमे, किं पुण जे सिद्धिं परक्कमे ? ॥ २४ ॥

हे सुविहित पुरुष! क्षण, स्तोक, अन्तर्मुहूर्त्त जैसे अल्पकालिक अवसर को प्राप्त करके भी विपुल फल को प्राप्त किया जा सकता है फिर जो सिद्धि के लिए पुरुषार्थ करते हैं, उनके फल का तो कहना ही क्या?

२५. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् आर्द्रक ऋषि) कहता हूँ।





एगूणतीसइमं वद्धमाणज्झयणं

उनतीसवां अध्ययन : वद्धमान



## २९. ऋषि वर्द्धमान

ऋषिभाषित के उनतीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—वर्द्धमान। वर्द्धमान भगवान् महावीर का ही अपर नाम है। कल्पसूत्र एवं आयारचूला के अनुसार उनके गर्भ में आने पर धन-धान्य की वृद्धि हुई इसलिए माता-पिता ने इनका नाम वर्द्धमान रख दिया।<sup>१</sup> शेरगाथा अट्टकहा में भी वर्द्धमान स्थविर का उल्लेख मिलता है, जो वैशाली के लिच्छवी वंश के राजकुमार थे।<sup>२</sup> वस्तुतः बौद्ध-साहित्य में भगवान् महावीर का नाम 'निगंठ नातपुत्त' अधिक प्रसिद्ध है।<sup>३</sup> इन्हें तत्कालीन छह तीर्थकरों में एक माना है।<sup>४</sup> महावीर के जीवन-प्रसंग के मुख्य स्रोत हैं—आचारांग,<sup>५</sup> भगवती,<sup>६</sup> कल्पसूत्र, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यक चूर्णि<sup>७</sup> आदि ग्रंथ। सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के छठे 'वीरथुई' अध्ययन में भगवान् के जीवन-प्रसंगों का वर्णन नहीं है लेकिन उनके महान् व्यक्तित्व की स्तुति की गई है। वर्द्धमान जीवन कोश में लगभग ५७५ पृष्ठों में महावीर के जीवन से सम्बन्धित संदर्भ संकलित हैं। 'गाथा' में भी महावीर के जीवन पर पर्याप्त सामग्री संकलित है।

भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक साधना की। साधनाकाल में उन्होंने अनेक कष्टों को झेला। नीरोग होते हुए भी मिताहारी रहे तथा कठोर तप किया। भिक्षा में रुखा-सूखा, ठंडा-बासी जो कुछ मिल गया, उसी को ग्रहण किया। रोग होने पर भी चिकित्सा नहीं की। पूरे साधनाकाल में उन्होंने केवल अड़तालीस मिनट नींद ली। प्रायः सारा समय खड़े-खड़े ध्यान में जागृत अवस्था में बिताया। साधना-काल में वे प्रायः मौन रहे। अनार्य देश में रोमाञ्चक कष्ट झेले और अंत में कैवल्य को प्राप्त हो गए।

कुछ विद्वानों ने प्रारम्भ के २० ऋषियों को भगवान् अरिष्टनेमि के काल का, २१ से ३५ तक के ऋषियों को भगवान् पार्श्व के काल का तथा अंतिम दश ऋषियों को भगवान् महावीर के काल का माना है। ऐसा मानने से ऋषि वर्द्धमान भगवान् पार्श्व के काल के घटित होते हैं लेकिन यह तर्क संगत नहीं है। ऐसा मानने से अनेक विसंगतियां आ जाएंगी क्योंकि वर्द्धमान ऋषि स्वयं भगवान् महावीर हैं।

अध्ययन का प्रारम्भ इस प्रश्न से हुआ है कि सब ओर स्रोत (आस्रव) प्रवाहित हो रहे हैं, उनका निवारण क्यों नहीं हो रहा है? इस अध्ययन में ऋषि ने स्रोत को रोकने के तीन उपाय बताए हैं—१. आत्मजागृति २. इन्द्रिय-संयम एवं विषयों में अनासक्ति ३. मनोनुशासन एवं कषाय-उपशमन। प्रथम उपाय का ऋषि ने रहस्यवादी शैली में उत्तर दिया है। ऋषि कहते हैं कि जागृत मुनि की पांचों इंद्रियां सुप्त रहती हैं अतः उसके कर्म-

१. आचूला १५/१३, कल्प ६६।

२. शेर १/४/४० पृ. १८।

३. मज्झिम भाग २ पृ. ५२२।

४. दीघ १/२/१/७ पृ. ४२।

५. आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के नवें अध्याय 'उपधानश्रुत' तथा द्वितीय श्रुतस्कंध के पन्द्रहवें अध्ययन 'भावना' में महावीर

के जीवन का वर्णन मिलता है।

६. भगवती सूत्र का पन्द्रहवां शतक।

७. देखें आवनि गा. २६१-३५६ पृ. ३६६-४०४ तथा आवचू १ पृ. २२८-३२३; आवश्यक निर्युक्ति की गाथा संख्या जैन विश्व भारती द्वारा संपादित ग्रंथ की है।

रज का आगमन रुक जाता है लेकिन प्रमादी मुनि की पांचों इंद्रियां जागृत रहती हैं अर्थात् वे विषयों में द्विष्ट और अनुरक्त होती हैं अतः उनसे कर्म का आगमन होता रहता है। संयुक्त निकाय में इसकी संवादी गाथा मिलती है। वहां प्रश्न प्रस्तुत करने वाली गाथा भी है।<sup>१</sup> कठोपनिषद् में इसी तथ्य को प्रकारान्तर से निरूपित किया गया है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥<sup>२</sup>

कठोपनिषद् के रचयिता ऋषि कहते हैं कि ब्रह्मा ने इंद्रियों के द्वार बाहर की ओर खोल दिए इसलिए मूढ़ व्यक्ति बाह्य जगत् को ही देखता है लेकिन तत्त्व की इच्छा रखने वाला कोई धीर पुरुष इंद्रियों के द्वार को भीतर की ओर मोड़कर आत्मा का दर्शन करता है।

इसी गाथा का संवादी सूत्र आचारांग में मिलता है—सुत्ता अमुणी, मुणिणो सया जागरंति। आचार्य महाप्रज्ञ ने इस सूत्र पर विस्तृत भाष्य लिखा है। उन्होंने अनेक दृष्टियों से इस सूत्र की व्याख्या की है—

१. नींद लेने वाला द्रव्य सुप्त तथा हिंसा, परिग्रह आदि में लीन रहने वाला तथा विषय और कषायों के वशीभूत व्यक्ति भावसुप्त कहलाता है। जो निद्रा से मुक्त है, वह द्रव्य जागृत तथा जो अहिंसा और अपरिग्रह में लीन है, सम्यग्दृष्टि, तृष्णारहित तथा धर्म के प्रति उत्साहवान् है, वह भाव जागृत है।

२. अभीक्षण ज्ञानोपयोग एवं अप्रमाद के कारण मुनि का चित्त, मन, मस्तिष्क और सारा नाड़ी तंत्र उसके अधीन होता है, वह निद्रावस्था में भी अकरणीय कार्य नहीं करता, यही उसके सतत जागृत रहने का रहस्य है। अज्ञान, प्रमाद और मोहजन्य प्रवृत्ति बढ़ने से सुप्त व्यक्ति की पांचों इंद्रियां जागृत रहती हैं। वे विषयों में द्विष्ट एवं अनुरक्त होती रहती हैं।

३. असंयत व्यक्ति के उठने-बैठने की जो क्रिया आस्रव के लिए होती है, संयत व्यक्ति की वही क्रिया निर्जरा के लिए होती है।<sup>३</sup>

स्रोत को रोकने का उपाय बताते हुए ऋषि वर्द्धमान कहते हैं कि पांचों इंद्रियों के द्वारा मनोज्ञ या अमनोज्ञ विषयों को प्राप्त करके साधक मनोज्ञ विषय में राग तथा अमनोज्ञ में द्वेष न करे। इस प्रक्रिया से साधक के भीतर माध्यस्थ भाव का विकास तथा कर्म आने का द्वार रुक जाता है। ऋषि का मंतव्य है कि यदि साधक की इंद्रियां उच्छृंखल हैं, चंचल हैं तो वे संसार-वृद्धि का हेतु बनती हैं, वे ही इंद्रियां यदि सुशृंखल और संयमित हैं तो निर्वाण का हेतु बनती हैं। इसी तथ्य को आचारांग में एक सूक्त के माध्यम से प्रकट किया गया है—‘जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा’। जो हेतु कर्म को आकृष्ट करने वाले हैं, वे ही कर्म की निर्जरा करने वाले हैं। असंबुद्ध व्यक्ति के लिए जो स्थान आस्रव के हेतु हैं, संबुद्ध व्यक्ति के लिए वे ही स्थान निर्जरा के हेतु हैं।

इंद्रियों के सम्बन्ध में कुछ दार्शनिक ऐसा मानते थे कि आंखों को नष्ट कर देना चाहिए, जिससे रूप को

१. संयुक्तनिकाय १/६/७ पृ. ७, गाथा हेतु देखें इसी अध्ययन की गाथा न. २ का चौथा टिप्पण संख्या।

२. कठो २/१/१।

३. आभा ४/१२, टिप्पण पृ. २१३, २१४।

देखने से लगने वाले पापों से निवृत्त हुआ जा सके लेकिन महावीर ने इस बात का विरोध किया। उन्होंने कहा— इंद्रियां कर्म-बंध का कारण नहीं अपितु उसमें होने वाला राग-द्वेष कर्मबंध का कारण है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसी सत्य की अभिव्यक्ति हुई है कि इंद्रिय-विषय रागी व्यक्ति के लिए दुःख या कर्मबंध के हेतु हैं। वीतराग के लिए ये ही इंद्रियां किञ्चित् भी दुःख या कर्मबंध का कारण नहीं बनती।<sup>१</sup> इस अध्ययन के विषय की तुलना आयारचूला के पन्द्रहवें भावना नामक अध्ययन से की जा सकती है।<sup>२</sup>

इंद्रिय-विजय के पश्चात् ऋषि मनोविजय की बात कहते हैं। गीता में मनोविजय के दो उपाय बताए गए हैं—अभ्यास और वैराग्य<sup>३</sup> उत्तराध्ययन में श्रुत के स्वाध्याय को मनोनिग्रह का उपाय बताया है।<sup>४</sup>

मनोविजय होते ही साधक विवेक रूपी गज पर आरूढ़ होकर कर्म के साथ युद्ध करना प्रारम्भ कर देता है और उसका जीवन उसी प्रकार प्रकाशित हो जाता है, जैसे हवनयोग्य पदार्थों से युक्त प्रकाशित अग्नि।

अध्ययन की अंतिम गाथा में ऋषि ने 'सव्ववारीहिं वारए' शब्द का प्रयोग किया है। दीघनिकाय के सामञ्जफलसुत्त<sup>५</sup> तथा मज्झिमनिकाय के उपालि सुत्त<sup>६</sup> में णिगंठ नातपुत्त के लिए 'सव्ववारिवारितो' का प्रयोग हुआ है। सूत्रकृतांग में 'वारिय सव्ववारी' का प्रयोग हुआ है<sup>७</sup>, जिसका अर्थ है सब वर्जनीयों का वर्जन करने वाला।<sup>८</sup>

वर्द्धमान अर्थात् अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट यह अध्ययन कर्म आने के स्रोतों को निग्रह करने के सुंदर उपायों को प्रदर्शित करता है।

१. उ ३२/१०० ;

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो ।  
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करेंति किंचि ॥

२. आचूला १५/७२-७६ ।

३. गीता ६/३५ ; अभ्यासेन तु कौन्तेय !, वैराग्येण च गृह्यते ।

४. उ २३/५६ ; पधावंतं निगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं ।  
न मे गच्छइ उम्मगं, मगं च पडिवज्जई ॥

५. दीघ १/२/४/२८ पृ. ५० ।

६. मज्झिम ६/८ पृ. ५२२ ; निगण्ठो नातपुत्तो चातुयाम-  
संवरसंबुतो सव्ववारिवारितो सव्ववारियुतो सव्ववारिधुतो  
सव्ववारिफुटो ।

७. सू १/६/२८ ।

८. विस्तार हेतु देखें सू पृ. २०४ ।



## २१. वद्धमाणञ्जयणं : वर्द्धमान अध्ययन

१. सर्वन्ति<sup>१</sup> सव्वतो सोता, किं ण 'सोताण वारणं'<sup>२</sup> ?

पुट्टे मुणी आइक्खे, कहं सोतो पिहिज्जति ?<sup>३</sup> ॥

वद्धमाणेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

सभी ओर से स्रोत<sup>३</sup> प्रवाहित हो रहे हैं। उन स्रोतों का निरोध क्यों नहीं हो रहा है ? यह पूछने पर ज्ञानी ने बताया कि स्रोत का निरोध कैसे किया जाता है ? अर्हत् वर्द्धमान ऋषि ने ऐसा कहा।

२. पञ्च जागरओ सुत्ता, पञ्च सुत्तस्स जागरा ।

पञ्चहिं रयमादियति, पञ्चहिं च रयं ठए<sup>४</sup> ॥ २ ॥

जागृत मुनि की पांचों इंद्रियां सुप्त रहती हैं, सुप्त व्यक्ति की पांचों इंद्रियां जागृत रहती हैं। सुप्त मुनि पांचों इंद्रियों से कर्मरज को ग्रहण करता है तथा जागृत मुनि इंद्रियों के माध्यम से कर्मरज<sup>५</sup> को रोकता है।<sup>६</sup>

३. सहं सोतमुवादाय, मणुण्णं वावि पावगं ।

मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा<sup>७</sup>, ण पदुस्सेज्ज<sup>८</sup> हि पावए ॥ ३ ॥

श्रोत्र के द्वारा मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द को प्राप्त करके साधक मनोज्ञ शब्दों में राग तथा अमनोज्ञ शब्दों में द्वेष न करे।

१. सर्वन्ति (अ, आ, ला, पा, स) ।

२. सोतो णिवारणं (पु) ।

३. स्रोत का अर्थ है—द्वार। यहां स्रोत शब्द से इंद्रियविषय विवक्षित हैं।

४. संयुक्तनिकाय (१/६/७) में इसकी संवादी गाथा मिलती है। यहां केवल यह उल्लेख है कि स्रोत का निवारण कैसे हो, यह पूछने पर मुनि ने कहा लेकिन संयुक्तनिकाय में प्रश्न और उत्तर दोनों से सम्बन्धित गाथाएं हैं—

कति जागरतं सुत्ता, कति सुत्तेसु जागरा ?

कतिभि रजमादेति, कतिभि परिसुज्जती ? ति ।

पञ्च जागरतं सुत्ता, पञ्च सुत्तेसु जागरा ।

पञ्चभि रजमादेति, पञ्चभि परिसुज्जती ति ॥

इन गाथाओं में केवल भाषागत अंतर है। यह शोध का विषय है कि कौन किससे प्रभावित हुआ है।

५. दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि के अनुसार आश्रवकाल में कर्म रज कहलाता है तथा बद्ध, स्पृष्ट और निकाचित अवस्था में वह मल कहलाता है। (दशअचू पृ. २२३ ; आश्रवकाले रयो, बद्धपुट्ट णिकायियं कम्मं मलो ।)

६. इसी गाथा का संवादी सूत्र आचारांग (आ ३/१) में मिलता है—सुत्ता अमुणी सया मुणिणो सया जागरन्ति—अर्थात् अज्ञानी सदा सोते हैं और ज्ञानी सदा जागते हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने वहां इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुए कहा है कि नींद लेने वाला द्रव्य सुप्त होता है। हिंसा और परिग्रह में प्रवृत्त तथा विषय और कषायों के वशीभूत होने वाला भावसुप्त कहलाता है। जो निद्रा से मुक्त है, वह द्रव्य जागृत तथा जो अहिंसा और अपरिग्रह में लीन है, सम्यग्दृष्टि, तृष्णा रहित और धर्म के प्रति उत्साहवान् है, वह भावजागृत है।

अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग एवं अप्रमाद के कारण मुनि का चित्त, मन, मस्तिष्क और सारा नाड़ी तंत्र उसके अधीन होता है, वह निद्रावस्था में भी अकरणीय कार्य नहीं करता, यही उसके सतत जागृत रहने का रहस्य है। सुप्त व्यक्ति के अज्ञान और मोहजन्य विकृति बढ़ने से उसकी पांचों इंद्रियां जागृत रहती हैं। (आभा पृ. १६३)

७. °ज्ज (पा, ब) ।

८. °ज्जा (पा) ।



४. मणुण्णम्मि अरज्जंते, अदुट्ठे इतरम्मि य।  
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोते पिहिज्जति ॥ ४ ॥

मुनि मनोज्ञ शब्दों में राग तथा अमनोज्ञ शब्दों में द्वेष नहीं करता, इस प्रकार मध्यस्थ भाव में जागृत साधक कर्म आने के प्रवाह को रोक देता है।

५. रूवं चक्खुमुवादाय, मणुण्णं वावि पावगं।  
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्ज हि पावए ॥ ५ ॥

चक्षु के द्वारा मनोज्ञ या अमनोज्ञ रूप को ग्रहण करके साधक मनोज्ञ रूप में राग और अमनोज्ञ में द्वेष न करे।

६. मणुण्णम्मि अरज्जंते, अदुट्ठे इतरम्मि य।  
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोते पिहिज्जति ॥ ६ ॥

साधक मनोज्ञ रूप में राग तथा अमनोज्ञ में द्वेष नहीं करता, इस प्रकार मध्यस्थ भाव में जागृत साधक कर्म आने के प्रवाह को रोक देता है।

७. गंधं घाणमुवादाय, मणुण्णं वावि पावगं।  
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्ज हि पावए ॥ ७ ॥

घ्राणेन्द्रिय के द्वारा मनोज्ञ या अमनोज्ञ गंध को ग्रहण करके साधक मनोज्ञ गंध में राग तथा अमनोज्ञ में द्वेष न करे।

८. मणुण्णम्मि अरज्जंते, अदुट्ठे इतरम्मि य।  
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोते पिहिज्जति ॥ ८ ॥

साधक मनोज्ञ गंध में राग तथा अमनोज्ञ में द्वेष नहीं करता, इस प्रकार मध्यस्थ भाव में जागृत साधक कर्म आने के प्रवाह को रोक देता है।

९. रसं जिब्भमुवादाय, मणुण्णं वावि पावगं।  
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्ज हि पावए ॥ ९ ॥

जिह्वा के द्वारा मनोज्ञ या अमनोज्ञ रस को ग्रहण करके साधक मनोज्ञ रस में राग तथा अमनोज्ञ में द्वेष न करे।

१०. मणुण्णम्मि अरज्जंते, अदुट्ठे इतरम्मि य।  
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोते पिहिज्जति ॥ १० ॥

साधक मनोज्ञ रस में राग तथा अमनोज्ञ में द्वेष नहीं करता, इस प्रकार मध्यस्थ भाव में जागृत साधक कर्म आने के प्रवाह को रोक देता है।

१. हस्तप्रतियों में केवल श्रोत्रेन्द्रिय विषय की दो गाथाओं का उल्लेख है। बाकी की चार इन्द्रियों से संबंधित गाथाओं का

केवल संकेत मात्र है। पूर्व गाथाओं के आधार पर उनकी पूर्ति की गई है।

११. फासं तयमुवादाय, मणुण्णं वावि पावगं।  
मणुण्णम्मि ण रज्जेज्जा, ण पदुस्सेज्ज हिं पावए ॥ ११ ॥

त्वचा के द्वारा मनोज्ञ या अमनोज्ञ स्पर्श को ग्रहण करके साधक मनोज्ञ स्पर्श में राग तथा अमनोज्ञ में द्वेष न करे।

१२. मणुण्णम्मि अरज्जंते, अदुट्ठे इतरम्मि य।  
असुत्ते अविरोधीणं, एवं सोते पिहिज्जति ॥ १२ ॥

साधक मनोज्ञ स्पर्श में राग और अमनोज्ञ में द्वेष नहीं करता, इस प्रकार मध्यस्थ भाव में जागृत साधक कर्म आने के प्रवाह को रोक देता है।

१३. दुद्धंता इंदिया पंच, संसाराय सरीरिणं।  
ते चेव णियमिता सम्मं, णेव्वाणाय भवंति हि ॥ १३ ॥

प्राणियों की पांचों दुर्दान्त इंद्रियां संसार को बढ़ाने का हेतु बनती हैं। वे ही पांचों इंद्रियां यदि सम्यक् नियंत्रित होती हैं तो निर्वाण-प्राप्ति का हेतु बन जाती हैं।<sup>१</sup>

१४. दुद्धंतेहिंदिएहऽप्पा, दुप्पहं हीरते बला।  
दुद्धंतेहिं तुरंगेहिं, सारही व महापहे ॥ १४ ॥

दुर्दान्त घोड़े जैसे सारथी को राजपथ से हटाकर उन्मार्ग में ले जाते हैं, वैसे ही दुर्दान्त—दुर्दमनीय इंद्रियां आत्मा को बलपूर्वक उत्पथ—कुमार्ग पर ले जाती हैं।

१५. इंदिएहिं सुद्धंतेहिं, ण संचरति गोयरं।  
विधेयेहिं तुरंगेहिं, सारहिव्व य संजुए<sup>३</sup> ॥ १५ ॥

जैसे विनीत घोड़े सारथी को मार्ग पर ले जाते हैं, वैसे ही सम्यक् रूप से दान्त इंद्रियां साधक को विषयों में प्रवृत्त नहीं करतीं।

१. तीसरी, पांचवीं, सातवीं, नवीं एवं ग्यारहवीं गाथा के चौथे चरण में 'हि' शब्द छंद की दृष्टि से अतिरिक्त है लेकिन सभी प्रतियों में पाठ मिलने के कारण इसको मूलपाठ में रखा है।

२. इस गाथा का संवादी सूत्र आचारांग सूत्र (४/१२) में मिलता है—जे आसवा ते परिस्सवा, जे परिस्सवा ते आसवा। जो आस्रव कर्म को आकृष्ट करने वाले हैं, वे परिस्सव—कर्म की निर्जरा करने वाले हैं। इस आलापक की व्याख्या आचार्य महाप्रज्ञ ने परिणाम, क्रिया और उपचयापचय के आधार पर की है—

\* असंबुद्ध पुरुष के लिए जितने आश्रव के हेतु हैं, संबुद्ध पुरुष के लिए उतने ही निर्जरा के हेतु हैं।

\* असंयत व्यक्ति की उठने-बैठने की जो क्रिया आस्रव के

लिए होती है, संयत व्यक्ति की वही क्रिया निर्जरा के लिए होती है।

\* तीसरी व्याख्या यहां प्रासंगिक नहीं है। (आभा ४/१२ टिप्पण पृ. २१३, २१४)

आचारांग चूर्ण में इसी गाथा का संवादी पद्य उद्धृत है—  
यथाप्रकाराः यावन्तः, संसारावेशहेतवः।

तावन्तस्तद्विपर्यासाः, निर्वाणसुखहेतवः। आचू पृ. १३८  
इन्हीं भावों की संवादी गाथा उत्तराध्ययन (३२/१००) में भी मिलती है—

एविंदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं मणुयस्स रागिणो।  
ते चेव थोवं पि कयाइ दुक्खं, न वीयरागस्स करंति किंचि ॥

३. संजए (पु)।

१६. पुव्वं मणं जिणित्ताणं, वारे विसयगोयरं ।

विवेयं<sup>१</sup> गयमारूढो, सूरु या गहितायुधो ॥ १६ ॥

पहले साधक मन को जीतकर इंद्रिय-विषयों में प्रवृत्ति को रोके, फिर शस्त्रधारी शूरवीर के समान विवेक रूपी हाथी पर आरूढ़ होकर कर्मों के साथ युद्ध करे।

१७. जित्ता मणं कसाए या, जो सम्मं कुरुते तवं ।

संदिप्यते स सुद्धप्पा, अग्गी वा हविसाऽऽहुते ॥ १७ ॥

जो साधक मन और कषायों को जीतकर सम्यक् प्रकार से तप करता है, वह शुद्धात्मा हविष—हवन योग्य पदार्थों से युक्त अग्नि के समान प्रकाशवान् होता है।

१८. सम्मत्तणिरतं धीरं, दंतकोहं जित्तिंदियं ।

देवा वि तं णमंसंति, मोक्खे चेव परायणं ॥ १८ ॥

सम्यक्त्व में निरत, धीर, उपशान्तक्रोध, जितेन्द्रिय और मोक्ष में परायण साधक को देवता भी नमस्कार करते हैं।

१९. सव्वत्थ विरते दंते, सव्ववारीहिं वारए<sup>२</sup> ।

सव्वदुक्खप्पहीणे य, सिद्धे भवति णीरए ॥ १९ ॥

सब पदार्थों से विरत, दान्त तथा सब वर्जनीय स्थानों का वर्जन करने वाला साधक समस्त दुःखों का नाश करके कर्म रज से रहित होकर सिद्ध हो जाता है।

२०. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् वर्द्धमान ऋषि) कहता हूँ।

१. विधेयं (पु) ।

२. वारिए (पु, पा), सूत्रकृतांग (१/६/२८) में भगवान् महावीर के विशेषण के रूप में 'वारिय सव्ववारी' का प्रयोग हुआ है। वहां चूर्णिकार ने 'सर्ववारी' का अर्थ सब वर्जनीयों का वर्जन करने वाला किया है तथा प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन—इन सबका संवरण करने वाले को सर्ववारी कहा है। (सूचू १ पृ. १५०; सर्वस्मादकृत्यादात्मानं शिष्यांश्च वारितवानिति सर्ववारी... विस्तार हेतु देखें सू १ पृ. २०४) ।

तीसइमं : वाउज्झयणं

तीसवां अध्ययन : वायु



## ३०. ऋषि वायु

ऋषिभाषित के तीसवें अध्ययन के उपदेष्टा ऋषि हैं—वायु। वायु ऋषि का उल्लेख आगम और उसके व्याख्या-साहित्य में देखने को नहीं मिलता। भगवान् महावीर के तीसरे गणधर का नाम वायुभूति था लेकिन उनका संशय शरीर और आत्मा के ऐक्य के बारे में था, जबकि इस अध्ययन में ऋषि जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त कर्मवाद का विवेचन कर रहे हैं। वैसे भी गणधर के रूप में यदि किसी ऋषि का उल्लेख होता तो प्रथम इंद्रभूति गौतम का होता। बौद्ध परम्परा में वायु नामक किसी ऋषि का उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत के शांतिपर्व में वायु नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है, जो बाण-शय्या पर सोए भीष्म पितामह को देखने आए थे।<sup>१</sup> इसके अतिरिक्त मङ्गलक के वीर्य से सात पुत्र उत्पन्न हुए, जो सभी ऋषि थे। इन सब ऋषियों के नाम इस प्रकार थे<sup>२</sup>— वायुवेग, वायुबल, वायुहा, वायुमण्डल, वायुज्वाल, वायुरेता, वायुचक्र आदि। लेकिन इन सब ऋषियों के साथ ऋषिभाषित के वायु ऋषि के साथ तुलना नहीं की जा सकती।

ऋषि के नाम के आगे 'सत्य संयुक्त' विशेषण उनके सत्यवादी होने की विशेषता को उजागर करता है। अध्ययन का प्रारम्भ भी ऋषि ने इसी सनातन सत्य को उजाकर करते हुए किया है कि यहां सब कुछ सत्य के अनुसार है।

कर्मवाद के सिद्धान्त को प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं कि वर्तमान में किए गए कर्मों का फल भविष्य में भोगना पड़ता है। जैसा बीज बोया जाता है, वैसे ही फल प्राप्त होते हैं। नीम का बीज बोकर व्यक्ति आम्र के फल को प्राप्त नहीं कर सकता। कर्म-फल विविध रूपों में प्राप्त होते हैं। यदि व्यक्ति कल्याणकारी कार्य करता है तो वह अपने जीवन में कल्याण को प्राप्त करता है। इसी प्रकार पाप करने वाला पाप को प्राप्त करता है। कर्म का फल कभी निरर्थक नहीं होता। उसे भविष्य में वही प्राप्त होता है, जो वह वर्तमान में कर रहा है।

ऋषि ने कर्म को प्रतिध्वनि से उपमित किया है। व्यक्ति जैसी ध्वनि करता है, वैसी ही प्रतिध्वनि सुनाई देती है। कर्म के अनुसार उसको शुभ-अशुभ फल प्राप्त होते हैं। कर्मविज्ञान को भलीभांति समझकर व्यक्ति वैसा कार्य न करे, जिससे उसे नरक आदि अधोगति में जाना पड़े। वर्तमान युग में कर्म को टेपरिकार्डर या सीडी से उपमित किया जा सकता है। टेप में व्यक्ति जैसी ध्वनि भरता है, दुबारा उसे वैसी ही ध्वनि सुनाई देती है। संक्षिप्त होते हुए भी यह अध्ययन कर्मवाद की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

१. महाभारतनामानुक्रमणिका पृ. ३०३, ३०४।

२. महा शल्य ३९/३५, ३६।



## ३०. वाउज्जयणं : वायु अध्ययन

१. अधासच्चमिणं सव्वं, वायुणा सच्चसंजुत्तेणं अरहता इसिणा बुद्धं ।

सब कुछ सत्य के अनुसार है, ऐसा सत्य-संयुक्त अर्हत् वायु ऋषि ने कहा ।

२. इध जं कीरते कम्मं, तं परतोवभुज्जती ।

मूलसेकेसु रुक्खेसु, फलं साहासु दिस्सति ॥ १ ॥

जो कर्म इस लोक में किए जाते हैं, उसका फल परलोक में भोगा जाता है । वृक्ष के मूल को सींचने पर उसकी शाखाओं पर फल दिखाई देते हैं ।

३. जारिसं वुप्पते बीयं, तारिसं भुज्जते<sup>१</sup> फलं ।

णाणासंठाणसंबद्धं, णाणासण्णाभिसण्णितं ॥ २ ॥

४. जारिसं किज्जते कम्मं, तारिसं भुज्जते फलं ।

णाणापयोगणिव्वत्तं, दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥ ३ ॥

जिस प्रकार का बीज बोया जाता है, वैसा ही फल भोगा जाता है । वह फल विविध आकृतियों एवं अनेकविध नामों से भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है । इसी प्रकार नाना प्रयोगों से निष्पन्न सुखद अथवा दुःखद जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही फल भोगा जाता है ।

५. कल्लाणा लभति कल्लाणं, पावं पावा तु पावति ।

हिंसं लभति 'हंता र'<sup>२</sup>, जइत्ता य पराजयं ॥ ४ ॥

व्यक्ति कल्याण से कल्याण तथा पाप से पाप को प्राप्त करता है । हिंसा करने वाला व्यक्ति हिंसा को प्राप्त करता है, दूसरों को जीतकर भी व्यक्ति पराजय को प्राप्त करता है ।

६. सूदणं सूदइत्ताणं, णिंदित्ता<sup>३</sup> वि य णिंदणं ।

अक्कोसइत्ता अक्कोसं, णत्थि कम्मं णिरत्थकं ॥ ५ ॥

व्यक्ति विनाश करके विनाश को, निंदा करके निंदा को तथा आक्रोश करके आक्रोश को प्राप्त करता है क्योंकि कर्म कभी निरर्थक नहीं होता ।

७. मण्णंति<sup>४</sup> भद्दकं भद्दकाइं, 'मधुराइं मधुरं मण्णेति'<sup>५</sup> ।

कडुयं 'भणियाइं कडुयं'<sup>६</sup>, फरुसं 'फरुसं ति'<sup>७</sup> मण्णति<sup>८</sup> ॥ ६ ॥

व्यक्ति भद्र को भद्र, मधुर को मधुर, कटुक को कड़वा तथा कठोर को कठोर मानता है<sup>९</sup> ।

१. बज्जए (पा) ।

२. हंतारं (पु) यहां 'र' पादपूर्ति रूप है ।

३. णिंदंता (पा) ।

४. माणंति (स), मण्णेति (पु) ।

५. मधुरं मधुरं ति माणति (अ, ला, पु) ।

६. कडुयं भणियं ति (ला, पा) ।

७. फरुसाइं (अ, पा) ।

८. माणति (पु, पा, स), मण्णेति (पु) ।

९. इस गाथा के द्वारा ऋषि क्या कहना चाहते हैं, वह तथ्य भलीभांति प्रकट नहीं हुआ है ।



८. कल्लाणं ति भणंतस्स, कल्लाणाए पडिस्सुया<sup>१</sup> ।

पावकं ति भणंतस्स, पावयाए पडिस्सुया<sup>२</sup> ॥७॥

कल्याणकारी बोलने वाले को कल्याणकारी प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। पापकारी बोलने वाले को पाप की प्रतिध्वनि सुनाई देती है।

९. पाडिस्सुयासरिसं<sup>३</sup> कम्मं, णच्चा भिक्खू सुभासुभं ।

तं कम्मं तु न सेवेज्जा, जेणं भवति णारए ॥८॥

शुभ-अशुभ कर्मों को प्रतिध्वनि के समान समझकर भिक्षु उन कर्मों का आचरण न करे, जिससे वह नरक गति को प्राप्त हो।

१०. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् वायु ऋषि) कहता हूँ।

१, २. पडिसुया (पा) ।

३. पडि° (आ, ला, पु, पा) ।

एगतीसइमं पासज्झयणं

इकतीसवां अध्ययन : पार्श्व



## ३१. ऋषि पार्श्व

इकतीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—पार्श्व। कुछ विद्वान् इनको तीर्थंकर पार्श्व से भिन्न ऋषि मानते हैं। उनके अनुसार ये तीर्थंकर पार्श्व के समय में होने वाले ऋषि हैं। लेकिन ऋषिभाषित के ये ऋषि तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व ही होने चाहिए। भगवान् पार्श्व ने चातुर्याम धर्म का प्रतिपादन किया था यहां सूत्र में भी 'चाउज्जामे णियंठे' शब्द का प्रयोग हुआ है। उन्होंने अनार्य देशों की उग्र यात्राएं भी की थीं। अनेक ग्रंथों में उनका उल्लेख एवं उनके लिए प्रयुक्त 'पुरुषादानीय' विशेषण उनके प्रभावशाली एवं आदेय व्यक्तित्व की पुष्टि करता है। भगवान् पार्श्व के पिता का नाम अश्वसेन तथा माता का नाम वामादेवी था।<sup>१</sup> भगवती सूत्र में भगवान् पार्श्व के अनुयायी एवं पार्श्वपत्नीय अनेक साधुओं का भी उल्लेख मिलता है। भगवान् महावीर के माता-पिता पार्श्वपत्नीय थे।<sup>२</sup> पार्श्वपत्नीय अनेक साधु भगवान् महावीर के संघ में प्रविष्ट हुए, यह उल्लेख भी हमें आगम-साहित्य में मिलता है। उत्तराध्ययन के तेवीसवें अध्ययन में पार्श्वपत्नीय केशी और गौतम का संवाद भी भगवान् पार्श्व की परम्परा की अनेक जानकारियां प्रस्तुत करता है। भगवान् पार्श्व को विद्वद्जगत् में ऐतिहासिक पुरुष के रूप में स्थापित करने का श्रेय डॉ. हर्मन जेकोबी को जाता है।<sup>३</sup>

जगत् के स्वरूप और सृष्टि के बारे में जानने की जिज्ञासा अनादिकालीन है। दर्शन जगत् के अहं प्रश्न हैं—लोक का स्वरूप क्या है? यह कितने प्रकार का है? इसमें कितने तत्त्व हैं? इत्यादि। भगवान् बुद्ध ने लोक शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनंत इत्यादि दश प्रकार के प्रश्नों को अव्याकृत बताते हुए कहा कि इन प्रश्नों का साधना से कोई सम्बन्ध नहीं है।<sup>४</sup> ऋषि पार्श्व ने अध्ययन का प्रारम्भ इसी दार्शनिक विवेचन से किया है। उन्होंने लोक के सम्बन्ध में अनेक जिज्ञासाओं को उठाकर उनका समाधान किया है। ऋषि पार्श्व ने लोक को शाश्वत माना है। भगवती सूत्र में भी इसका संवादी पाठ मिलता है।<sup>५</sup> लोक की शाश्वतता को सिद्ध करने में भगवती सूत्र में अण्डे और मुर्गी का उदाहरण दिया गया है। भगवान् महावीर रोहक से कहते हैं कि जैसे अण्डा और मुर्गी का पौर्वापत्य स्थापित नहीं किया जा सकता, वैसे ही यह लोक अनादि अनंत है।<sup>६</sup>

लोक के पश्चात् गति के बारे में अनेक प्रश्न और उनके समाधान दिए गए हैं। ऋषि के अनुसार जीव ऊर्ध्वगामी और पुद्गल अधोगामी होते हैं। इस बात से ऋषि संभवतः यह कहना चाहते हैं कि कर्ममुक्त शुद्ध जीव

१. आवनि २३६/१४, २३६/११।

२. आचूला १५/२५ ; समणस्स णं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा समणोवासगा यावि होत्था।

३. S. B. E Vol, XLV, Introduction of Jain Sutras, Vol. II P. 11।

४. मज्झिम १३/१-८, पृ. ५८८-९४।

५. भ ९/ २३३ ; सासए लोए जमाली ! जं न कयाइ नासि, न कयाइ न भवइ, न कयाइ न भविस्सइ—भुविं च, भवइ य, भविस्सइ य—धुवे, नितिए, सासए, अक्खए, अव्वए, अवट्टिए, निच्चे।

६. भ १/२९५।

की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व ही होती है तथा गुरुलघु पर्याय वाले पुद्गलों की अपेक्षा उनकी अधोगति होती है। फिर भी ऋषि इस सूत्र से क्या कहना चाहते हैं यह शोध का विषय है। नरक और तिर्यञ्च गति को अधोगति कहा गया है। गति के सम्बन्ध में ऋषि कहते हैं कि गति दो ही पदार्थों की होती है—जीव और अजीव। वह गति भी दो प्रकार की होती है—प्रयोग गति और विम्रसा गति। प्रायोगिक गति का अर्थ है—प्रयत्न जन्य गति तथा वैम्रसिक गति का अर्थ है—स्वाभाविक गति। गति को ऋषि ने औदयिक और पारिणामिक भाव माना है। ऋषि मानते हैं कि जीवों की गति कर्मजन्य होती है, जबकि पुद्गलों की गति परिणामजन्य है। पाठान्तर में गति के चार भेद मिलते हैं—१. द्रव्यगति २. क्षेत्रगति ३. कालगति और ४. भावगति। गति को ऋषि ने अनादि अनिधन अर्थात् अनादि अनंत माना है।

ऋषि कहते हैं कि कर्म के कारण जीव की नाना गतियों में उत्पत्ति होती है तथा परिणमन के कारण पुद्गल विविध अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। कर्म के कारण जीव उसके फल-विपाक को भोगता है तथा परिणमन की विचित्रता से पुद्गल विविध अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। अंत में कर्मशास्त्रीय रहस्य को एक वाक्य में प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं कि कषाय से आविष्ट होकर कभी भी कोई अव्याबाध सुख को प्राप्त नहीं कर सकता। जीव दो प्रकार की वेदना का वेदन करते हैं—सात और असात। प्राणातिपात आदि अठारह पापों का सेवन करके जीव असात वेदना का वेदन करते हैं तथा प्राणातिपात विरमण आदि अठारह संवर-स्थानों का सेवन करके जीव सात वेदनीय का अनुभव करते हैं।

दार्शनिक चर्चा के पश्चात् ऋषि ने विशुद्ध आचार सम्बन्धी वर्णन किया है। जो साधु निष्ठितकर्मा और अचित्तभोजी होता है, वह संसार का व्यवच्छेद करके पुनः इस संसार में आवागमन नहीं करता। सूत्र ६ में ऋषि ने 'मडाई' शब्द का प्रयोग किया है, जो विशेष अर्थ का द्योतक है। 'मडाई' की संस्कृत छाया मृतयाची की जा सकती है। इसके दो अर्थ संभव हैं—मृत की याचना करने वाला तथा मृताशी—प्रासुकभोजी। मनुस्मृति तथा अभिधान चिंतामणि कोश में भी मृत का अर्थ याचित मिलता है<sup>१</sup> अतः यहां 'मडाई' का अर्थ याचितभोजी होना चाहिए। इसी सूत्र में प्रयुक्त 'णिरुद्धपवंचे' आदि शब्दों की व्याख्या आचार्य महाप्रज्ञ ने भगवती भाष्य में विस्तार से की है। यहां साधु के लिए निरुद्धप्रपञ्च आदि पांच विशेषणों के प्रयोग हैं, जबकि भगवती में नौ शब्द प्रयुक्त हैं।<sup>२</sup>

ऋषि का मंतव्य है कि असंबुद्ध और कर्म द्वार का संवर नहीं करने वाला श्रमण अष्टविध कर्मप्रकृतियों का बंधन करता है तथा चार गतियों में उनके विपाक का अनुभव करता है। इसके विपरीत संबुद्ध और संवृतकर्मा निर्ग्रन्थ कर्मों का बंधन नहीं करता और न ही उनके विपाक का वेदन करता है।

१. मनु ४/५ ; मृतं स्याद्याचितं भैक्षम्, अभि ३/५३०; मृतं तु याचितम्, द्र. भभा १ पृ. २०६ ।

२. भभा १ सू. १३-१७ का टिप्पण पृ. २०६ ।

बीच के कुछ सूत्रों में आचार का प्रतिपादन करके ऋषि पुनः दार्शनिक चर्चा करते हुए लोक के सम्बन्ध में उपसंहार करते हुए कहते हैं कि लोक अतीत में था, वर्तमान में उसका अस्तित्व है और भविष्य में उसका अस्तित्व रहेगा। यह लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य है। इसी प्रकार धर्मास्तिकाय आदि पांच अस्तिकाय भी त्रिकाल में शाश्वत हैं।

ऋषिभाषित के प्रायः सभी अध्ययनों में प्रतियों में शब्दों के पाठान्तर मिलते हैं लेकिन इस अध्ययन में पूरे पाठ के पाठान्तर मिलते हैं। तीसरे सूत्र में जिस सूत्र को इस ग्रंथ में पाठान्तर में दिया है, डॉ. शूब्रिंग ने उसे मूल पाठ के रूप में स्वीकार किया है। मूलपाठ में गति के दो भेद स्वीकार किए हैं—प्रयोगगति और विम्रसागति। पाठान्तर में गति के चार भेद किए हैं—द्रव्यगति, क्षेत्रगति, कालगति और भावगति। पाठान्तर में जहां गतिभाव को अनादि अनिधन माना है। मूल पाठ में गतिभाव को औदायिक और पारिणामिक भाव माना है। इसी प्रकार चौथे सूत्र में भी लम्बा पाठान्तर है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि ऋषि पार्श्व ने लोकव्यवस्था एवं उसके मूल तत्त्वों के साथ गति के बारे में सारगर्भित विचार व्यक्त किए हैं।



### ३१. पासञ्जयणं : पार्श्व अध्ययन

१. के यं लोए ? कइविधे लोए ? कस्स वा लोए ? के वा लोयभावे ? केण वा अट्टेण लोए पवुच्चइं<sup>१</sup> ? का गती ? 'कतिविधा गती'<sup>२</sup> ? कस्स वा गती ? के वा गतिभावे ? केण वा अट्टेण गती पवुच्चति ? पासेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

यह लोक क्या है ? लोक कितने प्रकार का है ? यह लोक किसका है ? लोक का स्वरूप क्या है ? किस कारण से लोक कहलाता है ? गति क्या है ? गति कितने प्रकार की है ? किसकी गति होती है ? गतिभाव क्या है ? किस कारण से गति को गति कहा जाता है ? ऐसा अर्हत् पार्श्व ऋषि ने कहा ।

२. जीवा चेव अजीवा चेव । 'चउच्चिहे लोए वियाहिते—दव्वतो लोए, खेत्ततो लोए, कालतो लोए, भावतो लोए'<sup>३</sup> अत्तभावे लोए । सामित्तं पडुच्च जीवाणं लोए, निव्वित्तं<sup>४</sup> पडुच्च जीवाणं चेव अजीवाणं चेव । अणादीए अणिहणे पारिणामिए लोकभावे । लोकतीति लोको ।

लोक जीव-अजीव रूप है । लोक चार प्रकार का कहा गया है—१. द्रव्यलोक २. क्षेत्रलोक ३. काललोक ४. भावलोक ।<sup>५</sup> लोक आत्मस्वरूप में अवस्थित है । स्वामित्व की अपेक्षा से यह जीवों का लोक है और रचना की दृष्टि से जीव और अजीव—इन दोनों का लोक है । लोकभाव अर्थात् लोक का अस्तित्व, अनादि, अनंत और पारिणामिक है । दिखाई देने के कारण इसे लोक कहा जाता है ।

३. 'जीवा चेव गमणपरिणता पोग्गला चेव गमणपरिणता । दुविधा गती—पयोगगती य वीससागती य । जीवाणं चेव पोग्गलाणं चेव । ओदइयपारिणामिए गतिभावे । गम्ममाणा इति गती'<sup>६</sup>

गमन में परिणत जीव और पुद्गल को ही गति कहा गया है । गति दो प्रकार की होती है—प्रयोग गति और विम्रसा गति ।<sup>७</sup> जीव और पुद्गलों के गति होती है । औदयिक और पारिणामिक गतिभाव हैं । गमन के कारण इसे गति कहा जाता है ।

१. वुच्चइ (अ, पा) ।

२. × (पु, पा, ब) ।

३. भगवती सूत्र (२/४५) में इसका संवादी पाठ मिलता है—  
चउच्चिहे लोए पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ । वहां इन चारों की विस्तृत व्याख्या मिलती है ।

४. निव्वित्तं (अ, ला, स) ।

५. यहां लोक के द्रव्य आदि चार निक्षेप किए हैं लेकिन आवश्यक निर्युक्ति में लोक के आठ निक्षेप प्राप्त हैं—१. नामलोक २. स्थापनालोक ३. द्रव्यलोक ४. क्षेत्रलोक ५. काललोक ६. भवलोक ७. भावलोक ८. पर्यवलोक । भाष्यकार एवं टीकाकार हरिभद्र ने भावलोक और पर्यवलोक की विस्तृत व्याख्या की है । (आवनि ६८२, हाटी २ पृ. ३ )

६. तीसरे और चौथे सूत्र का पाठान्तर प्रायः सभी प्रतियों में मिलता है । मुद्रित पुस्तक में अध्ययन की समाप्ति पर मूल पाठ के साथ पाठान्तर वाले पाठ को रखा गया है । पुनरुक्ति होने के कारण हमने इसको पाठान्तर के रूप में पाद-टिप्पण में दिया है, वह इस प्रकार है—जीवाण य पुग्गलाण य गतीति आहिता । जीवाणं चेव पुग्गलाणं चेव गती दव्वतो गती, खेत्ततो गती, कालतो गती, भावतो गती । अणादीए अणिधणे गतिभावे । गम्मतीति गती ।

७. प्रयत्न जन्य होने वाली गति प्रयोगगति तथा इसके विपरीत जीव और पुद्गल की स्वभावतः होने वाली गति वैम्रसिक गति कहलाती है ।



४. 'उद्धंगामी जीवा, अधोगामी पोग्गला । कम्मप्यभवा जीवा, परिणामप्यभवा पोग्गला । कम्मं प्य फलविपाको जीवाणं, परिणामं प्य फलविपाको पोग्गलाणं । पोविमा पया कयाई अच्चाबाहसुहमेसिया कसं कसावइत्ता'<sup>२</sup> ।

ऊर्ध्वगामी जीव होते हैं, अधोगामी पुद्गल होते हैं। जीव कर्म से उत्पन्न होते हैं (कर्म के कारण उनका नाना गतियों में जन्म-मरण होता रहता है।) परिणामन के कारण पुद्गल विविध अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। कर्म को प्राप्त करके जीव उसके फल-विपाक को भोगता है। परिणामन को प्राप्त करके पुद्गल उसके फल-विपाक अर्थात् विविध अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं। इस संसार में कोई भी प्राणी कषाय से आविष्ट होकर कभी भी अव्याबाध सुख को प्राप्त नहीं कर सकता।

५. 'जीवा दुविधं वेदणं वेदेंति । पाणाइवाएणं मुसावाएणं अदिण्णादाणेणं एवं जाव मिच्छा-दंसणसल्लेणं किच्चा<sup>३</sup> 'जीवा असायं णं वेदणं वेदेंति'<sup>४</sup>, पाणातिपातवेरमणेणं जाव मिच्छादंसणवेरमणेणं किच्चा जीवा सातं<sup>५</sup> णं वेदणं वेदेंति ।

जीव दो प्रकार की वेदना का वेदन करते हैं। प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान यावत् मिथ्यादर्शन आदि पापों का सेवन करके जीव असात वेदनीय का वेदन करते हैं। प्राणातिपात विरमण यावत् मिथ्यादर्शन विरमण करके जीव सात वेदनीय का वेदन करते हैं।

६. जस्सट्टाए णिहेति<sup>६</sup>, बिहेति समुच्छिज्जस्सति<sup>७</sup> अट्टा समुच्चिट्ठिस्सति<sup>८</sup> । णिट्ठितकरणिज्जे संते<sup>९</sup> संसारमग्गा 'मडाई'<sup>१०</sup> णियंठे णिरुद्धपवंचे वोच्छिण्णसंसारे वोच्छिण्णसंसारवेदणिज्जे पहीणसंसारे पहीणसंसारवेदणिज्जे<sup>११</sup> णो पुणारवि इत्थत्थं हव्वमागच्छति ।

जीव जिसके लिए माया करता है, (जिसके प्रति स्नेह करता है) जिसके लिए भयभीत होता है, जिसको

१. वृत्तिकार ने 'कस' का अर्थ हिंसा किया है। (ऋवृ पृ. १४९)
२. उद्धंगामी जीवा, अधोगामी पोग्गला। पावकम्मकडे णं जीवाणं परिणामे, पावकम्मकडे णं पुग्गलाणं। ण कयाइ पया अदुक्खं पकासीति। अत्तकडा जीवा, किच्चा किच्चा वेदेंति, तं जहा—पाणातिवाएणं जाव परिग्गहेणं।
३. किण्णु (स)।
४. प्रतियों में इस सूत्र का खंडित पाठ मिलता है लेकिन टीकाकार के निर्देश के आधार पर हमने 'पाणाइवाएणं' से लेकर 'वेदेंति' तक के पाठ की पूर्ति की है। अन्यथा अर्थ के साथ संगति नहीं बैठती है।
५. आ और ला प्रति में प्रारंभ से लेकर यहां तक का पाठ नहीं है।
६. णिहेति (पा)।
७. समतिच्छिज्जस्सति (अ, पा, स)।
८. समुच्छि<sup>०</sup> (अ, पा)।
९. संति (अ, पा)।

१०. भगवती सूत्र की चूर्णि में 'मडाई' शब्द के दो अर्थ किए हैं—मृत की याचना करने वाला तथा मृताशी—प्रासुकभोजी (भचू २/१३)अभिधान चिन्तामणि कोश (३/५३०; मृतं तु याचितम्) तथा मनुस्मृति (४/४, ५; मृतं स्याद्याचितं भैक्षम्) में मृत का अर्थ याचित भिक्षा किया है अतः आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार 'मडाई' का अर्थ याचितभोजी होना चाहिए। विस्तार हेतु देखें भभा १ पृ. २०६)
११. भगवती सूत्र (२/१६) में इसका संवादी पाठ इस प्रकार मिलता है—मडाई णं भंते! नियंठे निरुद्धभवे निरुद्धभव-पवंचे, पहीणसंसारे, पहीणसंसारवेयणिज्जे, वोच्छिण्ण संसारे, वोच्छिण्णसंसारवेयणिज्जे...भवप्रपञ्चनिरोध, संसार व्यवच्छेद, संसारवेदनीयव्यवच्छेद, संसार-प्रहाण तथा संसार वेदनीय-प्रहाण—इन शब्दों की विस्तृत व्याख्या हेतु देखें भभा १ सू २/१३-१६ का टिप्पण पृ. २०६।

प्राप्त करता है, जिसके लिए संग्रह करता है, वह पदार्थ ही नाशकारक बन जाता है। निष्ठितकर्मा, संसारमार्ग से विरक्त, अचित्तभोजी निर्ग्रन्थ प्रपंच को रोकने वाला, संसार का छेदन करने वाला, संसार वेदनीय को व्यवच्छिन्न करने वाला, संसार को नष्ट करने वाला, संसार वेदनीय को नष्ट करने वाला होता है, वह पुनः इस संसार में आवागमन नहीं करता।

७. एस खलु असंबुद्धे असंबुडकम्मंते<sup>१</sup> चाउज्जामे णियंठे अट्टविहं कम्मगंठिं पगरेति, से य चउहिं ठाणेहिं विवागमागच्छति, तं जहा; णेरइएहिं तिरिक्खजोणिएहिं मणुस्सेहिं देवेहिं। अत्तकडा जीवा, णो परकडा, किच्चा किच्चा वेदेति, तं जहा—पाणातिवातवेरमणेणं<sup>२</sup> जाव परिग्गहवेरमणेणं।

जो असम्बुद्ध—अज्ञानी, कर्मद्वार का संवर नहीं करने वाला चातुर्याम में दीक्षित निर्ग्रन्थ आठ प्रकार की कर्मग्रंथियों का बंधन करता है, वह चार स्थानों से उसके विपाक को प्राप्त करता है—नरक गति, तिर्यञ्च योनि, मनुष्य गति तथा देवगति। जीव के शुभ-अशुभ कर्म आत्मकृत हैं, परकृत नहीं हैं। जीव स्वयं कर्मों को करके उसका फल भोगते हैं, जैसे—(प्राणातिपात, मृषावाद आदि से) प्राणातिपातविरमण यावत् परिग्रहविरमण से।

८. एस खलु संबुद्धे संबुडकम्मंते चाउज्जामे णियंठे अट्टविहं कम्मगंठिं णो पकरेति, से य चउहिं ठाणेहिं णो विपाकमागच्छति, तं जहा; णेरइएहिं तिरिक्खजोणिएहिं मणुस्सेहिं देवेहिं।

वह सम्बुद्ध और संवृतकर्मा चातुर्याम धर्म में दीक्षित निर्ग्रन्थ अष्टविध कर्मग्रंथि का बंधन नहीं करता, वह चार स्थानों से कर्म-विपाक का वेदन नहीं करता, जैसे—नरकगति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति और देवगति।

९. लोए ण कयाइ णासी, ण कयाइ ण भवति, ण कयाइ ण भविस्सति, भुविं च भवति य भविस्सति य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्टिए निच्चे।<sup>३</sup>

यह लोक कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, यह लोक कभी नहीं है, ऐसा नहीं है तथा यह लोक कभी नहीं होगा, यह भी नहीं है। लोक पहले था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा। यह लोक ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य<sup>४</sup> है।<sup>५</sup>

१. असंबुडे<sup>०</sup> (पा)।

२. यहां प्राणातिपात के साथ विरमण शब्द पूर्व संदर्भ के साथ उपयुक्त नहीं बैठता है। ऐसा संभव लगता है कि यहां बीच का कुछ पाठ लुप्त हो गया है, जो विरमण के साथ जुड़ने वाला था। टीकाकार ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है। (ऋवृ पृ १४९) वस्तुतः यह पाठ आठवें सूत्र के अंत में जुड़ना चाहिए।

३. द्र. भ. ९/२३३।

४. ध्रुव आदि छहों शब्द ध्रुवता के द्योतक हैं। एकार्थक होते हुए भी इनका शब्दगत अर्थभेद भगवती टीका के आधार पर इस प्रकार है—

\* ध्रुव—अचल।

\* नित्य—सदा एक रूप रहने वाला।

\* शाश्वत—प्रतिक्षण अस्तित्व में रहने वाला।

\* अक्षय—अविनाशी।

\* अव्यय—एक भी प्रदेश का जिसमें व्यय नहीं होता।

\* अवस्थित—अनंत पर्यायों की अवस्थिति। (भटी प. ११९)

५. भगवती सूत्र के प्रथम शतक में रोह और भगवान् महावीर की लम्बी चर्चा में भगवान् ने लोक और अलोक—दोनों को शाश्वत भाव के रूप में प्ररूपित किया है। (भ १/२९०)

१०. से जहानामए पंच अत्थिकाया 'ण' कयाइ णासी, ण कयाइ ण भवति, न कयाइ ण भविस्सति, भुविं च, भवति य भविस्सति य, धुवा णितिया सासया अक्खया अव्वया अवट्टिया'<sup>२</sup> एवामेव 'लोके वि ण कयाइ णासी जाव णिच्चे।'<sup>३</sup>

पंच अस्तिकाय कभी नहीं थे, ऐसा नहीं है, अस्तिकाय कभी नहीं हैं, ऐसा नहीं है तथा ये कभी नहीं होंगे, यह भी नहीं है। ये ध्रुव, नियत, शाश्वत, अक्षय, अव्यय, अवस्थित और नित्य हैं। इसी प्रकार लोक भी कभी नहीं था, ऐसा नहीं है, यावत् नित्य है।

११. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् पार्श्व ऋषि) कहता हूँ।

१. भगवती सूत्र ( २/१२५-२९ ) में पांच अस्तिकायों की शाश्वतता के लिए निम्न संवादी पाठ मिलता है—कालओ न कयाइ न आसि, न कयाइ नत्थि, न कयाइ न भविस्सइ—भविंसु य, भवति य, भविस्सइ य—धुवे, णियए, सासए, अक्खए,

अव्वए, अवट्टिए, णिच्चे।

२. पा प्रति में 'ण कयाइ' में 'अवट्टिया' पाठ के स्थान पर 'जाव' का उल्लेख है।

३. × (स)।

बत्तीसइमं पिंगज्झयणं

बत्तीसवां अध्ययन : पिंग



## ३२. ऋषि पिंग

ऋषिभाषित के बत्तीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि का नाम है—पिंग। इनके लिए ऋषिभाषित में ब्राह्मण परिव्राजक विशेषण का उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट है कि ये ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित थे। महाभारत के आदिपुराण में पिंगल नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है और इन्हें वेद का पारगामी ब्राह्मण माना है। ये जनमेजय के सर्पछत्र में अध्वर्यु थे।<sup>१</sup> यह शोध का विषय है कि कहीं ये ही ऋषिभाषित के पिंग ऋषि तो नहीं हैं? बौद्ध साहित्य में पिंगी एवं पिंगियानी का उल्लेख मिलता है। स्थानांग सूत्र में कौत्स गोत्र के सात प्रकारों में तीसरा है—पिंगलायन।<sup>२</sup> संभव है पिंग ऋषि की परम्परा में यह गोत्र चला हो लेकिन इस संदर्भ में अभी खोज की अपेक्षा है। कौषीतकि उपनिषद् में पैङ्गय नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है।<sup>३</sup> भगवती सूत्र में पिंगल नामक श्रावक संन्यासी का वर्णन है लेकिन इन सबके साथ पिंग ऋषि का सम्बन्ध स्थापित करना शोध का विषय है।

यद्यपि पिंग ऋषि परम्परा से ब्राह्मण परिव्राजक थे लेकिन अध्ययन को पढ़कर ऐसा लगता है कि ये बाद में श्रमण परम्परा से प्रभावित हो गए। इसका सबसे बड़ा हेतु है कि उन्होंने अंतिम गाथा में स्पष्ट रूप से कहा है कि प्राणियों के प्रति दया से युक्त इस खेती को करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—सभी सिद्धि गति को प्राप्त हो जाते हैं। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में आज यह नहीं कहा जा सकता है कि ये बौद्ध दर्शन से प्रभावित हुए या निर्ग्रन्थ प्रवचन से। डॉ. सागरमलजी जैन सुत्तनिपात<sup>४</sup> में उल्लिखित बाबरी के १६ शिष्यों में महर्षि पिंगीय (पैङ्गय) की ऋषिभाषित के पिंग ऋषि से तुलना करते हैं।<sup>५</sup> प्रो. सी. एस. उपासक ने बौद्ध साहित्य में उल्लिखित पिंगी और पिंगियानी को ऋषिभाषित में उल्लिखित पिंग ऋषि से भिन्न माना है।<sup>६</sup>

ऋषि ने इस अध्ययन में दिव्य कृषि करने की प्रेरणा दी है। अध्ययन में प्रश्न उपस्थित किया गया है कि खेत क्या है? बीज क्या है? जुआ युक्त हल क्या है? तुम्हारे बैल भी मैं नहीं देख रहा हूँ, फिर तुम्हारी खेती कैसे होती है? ऐसा संभव लगता है कि दिव्य खेती की प्रेरणा देने पर किसी जिज्ञासु ने ऋषि के समक्ष ये प्रश्न उपस्थित किए हैं। ऋषि उत्तर देते हुए कहते हैं कि आत्मा खेत है, तप बीज है, संयम जुआ युक्त हल है। अहिंसा और समिति जोतने योग्य बैल हैं, यह आध्यात्मिक खेती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि ने सोच-समझकर कृषि के उपकरणों को आध्यात्मिक रूप प्रदान किया है। ऋषि कहते हैं कि अलुब्ध व्यक्ति ही इस खेती को कर सकता है। यह खेती अत्यन्त शुभ, पवित्र और परलोक में सुख देने वाली है। इस खेती को करके ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और

१. महा आदि ५३/६-१०।

२. ठाणं ७/३४।

३. कौषी २/१/१२ पृ. १५।

४. सुत्तनि ५/३१-३४।

५. ऋषि पृ. ७७।

६. Aspects of Jainology Vol III English Section P. 72।

शूद्र भी सिद्ध हो जाते हैं।

सुत्तनिपात उरगवर्ग के कृषिभारद्वाज सूत्र<sup>१</sup> में भी आध्यात्मिक खेती का वर्णन मिलता है। सुत्तनिपात के अनुसार भगवान् बुद्ध मगधदेश के ब्राह्मणग्राम में विराजित थे। उस समय कृषिभारद्वाज अपने ५०० हलों के द्वारा खेत में बीज वपन कर रहा था। भगवान् वहां भिक्षार्थ गए। कृषिभारद्वाज बुद्ध से बोला—‘मैं कृषिकर्म के सहारे अपना जीवन-यापन करता हूँ। तुम भी कहीं खेत में कृषिकर्म करके जीवन-यापन करो।’ बुद्ध ने कहा—‘‘मैं भी कृषिकर्म के द्वारा अपना जीवन-यापन करता हूँ।’’ इस प्रसंग में बुद्ध ने आध्यात्मिक खेती का वर्णन किया। ऋषिभाषित के छब्बीसवें मातङ्ग अध्ययन में विस्तार से आध्यात्मिक कृषि के उपकरणों का उल्लेख है। यहां पिंग ऋषि ने संक्षेप में खेती का वर्णन किया है। विस्तार हेतु देखें इसी ग्रंथ का ऋषि मातंग पृ. २१५।

---

१. सुत्तनि. १/७६-८०।

## ३२. पिंगञ्जयणं : पिंग अध्ययन

१. दिव्वं भो! किसिं किसेज्जा<sup>१</sup>, णो अप्पिणेज्जा, पिंगेण माहणपरिव्वायगेणं अरहता इसिणा बुइतं।

भो मुमुक्षु ! दिव्य खेती करो, उसे छोड़ो मत, ऐसा माहण परिव्राजक अर्हत् पिंग ऋषि ने कहा।

२. कतो छेत्तं? कतो बीयं? कतो ते जूयणंगलं<sup>२</sup> ?

गोणा वि ते ण पस्सामि, अज्जो! का णाम ते किसी ? ॥ १ ॥

हे आर्य ! तुम्हारा खेत क्या है ? बीज क्या है ? जुआ युक्त हल क्या है ? तुम्हारे बैल भी मैं नहीं देख रहा हूँ फिर तुम्हारी कैसी कृषि ?

३. आता<sup>३</sup> छेत्तं तवो बीयं, संजमो जुयणंगलं।

अहिंसा समिती जोज्जा, एसा धम्मंतरा किसी ॥ २ ॥

आत्मा खेत है, तप बीज है, संयम जुआ युक्त हल है। अहिंसा और समिति जोतने योग्य बैल हैं, यह आध्यात्मिक खेती है।<sup>४</sup>

४. एसा किसी सोभतरा, अलुद्धस्स वियाहिता।

एसा बहुसई<sup>५</sup> होति, परलोकसुहावहा ॥ ३ ॥

यह खेती अत्यन्त शुभ है। अलोभी व्यक्ति के लिए यह खेती कही गयी है। यह खेती बहुत धान्य वाली एवं परलोक में सुख देने वाली है।

५. एयं किसिं<sup>६</sup> कसित्ताणं, सव्वसत्तदयावहं।

माहणे खत्तिए वेस्से<sup>७</sup>, सुद्धे वावि य सिज्झती ॥ ४ ॥

सब प्राणियों के प्रति दया से युक्त इस खेती को करके माहण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी सिद्ध हो जाते हैं।

६. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् माहण परिव्राजक पिंग ऋषि) कहता हूँ।

१. कसेज्जा (आ, ला, पा)।

२. जुगं (अ, ब), ंणंगला (अ, स), जुअणंगलं (हे)।

३. अत्ता (पा)।

४. आध्यात्मिक खेती के तुलनात्मक संदर्भ हेतु देखें

मातङ्ग पृ. २१७, २१८।

५. 'सुई (अ, मु, ला), वृत्तिकार ने बहुसती का अर्थ अतिसाध्वी

अर्थात् बहुत अच्छी किया है (ऋवृ पृ. १५०) लेकिन यहां

बहुत धान्य वाली अर्थ होना चाहिए क्योंकि निशीथचूर्ण (भा.

१ पृ. १०२) में भी 'बहुसइ त्ति बहुधण्णकारी' पाठ मिलता है।

६. कसिं (पा)।

७. वेसे (पा)।





तेत्तीसइमं अरुणज्झयणं

तैत्तीसवां अध्ययन : अरुण



### ३३. ऋषि महाशालपुत्र अरुण

ऋषिभाषित के तेतीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—महाशालपुत्र अरुण। आगम एवं उसके व्याख्या-साहित्य में अरुण नामक ऋषि का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता। बौद्ध परम्परा में अरुण नाम से पांच व्यक्तियों का उल्लेख है लेकिन उनकी ऋषिभाषित के ऋषि के साथ संगति बिठाना कठिन है। मूलतः ये वैदिक परम्परा से सम्बन्धित ऋषि होने चाहिए। डॉ. शूब्रिंग ने इन्हें उपनिषद्कालीन ऋषि मानते हुए इनका सम्बन्ध आरुणि से जोड़ा है लेकिन डॉ. सागरमलजी जैन ने इस मान्यता का खंडन किया है।<sup>१</sup> उनके अनुसार महाशालपुत्र अरुण आरुणि उद्दालक के पिता एवं गुरु होने चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार इनका पूरा नाम अरुण औपवेशि गौतम था।<sup>२</sup> गौतम शब्द उनके गोत्र का वाचक होना चाहिए। यहां डॉ. सागरमलजी जैन का मत संगत प्रतीत होता है।

अध्ययन का प्रारम्भ ऋषि ने बाल (मूर्ख) और पंडित के लक्षणों से किया है। ज्ञानी और पंडित की पहचान चेहरे से नहीं बल्कि उसकी वाणी और कर्म से होती है। ऋषि कहते हैं कि कर्म और वाणी के मिथ्या प्रयोग से व्यक्ति अज्ञानी तथा कर्म और वाणी के सम्यक् प्रयोग से वह ज्ञानी जाना जाता है। असभ्य वाणी और दुष्कृत कर्म से व्यक्ति योगक्षेम का वहन नहीं कर सकता। इसके विपरीत सुभाषित वचन और सुकृत कर्म से वह समय पर बरसने वाले मेघ की भांति सर्वत्र यश को प्राप्त करता है। ऋषि प्रेरणा देते हैं कि अज्ञानी के साथ संसर्ग, संस्तव तथा धर्म और अधर्म का चिंतन भी नहीं करना चाहिए। उनके साथ संसर्ग करने से इस लोक में अपकीर्ति और परलोक में दुर्गति होती है। सज्जन के साथ संगति और संस्तव करने से इस लोक में कीर्ति तथा परलोक में सद्गति की प्राप्ति होती है।

सत्संगति के लाभ और कुसंगति से होने वाली हानियों के बारे में अनेक आचार्यों ने अपने विचार व्यक्त किए हैं।<sup>३</sup> महावीर के अनुसार एकान्त सुख-प्राप्ति का एक मार्ग है—दूर से ही अज्ञानी व्यक्ति की संगति का वर्जन।<sup>४</sup> यदि निपुण सहायक न मिले तो अपने से अधिक गुणवान् व्यक्ति की संगति करनी चाहिए। यदि वह भी प्राप्त न हो तो कम से कम गुणों में समान की संगति करनी चाहिए। यदि वह भी न मिले तो पापों का वर्जन करते हुए एकाकी विचरण करना चाहिए।<sup>५</sup> लेकिन अज्ञानी के साथ संसर्ग, हास्य अथवा क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए।<sup>६</sup>

विषय को मोड़ देते हुए ऋषि कहते हैं कि धन का अर्जन अथवा दान एक दिन खत्म हो सकता है

१. ऋषि पृ. ७८।

२. बृहदा ६/५/३।

३. आगम ९२-९८।

४. उ. ३२/३ ; विवज्जणा बालजणस्स दूरा।

५. उ ३२/५ ;

न वा लभेज्जा निउणं सहायं, गुणाहियं वा गुणओ समं वा।

एवको वि पावाइं विवज्जयंतो, विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो।।।

६. उ १/९ ; खुडुहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जे।

लेकिन सद्धर्म वाक्य रूप जल का दान अक्षय और अमृत के समान है। इससे मनुष्य का मानस शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है। दुर्मित्र और अच्छे मित्र की भेदरेखा खींचते हुए ऋषि कहते हैं कि वक्र स्वभाव से विवश होकर सावद्य कार्य करने वाले को दुर्मित्र तथा सम्यक्त्व में रत, धीर और सावद्य का वर्जन करने वाले को सुमित्र जानकर उसकी संगति करनी चाहिए।

‘संसर्गजा दोष-गुणा भवन्ति’ इस उक्ति के अनुसार संसर्ग के कारण सारी नदियों का मीठा पानी समुद्र की संगति से खारा हो जाता है। इसी प्रकार विविध वर्ण वाले पक्षी यदि सुमेरू पर्वत का आश्रय लेते हैं तो उसके संसर्ग से वे स्वर्णिम आभा वाले हो जाते हैं।

अंत में ऋषि ने मिथिलाधिप राजा संजय का उदाहरण प्रस्तुत किया है, कल्याणमित्र के संसर्ग से जिनके जीवन में बदलाव आया और वे स्वर्ग को प्राप्त हुए। यहां विमर्शनीय बिंदु यह है कि ये राजा संजय कौन हैं? उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन में वर्णित राजा संजय कांपिल्य के राजा थे। प्रसंग को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि ये उत्तराध्ययन में वर्णित राजा संजय ही होने चाहिए क्योंकि ये गर्दभालि मुनि की संगति से हिंसा से विरत हुए और उनके जीवन में नया मोड़ आया। उत्तराध्ययन के राजा संजय प्रव्रजित हुए, जबकि यहां राज्य का भोग करके स्वर्गस्थ हुए, यह उल्लेख मिलता है। यहां राजा संजय के प्रव्रजित होने का संकेत नहीं है। यह शोध का विषय है कि ऋषि अरुण के द्वारा निर्दिष्ट राजा संजय उत्तराध्ययन के राजा संजय हैं अथवा भिन्न हैं? भिन्न हैं तो वे किससे प्रेरित हुए? अंतिम गाथा में प्रयुक्त ‘कल्याणमित्र’ शब्द विशेष अर्थ का द्योतक है। जो मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करके जीवन में नया मोड़ प्रस्तुत करे, वह कल्याणमित्र होना चाहिए।

### ३३. अरुणज्झयणं : अरुण अध्ययन

१. दोहिं ठाणेहिं बालं जाणेज्जा, दोहिं ठाणेहिं पंडितं जाणेज्जा—सम्मामिच्छापओएणं कम्मुणा भासणेण य ।

दो स्थानों से व्यक्ति बाल—अज्ञानी जाना जाता है—कर्म और वाणी के मिथ्या प्रयोग से। दो स्थानों से पंडित—ज्ञानी जाना जाता है—कर्म और वाणी के सम्यक् प्रयोग से।

२. दुभासियाए भासाए, दुक्कडेण य कम्मुणा ।

बालमेतं विजाणेज्जा, कज्जाकज्जविणिच्छए ॥ १ ॥

कर्तव्य और अकर्तव्य के विनिश्चय में असभ्य भाषा और दुष्कृत कर्म से व्यक्ति को अज्ञानी जानना चाहिए।

३. सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मुणा ।

पंडितं तं विजाणेज्जा, धम्माधम्मं विणिच्छए ॥ २ ॥

धर्म और अधर्म के विनिश्चय में सभ्य भाषा और सुकृत कर्म के द्वारा व्यक्ति को पंडित जानना चाहिए।

४. दुभासियाए भासाए, दुक्कडेण य कम्मुणा ।

जोगक्खेमं वहंतं तु, उसु वाया व सिंचती ॥ ३ ॥

जो असभ्य वाणी और दुष्कृत कर्म से योगक्षेम<sup>१</sup> (अप्राप्त की प्राप्ति और प्राप्त का संरक्षण) का वहन करता है, वह वायु से ईख का सिंचन करता है।

५. सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मुणा ।

पज्जण्णे कालवासी व, जसं तु अभिगच्छति ॥ ४ ॥

सुभाषित वचन और सुकृत कर्म से व्यक्ति समय पर बरसने वाले मेघ के समान यश को प्राप्त करता है।

६. णेव बालेहिं संसग्गिं, णेव बालेहिं संथवं ।

धम्माधम्मं च बालेहिं, णेव कुज्जा कयाइ वि ॥ ५ ॥

अज्ञानी व्यक्तियों के साथ संसर्ग और संस्तव नहीं करना चाहिए। अज्ञानियों के साथ धर्म और अधर्म का चिंतन भी कभी नहीं करना चाहिए।

७. इहेवाकित्ति पावेहिं, पेच्चा<sup>२</sup> गच्छति दोग्गतिं ।

तम्हा बालेहिं संसग्गिं, णेव कुज्जा कयाइ वि ॥ ६ ॥

अज्ञानी व्यक्तियों के साथ संसर्ग करने से इस लोक में अपकीर्ति और परलोक में दुर्गति की प्राप्ति होती है इसलिए उनके साथ कभी संसर्ग नहीं करना चाहिए।

१. यहां योगक्षेम का तात्पर्य होना चाहिए, अध्यात्म की उन अवस्थाओं को प्राप्त करना, जो आज तक प्राप्त नहीं थीं और जो प्राप्त हैं, उनका सम्यक् संरक्षण। गीता ९/२२ में भी योगक्षेम शब्द का प्रयोग हुआ है।

२. पच्छा (अ), चच्चा (पा)।

८. साहूहिं संगमं कुज्जा, साहूहिं चेव संथवं ।  
धम्माधम्मं च साहूहिं, सदा कुव्वेज्ज पंडिते ॥ ७ ॥

पंडित व्यक्तियों को सज्जन के साथ संगम और संस्तव करना चाहिए। धर्म और अधर्म का चिंतन भी सदा सज्जनों के साथ करना चाहिए।

९. इहेव कित्तिं पाउणति, पेच्चा गच्छति सोग्गतिं ।  
तम्हा साधूहि संसग्गिं, सदा कुव्वेज्ज पंडिते ॥ ८ ॥

सज्जनों की संगति करने वाला इस लोक में कीर्ति तथा परलोक में सद्गति को प्राप्त करता है इसलिए पंडित व्यक्ति को सदा सज्जन पुरुषों की संगति करनी चाहिए।

१०. खइणं पमाणं वत्तं च, देज्जा अज्जतिं जो धणं ।  
सद्धम्मवक्कदाणं तु, अक्खयं अमत्तं मतं ॥ ९ ॥

जो व्यक्ति धन का अर्जन करता है अथवा प्राप्त धन का दान देता है, वह अर्जन अथवा दान स्पष्ट रूप से क्षय को प्राप्त होने वाला तथा परिमित है। सद्धर्म वाक्य का दान अक्षय और अमृत के समान माना गया है।

११. पुण्णं तित्थमुवागम्मं, पेच्चा भोज्जाहि तं फलं ।  
सद्धम्मवारिदाणेणं, खिप्पं सुज्झति माणसं ॥ १० ॥

पुण्य तीर्थ को प्राप्त करके परलोक में उसका फल भोगा जाता है। सद्धर्म रूपी जलदान से मनुष्य का मानस शीघ्र ही शुद्ध हो जाता है।

१२. सग्भाववक्कविवसं, सावज्जारंभकारकं ।  
दुम्मित्तं तं विजाणेज्जा, उभओ लोगविणासणं ॥ ११ ॥

जो व्यक्ति अपने वक्र स्वभाव से विवश होकर सावद्य कार्य (पापकारी प्रवृत्ति) करता है, उसको दुर्मित्र जानना चाहिए, वह दोनों लोकों को बिगाड़ने वाला होता है।

१३. सम्मत्तणिरत्तं धीरं, सावज्जारंभवज्जकं ।  
तं मित्तं सुट्ठु सेवेज्जा, उभओ लोकसुहावहं ॥ १२ ॥

सम्यक्त्व में निरत, धीर और सावद्य कार्यो का वर्जन करने वाले को मित्र जानकर उसकी संगति करनी चाहिए, जो दोनों लोकों के लिए सुखप्रद होता है।

१४. संसग्गतो पसूयंति, दोसा वा जइ वा गुणा ।  
वाततो मारुतस्सेव, ते ते गंधा सुहावहा ॥ १३ ॥

संसर्ग से ही गुण और दोष पैदा होते हैं। मरुआ (सुगंधित वृक्ष विशेष) का स्पर्श करके बहने वाली वायु से जो सुगंध फैलती है, वह सुखदायी होती है।

१. अच्चीति (ब, स) ।

२. तत्थं (पा) ।

३. पच्छा (पा) ।

४. माणुसं (पा, ला) ।

५. सग्भावं विक्कं (हे) ।

१५. संपुण्णवाहिणीओ वि, आवन्ना<sup>१</sup> लवणोदधिं ।  
पप्पा खिप्पं तु सव्वा वि, पावन्ति लवणत्तणं ॥ १४ ॥

सभी नदियां लवणोदधि को प्राप्त करके शीघ्र ही लवणत्व को प्राप्त कर लेती हैं अर्थात् उनका मधुर जल भी खारा हो जाता है ।

१६. समस्सिता गिरिं मेरुं, णाणावण्णा वि पक्खिण्णो ।  
सव्वे हेमप्पभा होंति, तस्स सेलस्स सो गुणो ॥ १५ ॥

नाना वर्ण वाले पक्षी भी जब सुमेरु पर्वत का आश्रय लेते हैं तो वे सारे स्वर्णिम आभा वाले हो जाते हैं, यह उस सुमेरु पर्वत की विशेषता है ।

१७. कल्लाणमित्तसंसर्गिं<sup>२</sup>, संजओ मिहिलाधिवो ।  
फीतं महितलं भोच्चा, तम्मूलाकं दिवं गतो ॥ १६ ॥  
अरुणेण महासालपुत्तेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

कल्याणमित्र के संसर्ग से मिथिला का अधिपति संजय<sup>३</sup> विशाल पृथ्वी का भोग भोगकर देवलोक में गया, ऐसा अर्हत् महाशालपुत्र अरुण ऋषि ने कहा ।

१८. सम्मत्तं च अहिंसं च, सम्मं णच्चा जित्तिंदिए ।  
कल्लाणमित्तसंसर्गिं, सदा कुव्वेज्ज पंडिते ॥ १७ ॥

जितेन्द्रिय और पंडित व्यक्ति सम्यक्त्व और अहिंसा को भलीभांति जानकर सदा कल्याणमित्र का संसर्ग करे ।

१९. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् महाशालपुत्र अरुण ऋषि) कहता हूँ ।

१. आवन्न (अ) ।

२. °णमेत्त°(स) ।

३. यहां मिथिला के राजा संजय का उल्लेख है । उत्तराध्ययन के अट्टारहवें अध्ययन में वर्णित राजा संजय कांपिल्य नगर का राजा था । यद्यपि यहां कथा का संकेत नहीं है लेकिन कल्याण-मित्र के संसर्ग से राजा संजय स्वर्ग में गया, इस उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि राजा संजय उत्तराध्ययन में वर्णित संजय ही

होना चाहिए क्योंकि जब वह शिकार करने गया तो उसने अनेक मृगों को मार दिया । बाद में जब गर्दभालि मुनि को देखा तो उसके मन में अनुताप होने लगा । मुनि ने उसे हिंसा के दुष्परिणाम तथा जीवन की अनित्यता का बोध दिया । मुनि के उपदेश से वह विरक्त होकर दीक्षित बन गया । यहां राजा संजय के दीक्षित होने का संकेत नहीं है इसलिए विमर्श का बिन्दु यह है कि ये मिथिलाधिप संजय कौन थे और किससे प्रेरित हुए ?





चउतीसइमं इसिगिरिज्झयणं

चौंतीसवां अध्ययन : ऋषिगिरि



## ३४. ऋषि ऋषिगिरि

ऋषिभाषित के चौंतीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि का नाम है—ऋषिगिरि। इनके लिए ऋषिभाषित में ब्राह्मण परिव्राजक का उल्लेख हुआ है। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि ये वैदिक परम्परा के परिव्राजक ऋषि थे। ऋषिगिरि के जीवन के बारे में तीनों परम्पराओं में विशेष उल्लेख नहीं मिलता। थेरगाथा में ऋषिदत्त नामक दो स्थविरों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने अर्हत् पद प्राप्त किया था।<sup>१</sup>

ऋषिगिरि ने अपने उपदेश में दार्शनिक चर्चा न करके धृतिबल और विधायकभाव बढ़ाने के सूत्र प्रस्तुत किए हैं। उन्होंने अज्ञानी लोगों के द्वारा दिए गए कष्ट एवं प्रतिकूल परिस्थितियों को समता के किस आलम्बन से सहन किया जाए, इस बात की मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रेरणा दी है। इन सूत्रों को सामने रखकर व्यक्ति हर विकट परिस्थिति में संतुलित और प्रसन्न रह सकता है। ऋषि ने उपसर्ग और परीषह को सहने के पांच स्थान बताए हैं—

१. यदि कोई अज्ञानी परोक्ष में किसी के लिए कठोर भाषा का प्रयोग करे तो पंडित पुरुष उसे अधिमान देते हुए यह सोचे कि यह व्यक्ति परोक्ष में कठोर वचन का प्रयोग कर रहा है, प्रत्यक्ष में तो नहीं कर रहा। यह अज्ञान के कारण ऐसा कर रहा है अतः मुझे इसे सम्यक् सहन करना चाहिए।
२. यदि अज्ञानी व्यक्ति प्रत्यक्ष में कठोरभाषा बोले तो पंडित पुरुष उसे अधिमान देते हुए यह चिन्तन करे कि यह मोहमुग्ध प्रत्यक्ष में कठोर वचन का प्रयोग कर रहा है। दण्ड, लाठी आदि से हनन तो नहीं कर रहा तथा तर्जना, ताड़ना, अपद्रावण आदि तो नहीं कर रहा, यह सोचकर पंडित उस स्थिति को सहन करे।
३. तीसरे स्थान में दंड, मुष्टि आदि के द्वारा ताड़ना देने पर पंडित व्यक्ति यह चिन्तन करे कि यह व्यक्ति दंड, मुष्टि आदि से ही ताड़ना दे रहा है, किसी शस्त्र से मेरे अवयव का छेदन-भेदन तो नहीं कर रहा। यह सोचकर पंडित व्यक्ति उस स्थिति को सहन करे।
४. चौथे स्थान में शस्त्र आदि के द्वारा छेदन-भेदन करने पर पंडित व्यक्ति अज्ञानी व्यक्ति को अधिमान देता हुआ चिन्तन करे कि यह अज्ञानी व्यक्ति मेरे शरीर का शस्त्र आदि के द्वारा छेदन-भेदन कर रहा है, प्राणघात तो नहीं कर रहा, यह सोचकर वह उस परिस्थिति को सहन करे।
५. पांचवें स्थान में प्राणघात करने की स्थिति उत्पन्न करने पर पंडित व्यक्ति सोचे कि यह अज्ञानी मेरे जीवन का अंत ही कर रहा है, मुझे धर्म से भ्रष्ट तो नहीं कर रहा अतः मुझे इसे सम्यक् सहन करना चाहिए।

ठाणं सूत्र में भी भगवान् महावीर ने कष्ट या उपसर्गों को सहन करने के पांच स्थान बताए हैं। यद्यपि ऋषिभाषित के साथ इनका साम्य नहीं है फिर भी यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर ने सूक्ष्म रूप से

१. थेरगाथा १/१२० पृ. ५१, ३/१५४ पृ. ७१।

कर्मवाद के सिद्धान्त के आधार पर सहन करने की बात कही है। ऋषि ऋषिगिरि ने जहां परिस्थितियों का क्रमिक विकास बताकर विधायक सोच के द्वारा उसे सहन करने की बात कही है, वहां महावीर ने सभी प्रतिकूल परिस्थितियों को किस आलम्बन से सहन किया जाए, वे सूत्र बताएं हैं। इन पांच आलम्बन-सूत्रों से किसी एक आलम्बन को आधार बनाकर भी व्यक्ति पुरुषकृत विषम परिस्थितियों को सहन कर सकता है। वे पांच स्थान इस प्रकार हैं—

१. यह आक्रुष्ट व्यक्ति उदीर्णकर्मा है इसलिए उन्मत्त होकर मुझ पर आक्रोश करता है, गाली देता है, बांधता है, पीटता है, अंग-विच्छेद करता है अतः मुझे इससे अप्रभावित रहना चाहिए।
२. यह पुरुष यक्षाविष्ट है इसलिए मुझ पर आक्रोश आदि करता है अतः मुझे सहन करके इससे अप्रभावित रहना चाहिए।
३. इस जन्म में मेरे वेदनीय कर्म उदय में आए हैं इसलिए यह व्यक्ति मुझ पर आक्रुष्ट हो रहा है, यह सोचकर व्यक्ति उस परिस्थिति से अप्रभावित रहे।
४. यदि मैं इस प्रतिकूल परिस्थिति को अविचल भाव से सहन नहीं करूंगा तो मेरे एकान्त पाप का संचय होगा।
५. यदि मैं इस विषम परिस्थिति को अविचल भाव से सहन करूंगा तो मेरे एकान्त निर्जरा होगी, यह सोचकर व्यक्ति उस परिस्थिति से अप्रभावित रहे।<sup>१</sup>

भगवान् बुद्ध से सम्बन्धित घटना-प्रसंग भी ऋषि के विचारों का संवादी है। भगवान् बुद्ध से शिष्य ने अनार्य देश में जाने की आज्ञा मांगी। भगवान् ने कहा—अनार्य तुम्हें गाली देंगे तो तुम क्या करोगे? शिष्य ने कहा—मैं समझूंगा कि ये गाली ही देते हैं, लाठी से प्रहार तो नहीं करते। बुद्ध ने पूछा—“यदि डंडे से प्रहार किया तो क्या करोगे?” शिष्य ने विनत स्वरों में उत्तर दिया—“मैं समझूंगा कि डंडे से ही प्रहार किया है, शस्त्र से तो नहीं किया। बुद्ध ने पुनः पूछा—“शस्त्र से प्रहार करने पर क्या करोगे?” शिष्य ने प्रत्युत्तर दिया—“मैं समझूंगा कि शस्त्र से ही प्रहार किया है, मेरे प्राण तो नहीं लिए।” बुद्ध ने अंतिम प्रश्न पूछा—“यदि प्राणघात कर देंगे तो क्या करोगे?” शिष्य ने कहा—“मुझे आत्महत्या के पाप से बचाया, धर्म से विमुख तो नहीं किया।”

आगे के श्लोकों में ऋषि सहन करने के सूत्र प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पंडित पुरुष को हर परिस्थिति में स्वयं को प्रसन्न रखना चाहिए। सहन करने से अज्ञानी व्यक्ति द्वारा उत्पन्न द्वेष भी उसके लिए हितकर सिद्ध हो जाता है। जो राग-द्वेष से रहित होकर कोई प्रतिक्रिया नहीं करता तथा प्रतिकूल परिस्थिति पैदा करने वाले के प्रति स्वयं किञ्चित् भी द्वेष नहीं करता, वह इस संसार में अप्रतिज्ञ ब्राह्मण कहलाता है।

१. ठाणं ५/७३।

अज्ञानी व्यक्ति दीन-हीन जीवन जीता है। वह इस संसार में दो ही कार्य कर सकता है—१. शरीर की आकांक्षा अथवा २. मृत्यु की इच्छा। ऋषि का मंतव्य है कि संकट के क्षणों में मौत की इच्छा दीनता का लक्षण है। मौत की इच्छा न करके दृढ़ता से उसका सामना करने वाला जीने की कला जानता है। अंत में ऋषि ने अपना अनुभव व्यक्त करते हुए कहा है कि जो साधक काम-वासनाओं में लुब्ध नहीं होता, कर्म के स्रोत को छिन्न कर देता है, आस्रव रहित होता है, वह कर्म-बंधनों से मुक्त होकर सिद्धि-गति को प्राप्त कर लेता है।



### ३४. इसिगिरिज्झयणं : ऋषिगिरि अध्ययन

१. पंचहिं ठाणेहिं पंडिते बालेणं परीसहोवसग्गे उदीरिज्जमाणे सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अधियासेज्जा<sup>१</sup> ।

अज्ञानी के द्वारा परीषह और उपसर्ग की उदीरणा करने पर पंडित व्यक्ति पांच स्थानों को सम्यक् रूप से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्य रहित होकर सहन करे तथा मनोबल से सहन करे।

२. बाले खलु पंडितं परोक्खं फरुसं वदेज्ज<sup>२</sup>, तं पंडिते बहुमण्णेज्जा—दिट्ठे<sup>३</sup> 'मे एस'<sup>४</sup> बाले परोक्खं फरुसं वदति, णो पच्चक्खं। मुखसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति। तं पंडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अधियासेज्जा ।

अज्ञानी व्यक्ति पंडित के लिए परोक्ष में कठोर भाषा का प्रयोग करे तो पंडित पुरुष अधिमान देता हुआ चिंतन करे—'मैं देखता हूँ कि यह अज्ञानी परोक्ष में कठोर वचन का प्रयोग कर रहा है, प्रत्यक्ष में नहीं। अज्ञानी मूर्ख स्वभाव वाले होते हैं। अज्ञान के अलावा उनके पास कुछ नहीं होता।' पंडित पुरुष उसको सम्यक् रूप से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्य रहित होकर सहन करे तथा मनोबल से सहन करे।

३. बाले खलु पंडितं पच्चक्खमेव फरुसं वदेज्जा। तं पंडिते बहुमण्णेज्जा—दिट्ठे मे एस बाले पच्चक्खं फरुसं वदति, णो दंडेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा<sup>५</sup> वा मुट्ठिणा वा कवालेण वा अभिहणति तज्जेति तालेति परितालेति परितावेति उद्वेति<sup>६</sup> मुखसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति। तं पंडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अधियासेज्जा ।

अज्ञानी व्यक्ति पंडित के लिए प्रत्यक्ष में कठोर भाषा का प्रयोग करे तो पंडित व्यक्ति उसे अधिमान देकर चिंतन करे—'मैं देखता हूँ कि यह अज्ञानी प्रत्यक्ष में कठोर वचन बोलता है, दण्ड, लाठी, मिट्टी का ढेला, मुट्ठी या कपाल से तो अभिहनन नहीं करता है तथा तर्जना, ताड़ना, परिताड़ना, परितापना और अपद्रवण नहीं करता। अज्ञानी मूर्ख स्वभाव के होते हैं। उनके पास अज्ञान के अतिरिक्त कुछ नहीं रहता।' इस प्रकार उस अज्ञानी को पंडित पुरुष सम्यक् रूप से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्य रहित होकर सहन करे तथा मनोबल से सहन करे।

४. बाले य पंडितं 'दंडेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा कवालेण वा अभिहणेज्जा तज्जेज्जा तालेज्जा परितालेज्जा परितावेज्जा उद्वेज्जा, तं पंडिते बहुमण्णेज्जा—दिट्ठे मे एस बाले दंडेण वा लट्ठिणा वा लेट्ठुणा वा मुट्ठिणा वा कवालेण वा अभिहणति तज्जेति तालेति परितालेति परितावेति

१. 'सहेज्जा' आदि चारों पद एकार्थक होते हुए भी सहन करने की क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक हैं।

२. वदेज्जा (अ, पा, ब)।

३. दिट्ठा (पु)। सर्वत्र

४. एस मे (पा)।

५. × (अ, पा, स)।

६. अभिहनन, तर्जना आदि छहों शब्द पर्यायवाची होते हुए भी मारने-पीटने या कष्ट देने की क्रमिक अवस्थाओं के द्योतक हैं।



उद्देवेति<sup>१</sup>, अण्णतरेणं सत्थजातेणं अण्णतरं सरीरजातं अच्चिंदइ वा 'विच्चिंदइ वा'<sup>२</sup>। मुखसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति। तं पंडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अहियासेज्जा।<sup>३</sup>

अज्ञानी व्यक्ति पंडित को दण्ड, लाठी, लेष्टु, मुट्टी या कपाल से अभिहत, तर्जित, ताड़ित, प्रताड़ित, परितापित और अपद्रुत करे तो पंडित व्यक्ति उसे बहुमान देते हुए चिंतन करे—'मैंने देखा कि यह अज्ञानी दण्ड, लाठी, लेष्टु, मुट्टी या कपाल से अभिहनन करता है, तर्जना, ताड़ना, प्रताड़ना, परितापना और अपद्रवण करता है, किसी शस्त्र से शरीर के किसी अवयव का छेदन-भेदन तो नहीं करता। अज्ञानी व्यक्ति मूर्ख स्वभाव वाले होते हैं। अज्ञान के अतिरिक्त उनके पास कुछ नहीं होता।' उसको पंडित पुरुष सम्यक् रूप से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्य रहित होकर सहन करे तथा मनोबल से सहन करे।

५. बाले य पंडितं अण्णतरेणं सत्थजातेणं अण्णतरं सरीरजातं 'अच्चिंदइ वा विच्चिंदइ'<sup>४</sup> वा, तं पंडिते बहुमण्णेज्जा—दिट्ठे मे एस बाले अण्णतरेणं सत्थजातेणं अण्णतरं सरीरजातं अच्चिंदइ वा विच्चिंदइ वा, णो जीवितातो ववरोवेति। मुखसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति। तं पंडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अहियासेज्जा।

यदि अज्ञानी पुरुष किसी शस्त्र द्वारा पंडित के शरीर के किसी अवयव का छेदन-भेदन करे तो पंडित पुरुष उसे अधिमान देते हुए चिंतन करे—'मैंने देखा कि यह अज्ञानी किसी शस्त्र के द्वारा शरीर के किसी अवयव का छेदन-भेदन करता है, प्राण-घात तो नहीं करता। अज्ञानी मूर्ख स्वभाव वाले होते हैं, उनके पास अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता।' यह सोचकर पंडित व्यक्ति उस अज्ञानी को सम्यक् रूप से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्य रहित होकर सहन करे तथा मनोबल से सहन करे।

६. बाले पंडितं जीवियाओ ववरोवेज्जा, तं पंडिते बहुमण्णेज्जा। दिट्ठे मे एस बाले जीविताओ ववरोवेति, णो धम्माओ भंसेति। मुखसभावा हि बाला, ण किंचि बालेहिंतो ण विज्जति। तं पंडिते सम्मं सहेज्जा खमेज्जा तित्तिक्खेज्जा अहियासेज्जा, इसिगिरिणा माहणपरिव्वायगेणं अरहता इसिणा बुइतं।

अज्ञानी व्यक्ति यदि पंडित पुरुष का प्राण-घात करता है तो पंडित व्यक्ति उसे अधिमान देते हुए चिंतन करे—'मैं देख रहा हूँ कि यह अज्ञानी व्यक्ति मेरे प्राणों का नाश कर रहा है किन्तु मुझे धर्म से भ्रष्ट तो नहीं कर रहा है—मेरा आत्महनन नहीं कर रहा है। अज्ञानी व्यक्ति मूर्ख स्वभाव के होते हैं। अज्ञान के अतिरिक्त उनके पास कुछ

१. × (हे)।

में पाठ का संकेत मात्र है।

२. × (अ, स)।

४. अच्चिंदेज्ज वा विच्चिंदेज्ज (पु)।

३. पा प्रति में सूत्र ४ से लेकर ६ तक पूरा पाठ नहीं है बीच-बीच

नहीं होता।' यह सोचकर पंडित व्यक्ति उस अज्ञानी को सम्यक् रूप से सहन करे, सामर्थ्य से सहन करे, दैन्य रहित होकर सहन करे तथा मनोबल से सहन करे।<sup>१</sup>

### ७. जेण केणइ उवाएण, पंडितो मोइज्ज अप्पकं।

बालेणुदीरिता दोसा, तं पि तस्स हितं भवे ॥१॥

जिस किसी भी उपाय से पंडित<sup>२</sup> पुरुष स्वयं को प्रसन्न रखे। अज्ञानी व्यक्ति के द्वारा उत्पन्न द्वेष भी उसके लिए हितकर सिद्ध होता है।

### ८. अपडिण्णभावाओ, उत्तरं तु ण विज्जती।

सइं कुव्वति वेसे णो, अपडिण्णे इह माहणे ॥२॥

जो व्यक्ति अप्रतिज्ञ<sup>३</sup>—राग-द्वेष से रहित होकर कोई प्रतिक्रिया नहीं करता, स्वयं किञ्चित् भी द्वेष नहीं करता, वह इस संसार में अप्रतिज्ञ माहण<sup>४</sup>—ब्राह्मण कहलाता है।

### ९. किं कज्जते उ दीणस्स, णऽण्णत्थ देहकंखणं।

कालस्स कंखणं वावि, णऽण्णत्तं वावि हायती ॥३॥

दीन व्यक्ति देह की आकांक्षा के अतिरिक्त और क्या कर सकता है? अथवा कभी-कभी मृत्यु की भी आकांक्षा कर लेता है। वह अपनी अज्ञता को भी नहीं छोड़ सकता।

### १०. णच्चाण आतुरं लोकं, णाणावाहीहि पीलितं<sup>५</sup>।

णिम्ममे णिरहंकारे, भवे भिक्खू जित्तिंदिए ॥४॥

इस लोक को आतुर और अनेक प्रकार की व्याधियों से पीड़ित जानकर भिक्षु निर्मम, निरहंकार और जितेन्द्रिय बने।

१. ठाणं (५/७३) में भगवान् महावीर ने कष्ट या उपसर्गों को सहने के पांच स्थानों का निर्देश किया है। ऋषिभाषित के ऋषि ने जहां स्थूल दृष्टि से घटना को सहन करने की बात कही है, वहां महावीर ने सूक्ष्म रूप से कर्म-सिद्धान्त के आधार पर सहन करने के स्थानों का वर्णन किया है। वे पांच स्थान इस प्रकार हैं—

\* यह व्यक्ति उदीर्णकर्मा है इसलिए उन्मत्त होकर मुझ पर आक्रोश करता है, गाली देता है, उपहास करता है, मुझे बांधता है, रोकता है, अंगविच्छेद करता है अतः मुझे सहन करके इससे अप्रभावित रहना चाहिए।

\* यह पुरुष यक्षाविष्ट है इसलिए मुझ पर आक्रोश आदि करता है अतः मुझे सहन करके इससे अप्रभावित रहना चाहिए।

\* इस भव में मेरे वेदनीय कर्म उदीर्ण हो गए हैं अतः यह पुरुष मुझ पर आक्रोश आदि करता है अतः मुझे सहन करके इससे अप्रभावित रहना चाहिए।

\* यदि मैं इनको अविचल भाव से सहन नहीं करूंगा तो मेरे एकान्त पाप का संचय होगा।

\* यदि मैं अविचल भाव से सहन करूंगा तो मुझे एकान्त निर्जरा होगी।

२. चूर्णिकार जिनदास के अनुसार परित्यक्त भोगों के प्रत्याचरण में दोषों के ज्ञाता को पंडित कहा जाता है। (दशजिचू पृ. ९२; पंडिया गाम चत्ताणं भोगाणं पडियाइयणे जे दोसा पडिजाणंती पंडिया।)

३. आचारांग के नवें उपधानश्रुत अध्ययन (९/१/२३) में भगवान् महावीर के लिए 'अपडिण्णे' विशेषण का प्रयोग हुआ है। वहां इसका अर्थ है—प्रतिकार के संकल्प से रहित। यहां भी यही अर्थ होना चाहिए।

४. माहण—ब्राह्मण के स्वरूप के संदर्भ में इस ग्रंथ के छब्बीसवें अध्ययन में विस्तार से वर्णन हुआ है। द्र. २६/१-७

५. पालितं (पा)।

११. पंचमहव्वयगुत्ते<sup>१</sup>, अकसाए जित्तिदिए।  
से हु दंते सुहं सुयतो<sup>२</sup>, णिरुवसग्गे य जीवति ॥५॥

पांच महाव्रत से गुप्त (सुरक्षित), अकषायी, जितेन्द्रिय और दान्त श्रमण सुख से सोता हुआ निरुपसर्ग—  
बाधा रहित जीवन जीता है।

१२. जे ण लुब्भति कामेहिं, छिण्णसोते अणस्सवे<sup>३</sup>।  
सव्वदुक्खप्पहीणे उ<sup>४</sup>, सिद्धे भवति णीरए ॥६॥

जो व्यक्ति काम-वासनाओं में लुब्ध नहीं होता, कर्म के स्रोत<sup>५</sup> को छिन्न करता है, आस्रव रहित होता है,  
वह कर्मरज से मुक्त होकर सब दुःखों को क्षीण करके सिद्ध हो जाता है।

१३. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति  
बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का  
त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् माहण परिव्राजक ऋषिगिरि) कहता हूँ।

१. °जुत्ते (अ)।

२. सुयती (आ, ला, ब, पा, स)।

३. अणासवे (पु)।

४. ऊ (पा)।

५. स्रोत दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आंतरिक। बाह्य स्रोत  
हैं— इंद्रिया और आंतरिक स्रोत हैं—राग-द्वेष आदि। जो बाह्य  
और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के स्रोतों को रोक देता है, वह  
छिन्नस्रोत कहलाता है। (द्र. आभा पृ. २२९)

पणतीसइमं उद्दालयज्झयणं

पैंतीसवां अध्ययन : उद्दालक



## ३५. ऋषि उद्दालक

पैंतीसवें अध्ययन के उपदेष्टा ऋषि हैं—उद्दालक। जैन आगम एवं व्याख्या-साहित्य में इनका ऋषि के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। वैदिक मान्यता के अनुसार उद्दालक आरुणि 'तत्त्वमसि' सूक्त के मंत्रद्रष्टा तथा आत्मविद्या के ज्ञाता ऋषि के रूप में प्रख्यात हैं। इन्होंने लम्बे समय तक हिमालय पर्वत पर उग्र तपस्या की थी। इनके नाम के आगे 'आरुणि' विशेषण लगता है। ब्रह्मवैवर्तपुराण में इनका नाम अरुणि मिलता है। संभव है छंद की दृष्टि से आरुणि के स्थान पर अरुणि का प्रयोग हुआ है।<sup>१</sup> ऋषि अरुण के पुत्र होने के कारण इनका नाम आरुणि प्रसिद्ध हो गया। ऋषि अरुण भी ऋषिभाषित के तेतीसवें ऋषि होने चाहिए। ये आयोद धौम्य ऋषि के शिष्य थे।<sup>२</sup> ये इंद्र की सभा में उपस्थित होते थे।<sup>३</sup> इनके पुत्र का नाम श्वेतकेतु था, जिसे उन्होंने अपने शिष्य के द्वारा नियोगविधि से प्राप्त किया था।<sup>४</sup> उद्दालक ऋषि ने अपनी कन्या सुजाता का विवाह अपने शिष्य कहोल से किया था, जिसके गर्भ से अष्टावक्र का जन्म हुआ।<sup>५</sup> शल्यपर्व के अनुसार इन्होंने यज्ञ किया तो चिन्तन मात्र करने से सरस्वती नदी प्रकट हो गई, उस समय उसकी धारा का नाम मनोरमा रखा गया।<sup>६</sup> ऋषियों की परम्परा में बृहदारण्यक उपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि उद्दालक ने जाबालायन से ब्रह्म विद्या प्राप्त की थी।<sup>७</sup>

इनके जीवन से सम्बन्धित गुरुभक्ति की प्रसिद्ध कथा मिलती है। एक बार आश्रम के पास क्यारी (बांध) से पानी बाहर निकलने लगा। गुरु ने अपने उद्दालक आदि तीन शिष्यों को पानी रोकने का आदेश दिया। पानी का प्रवाह रोकने के लिए वे टूटे स्थान पर स्वयं लेट गए, जिससे पानी रुक गया। सन्ध्या होने पर गुरु ने इनकी खोज करवाई। क्यारी के पास इन्हें लेटे देखकर गुरु अत्यन्त प्रसन्न हो गए, इनका नाम पाञ्चाल्य से उद्दालक रख दिया तथा आशीर्वाद देते हुए कहा कि तुमको सारे वेदों का ज्ञान प्राप्त हो जाएगा।<sup>८</sup> इनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण, कौषीतकि, बृहदारण्यक तथा छांदोग्य आदि उपनिषदों में मिलता है।

बौद्ध साहित्य में उद्दालक जातक में उद्दालक का जन्म पुरोहित और गणिका से हुआ है। जातक में विस्तार से इनकी कथा उपलब्ध है। वहां इन्हें वेद के ज्ञाता लेकिन ढोंगी भिक्षु के रूप में चित्रित किया है।<sup>९</sup> डॉ. सागरमलजी जैन के अनुसार बौद्ध परम्परा में उद्दालक की कथा को थोड़ा विकृत करके प्रस्तुत किया गया है।<sup>१०</sup>

१. ब्रह्म १३/२६।

२. महा आदि ३/२१।

३. महा सभा ७/१-१२।

४. महा शांति ३३/२४, उद्दालकः श्वेतकेतुं, जनयामास शिष्यतः।

५. महा वनपर्व १३४/८, ९।

६. महा शल्य ३९/२०-२५।

७. बृहदा. ४/६/३।

८. महा आदि ३/२२-३२।

९. जातक, उद्दालक जातक ४८७ भा. ४, पृ. ५०२-०८।

१०. ऋषि पृ. ८१।

फिर भी जातक कथा में उल्लिखित इस उद्दालक से ऋषिभाषित के ऋषि उद्दालक के साथ कितना सम्बन्ध है, यह शोध का विषय है।

अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए ऋषि कहते हैं कि पाप आने के चार द्वार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। ऋषि आत्म-संकल्प व्यक्त करते हुए कहते हैं कि मैं अकुपित, अमानी, अमायावी, अलोभी, त्रिगुप्त होकर नवकोटि से शुद्ध, उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित भिक्षा ग्रहण करके धूम और इंगाल दोषों से रहित आहार ग्रहण करूंगा।

गद्य के बाद पद्य में अपनी बात प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं कि अज्ञानी, मूढ़ और केवल वर्तमान को देखने वाला व्यक्ति क्रोध आदि कषायों को महाबाण बनाकर अपनी आत्मा को भींध लेता है। बाह्य बाण से विद्ध होने पर तो व्यक्ति का एक भव नष्ट होता है लेकिन क्रोध आदि कषायों के बाण से विद्ध होने पर उसकी सम्पूर्ण भव-परम्परा विकृत हो जाती है।

कर्म-बंधन से बचने का उपाय बताते हुए ऋषि कहते हैं कि जिन पदार्थों के निमित्त से क्रोध आदि उत्पन्न होते हैं, उन पदार्थों का सब प्रकार से सर्वथा वर्जन कर देना चाहिए। व्यक्ति को वही कार्य करना चाहिए जो स्व और पर के लिए हितकर हो फिर भी आत्महित को पहले देखना चाहिए। जो व्यक्ति आत्महित को छोड़कर केवल परहित को देखता है, वह आत्महित को खो देता है। एक रूपक के द्वारा इस बात को स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं कि स्वयं के जलते हुए घर को छोड़कर दूसरे के घर की ओर दौड़ना बुद्धिमानी नहीं है। पहले अपना घर खाली करके फिर दूसरों के घर की ओर दौड़ना चाहिए।

ऋषि कहते हैं कि यदि कोई व्यक्ति गलत कार्य करता हो तो उस समय मौन धारण करना श्रेयस्कर है। निशीथभाष्य में भी यह गाथा मिलती है<sup>१</sup> लेकिन वहां इसका संदर्भ भिन्न है। यदि कोई आचार्य यह सोचता है कि कोई पापकारी प्रतिसेवना करता है तो मौन करना ही श्रेष्ठ है, यह सोचने मात्र से वह प्रायश्चित्त का भागी होता है क्योंकि ऐसा चिन्तन करने से गलती का परिष्कार नहीं होता बल्कि उसकी परम्परा चलती है। यहां ऋषि का तात्पर्य यह होना चाहिए कि यदि कोई मूढ़ आदमी समझने पर क्रुद्ध होता है तो उस समय बुद्धिमान् व्यक्ति को अपनी शांति बनाए रखने के लिए मौन रखना सर्वोत्तम उपाय है क्योंकि मूढ़ व्यक्ति को बलात् बदलने का सामर्थ्य स्वयं तीर्थकर में भी नहीं होता। भगवान् महावीर भी अपने शिष्य जमालि को बदल नहीं सके। इसी बात को पुनः रूपक से स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं कि बहुत चोरों वाले ग्राम में व्यक्ति को दूसरों की अट्टालिका में नहीं अपितु अपने घर में जागना चाहिए। ऋषि कहते हैं कि पांच इंद्रियां, चार संज्ञाएं, तीन दण्ड, तीन शल्य, तीन गौरव और बावीस

१. निभा २७८२।

परिषह—ये सब चोर हैं। ये आत्मा की सम्पदा का हरण करते हैं। इन चोरों से बचने के लिए व्यक्ति को सदैव जागृत रहना चाहिए। धर्माचरण में प्रमाद करने वाला इन चोरों की पकड़ में आ जाता है।

ऋषि उद्दालक जागृति की प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि जागृत रहने वाले व्यक्ति का ज्ञान जागृत रहता है। जो सोता है, सुख उसके पास से दूर भाग जाता है। जागृत मुनि को दोष वैसे ही छोड़ देते हैं, जैसे जलने से भयभीत व्यक्ति जलती हुई आग को देखकर उसे दूर से ही छोड़ देता है।

उद्दालक ऋषि का आगम और उसके व्याख्या-साहित्य में कोई उल्लेख नहीं मिलता। ये उपनिषद्कालीन ऋषि प्रतीत होते हैं फिर भी अध्ययन में वर्णित विषय-वस्तु में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि अंतिम समय में ये निर्ग्रन्थ परम्परा के निवृत्तिमार्ग से प्रभावित हो गए होंगे अथवा संकलनकर्ता आचार्य ने दण्ड, शल्य, परीषह आदि जैन परम्परा में सम्मत शब्दों का प्रयोग कर दिया है। फिर भी इस विषय में और अधिक अन्वेषण की आवश्यकता है कि वास्तव में ये किस परम्परा के ऋषि थे?



## ३५. उद्दालयज्झयणं : उद्दालक अध्ययन

१. चउहिं ठाणेहिं खलु भो! जीवा कुप्यंता मज्जंता गूहंता लुब्भंता वज्जं समादियंति, वज्जं समादइत्ता चाउरंतसंसारकंतारे पुणो पुणो अत्ताणं परिविद्धसंति, तं जहा—कोहेणं माणेणं मायाए लोभेणं। तेसिं च णं अहं पडिघातहेतुं अकुप्यंते अमज्जंते अगूहंते अलुब्भंते तिगुत्ते तिदंडविरते णिस्सल्ले अगारवे चउविकहविवज्जए पंचसमिते पंचिंदियसुसंबुडे सरीरसाधारणद्वा जोगसंधाणद्वा णवकोडीपरिसुद्धं दसदोसविप्पमुक्कं उगमुप्पायणेसणामुद्धं तत्थ तत्थ इतरइतरे<sup>१</sup> कुलेहिं परकडं<sup>२</sup> परणिट्ठितं विगतिंगालं विगतधूमं सत्थातीतं<sup>३</sup> सत्थपरिणतं पिंडं सेज्जं उवधिं च 'एसेज्जामि त्ति'<sup>४</sup>, उद्दालएणं<sup>५</sup> अरहता इस्सिणा बुइतं।

चार स्थानों से जीव क्रोधी, अभिमानी, मायावी और लोभी होकर पापकर्म ग्रहण करते हैं। पाप को ग्रहण करके चतुर्गति रूप संसार-कान्तर में बार-बार स्वयं की आत्मा का विनाश करते हैं। वे चार स्थान इस प्रकार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन चारों का प्रतिघात करने के लिए मैं अकुपित, अमानी, अमायावी, अलोभी, त्रिगुप्त<sup>६</sup>, त्रिदण्ड से विरत, निःशल्य, तीन गौरव से मुक्त, चतुर्विध विकथा से रहित, पंच समितियों से समित, पांच इंद्रियों से संवृत होकर, शरीर-धारण एवं योगों का वहन करने के लिए नवकोटि से परिशुद्ध, दश एषणा के दोषों से मुक्त, उद्गम और उत्पादन के दोषों से शुद्ध, वहां-वहां भिन्न-भिन्न कुलों में परकृत, परनिष्ठित, अंगार, धूम आदि परिभोगैषणा के दोषों से रहित, शस्त्र से रहित तथा शस्त्र से परिणत<sup>७</sup> भोजन, शय्या (उपाश्रय) और उपधि को ग्रहण करता हूँ, ऐसा अर्हत् उद्दालक ऋषि ने कहा।

२. अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए।

कोवं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधति अप्पकं ॥ १ ॥

अज्ञानी, मूढ़ात्मा और केवल वर्तमान को देखने वाला व्यक्ति क्रोध को महाबाण बनाकर अपनी आत्मा को बींध देता है।

३. मण्णे बाणेण विद्धे तु, भवमेक्कं विणिज्जति।

कोधबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंततिं ॥ २ ॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि बाण से विद्ध होने पर तो व्यक्ति का एक भव विनष्ट होता है लेकिन क्रोधरूपी बाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा विकृत हो जाती है।

१. इतरातरे (पा)।

२. परक्कडे (पा)।

३. × (अ, ला, स)।

४. एसे भावेमि।

५. कुछ प्रतियों में 'उद्दालएणं' पाठ मिलता है।

६. गुप्ति का अर्थ है—गोपन, सुरक्षा। जो मन, वचन और काया— इन तीन प्रकार की गुप्तियों से आत्मा की रक्षा करता है, वह त्रिगुप्त कहलाता है।

७. स्वकाय, परकाय अथवा उभयकाय शस्त्र से अचित्त किया हुआ भोजन।

## ४. अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए।

माणं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधति अप्पकं<sup>१</sup> ॥ ३ ॥

अज्ञानी, मूढात्मा और केवल वर्तमान को देखने वाला व्यक्ति मान को महाबाण बनाकर अपनी आत्मा को बींध डालता है।

## ५. मण्णे बाणेण विद्धे तु, भवमेकं विणिज्जति।

माणबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंततिं ॥ ४ ॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि बाण से विद्ध होने पर तो व्यक्ति का एक भव विनष्ट होता है लेकिन मानरूपी बाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा विकृत हो जाती है।

## ६. अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए।

मायं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधति अप्पकं ॥ ५ ॥

अज्ञानी, मूढात्मा और केवल वर्तमान को देखने वाला व्यक्ति माया को महाबाण बनाकर अपनी आत्मा को बींध डालता है।

## ७. मण्णे बाणेण विद्धे तु, भवमेकं विणिज्जति।

मायाबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंततिं ॥ ६ ॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि बाण से विद्ध होने पर तो व्यक्ति का एक भव विनष्ट होता है लेकिन मायारूपी बाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा विकृत हो जाती है।

## ८. अण्णाणविप्पमूढप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए।

लोभं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधति अप्पकं ॥ ७ ॥

अज्ञानी, मूढात्मा और केवल वर्तमान को देखने वाला व्यक्ति लोभ को महाबाण बनाकर अपनी आत्मा को बींध डालता है।

## ९. मण्णे बाणेण विद्धे तु, भवमेकं विणिज्जति।

लोभबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंततिं ॥ ८ ॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि बाण से विद्ध होने पर तो व्यक्ति का एक भव विनष्ट होता है लेकिन लोभ रूपी बाण से विद्ध होने पर भव-परम्परा विकृत हो जाती है।

१०. तम्हा तेसिं विणासाय, सम्ममागम्म सम्मतिं<sup>२</sup>।

अप्पं परं च जाणित्ता, चरेऽविसयगोचरं ॥ ९ ॥

इसलिए चारों कषायों का विनाश करने के लिए सम्यग् बुद्धि से स्व और पर को अच्छी तरह जानकर साधक विषय-वासना से रहित होकर विचरण करे।

१. पा और हे प्रति में ४ से ९ तक गाथाओं का केवल संकेत मात्र २. संतति (पा)।  
मिलता है।

११. जेसु जायंति कोधादी, कम्मबंधा महाभया।  
ते वत्थू सव्वभावेणं, सव्वहा परिवज्जए ॥ १० ॥

जिन पदार्थों के निमित्त से कर्मबंध करने वाले महाभयंकर क्रोध आदि उत्पन्न होते हैं, उन पदार्थों का सब प्रकार से सर्वथा परिवर्जन कर देना चाहिए।

१२. सत्थं सल्लं विसं जंतं, मज्जं वालं दुभासणं।  
वज्जेतो तं णिमित्तेण, दोसेणं ण वि लिप्पति ॥ ११ ॥

शस्त्र, शल्य, विष, यन्त्र, मदिरा, सांप और अकुशल वाणी का वर्जन करने वाला इन निमित्तों से होने वाले दोषों से लिप्त नहीं होता।

१३. आतं परं च जाणेज्जा, सव्वभावेण सव्वधा।  
आयट्ठं च परट्ठं च<sup>१</sup>, पियं जाणे तहेव य ॥ १२ ॥

स्व और पर को सर्वभाव से सब प्रकार से जानना चाहिए। साधक आत्मा के लिए एवं दूसरों के लिए जिसे हितकर जाने, उसका उसी रूप में आचरण करे।

१४. सए गेहे पलित्तम्मि, किं धावसि परातकं?  
सयं<sup>२</sup> गेहं णिरित्ताणं, ततो गच्छे<sup>३</sup> परातकं ॥ १३ ॥

स्वयं का घर जलने पर तुम दूसरों के घर की ओर क्यों दौड़ते हो? स्वयं अपने घर को खाली करके फिर दूसरों के घर की ओर जाना चाहिए।

१५. आतट्ठे जागरो होहि<sup>४</sup>, मा परट्ठाहिधारए।  
आतट्ठे हायते<sup>५</sup> तस्स, जो परट्ठाहिधारए ॥ १४ ॥

व्यक्ति को आत्महित के लिए जागृत रहना चाहिए, परार्थ के लिए नहीं। जो आत्महित को छोड़कर केवल परहित को साधता है, वह आत्महित को खो देता है।

१६. जइ परो पडिसेवेज्ज, पावियं पडिसेवणं।  
तुज्झ मोणं करंतस्स<sup>६</sup>, के अट्ठे परिहायति? ॥ १५ ॥

यदि कोई दूसरा व्यक्ति पापकारी प्रतिसेवना करता है, उस समय मौन करने से तुम्हारा कौन सा प्रयोजन नष्ट होता है?<sup>६</sup>

१. लुप्पति (आ, पु, पा)।

२. × (स)।

३. से तं (अ, आ, ला, पा)।

४. गच्छति (अ, आ, पा)।

५. होही (आ)।

६. हावए (ला, पु)।

७. चरंतस्स (निभा २७८२)।

८. निशीथभाष्य और बृहत्कल्पभाष्य में भी यह गाथा मिलती है। वहां यह गाथा उत्तमपुरुष में है। यहां मध्यस्थ भावना के रूप में आध्यात्मिक आदर्श को प्रस्तुत करती है। जबकि भाष्य साहित्य में दोष होने पर इस प्रकार की उपेक्षा को प्रायश्चित्त का कारण माना है।

१७. आतट्टो णिज्जरायंतो, परट्टो कम्मबंधणं।

अत्ता समाधिकरणं, अप्पणो य परस्स य ॥ १६ ॥

निर्जरा करता हुआ व्यक्ति आत्महित को साधता है तथा पर के लिए किया जाने वाला उपक्रम कर्मबंधन का हेतु है। स्व और पर के लिए आत्मा ही समाधि का हेतु है।

१८. अण्णातकम्मि अट्टालकम्मि, किं जग्गितेण वीरस्स ?

नियगम्मि जग्गितव्वं, इमो हु बहुचोरओ गामो ॥ १७ ॥

वीर पुरुष को किसी अज्ञात अट्टालिका में जगने से क्या लाभ? व्यक्ति को अपने घर में जागृत रहना चाहिए क्योंकि यह बहुत चोरों वाला ग्राम है।<sup>१</sup>

१९. जग्गाही मा सुवाही, मा<sup>२</sup> भे धम्मचरणे पमत्तस्स।

काहिति बहु चोरा, संजमजोगे हिडाकम्मं<sup>३</sup> ॥ १८ ॥

जागो, सोवो मत, धर्माचरण में प्रमाद मत करो। अन्यथा प्रमत्त व्यक्ति के संयम-योगों की बहुत सारे चोर चोरी कर लेंगे।

२०. पंचिंदियाइं सण्णा, दंडा<sup>४</sup> सल्लाइं गारवा तिण्णि।

बावीसं च परीसह, चोरा चत्तारि य कसाया ॥ १९ ॥

पांच इंद्रियां, चार संज्ञा<sup>५</sup>, तीन दण्ड, त्रिशल्य, तीन गौरव, बावीस परीषह<sup>६</sup> और चार कषाय—ये सभी चोर हैं।

१. यह संभावना की जा सकती है कि इस गाथा में किसी कथा का संकेत होना चाहिए लेकिन व्याख्या-साहित्य के अभाव में इस कथा का विस्तार देना संभव नहीं है।

२. मा हु (अ, पा, स)।

३. हिंडा<sup>७</sup> (अ, पा), टीकाकार ने हिंडा त्ति कर्मविशेषणं त्वज्ञातार्थम् का उल्लेख किया है। (ऋवृ पृ. १५२)

४. दंड (स), दण्ड का अर्थ है—दुष्प्रवृत्ति। वह मन, वचन और काया से सम्बन्धित तीन प्रकार की होती है।

५. ठाणं सूत्र (१०/१०५) में संज्ञाओं के दस भेद निर्दिष्ट हैं—

१. आहार २. भय ३. मैथुन ४. परिग्रह ५. क्रोध ६. मान ७. माया ८. लोभ ९. लोक १०. और ओघ। यहां ऋषि का तात्पर्य निम्न चार संज्ञाओं से है—

\* आहार संज्ञा—आहार की अभिलाषा। क्षुधावेदनीय कर्म के उदय से उत्पन्न भाव।

\* भय संज्ञा—भय का अभिनिवेश। यह भय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला आत्मपरिणाम है।

\* मैथुन संज्ञा—मैथुन की अभिलाषा। वेद मोहनीय से उत्पन्न आत्मपरिणाम।

\* परिग्रह संज्ञा—तीव्र लोभ के उदय से परिग्रह की अभिलाषा।

६. तत्त्वार्थ सूत्र के अनुसार मार्ग से च्युत न होने तथा निर्जरा के लिए जो अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों को सहन किया जाता है, वे परीषह हैं। (त ९/८ ; मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिसोढव्याः परीषहाः।) बावीस परीषहों के नाम इस प्रकार हैं—१. क्षुधा २. पिपासा ३. शीत ४. उष्ण ५. मच्छरदंश ६. अचेल ७. अरति ८. स्त्री ९. चर्या १०. निषीधिका ११. शय्या १२. आक्रोश १३. वध १४. याचना १५. अलाभ १६. रोग १७. तृणस्पर्श १८. जल्ल १९. सत्कार-पुरस्कार २०. ज्ञान २१. दर्शन २२. प्रज्ञा। (उत्त २/३, सम २२/१)

२१. जागरह णरा निच्चं, मा भे धम्मचरणे पमत्ताणं ।

काहंति बहू चोरा, दोग्गतिगमणे हिडाकम्मं ॥ २० ॥

मनुष्यों को सदा जागृत रहना चाहिए । धर्माचरण में प्रमाद नहीं करना चाहिए । बहुत सारे चोर प्रमत्त व्यक्ति के सत्कर्मों की चोरी करके उसे दुर्गति-गमन की ओर प्रेरित कर देंगे ।

२२. अण्णातकम्मि अट्टालकम्मि, जग्गंत सोयणिज्जो सि ।

णाहिसि वणितो संतो, ओसधमुल्लं अविंदंतो ॥ २१ ॥

अज्ञात अट्टालिका में जगते हुए व्यक्ति की स्थिति वैसी ही हो जाती है, जैसे व्रणित व्यक्ति औषध के मूल्य को नहीं जानता हुआ शोचनीय स्थिति को प्राप्त कर लेता है ।

२३. जागरह णरा निच्चं, जागरमाणस्स 'जागरति सुत्तं'<sup>१</sup> ।

जे सुवति ण से सुहिते, 'जागरमाणो सुही होति'<sup>२</sup> ॥ २२ ॥

मनुष्य को सदा जागृत रहना चाहिए क्योंकि जागृत रहने वाले का सूत्र—ज्ञान जागृत होता है । जो सोता है वह सुखी नहीं होता, जागृत रहने वाला सदा सुखी होता है ।

२४. जागरंतं मुणिं वीरं, दोसा वज्जेति दूरतो ।

जलंतं जाततेयं वा, चक्खुसा दाहभीरुणो ॥ २३ ॥

जागृत और वीर मुनि को दोष दूर से ही छोड़ देते हैं, जैसे जलने से भयभीत व्यक्ति जलती हुई आग को देखकर उसे दूर से ही छोड़ देता है ।

२५. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् उद्दालक ऋषि) कहता हूँ ।

१. वड्ढती बुद्धी (निभा ५३०३), वड्ढते बुद्धी (बृभा ३३८२) ।

२. जो जग्गति सो सया सुहितो (निभा), जो जग्गति सो सया धण्णो (बृभा)

छत्तीसइमं तारायणज्झयणं

छत्तीसवां अध्ययन : तारायण



## ३६. ऋषि तारायण

ऋषिभाषित के छत्तीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—तारायण। सूत्रकृतांग की टीका में इनके लिए 'नारायण' नाम का प्रयोग हुआ है।<sup>१</sup> ऐसा संभव लगता है कि हस्तप्रतियों में 'त' और 'न' लिखने में ज्यादा अंतर नहीं रहता था अतः तारायण के स्थान पर नारायण अथवा यह भी कहा जा सकता है कि नारायण के स्थान पर तारायण हो गया हो। आचार्य महाप्रज्ञ ने ऋषि का तारायण नाम स्वीकृत किया है। बौद्ध परम्परा में तारायण नामक ऋषि का कोई उल्लेख नहीं मिलता। शांतिपर्व में नारायण ऋषि का असित देवल के साथ आध्यात्मिक संवाद मिलता है लेकिन यहां तारायण ऋषि नाम ही संगत लगता है क्योंकि सभी हस्तप्रतियों में भी यही नाम मिलता है। ऋषिभाषित की प्रथम संग्रहणी की पांचवी गाथा में इनके लिए 'वित्त' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा अध्ययन में भी इनके नाम के आगे 'वित्त' विशेषण का प्रयोग हुआ है। ऐसा संभव लगता है कि 'वित्त' इनका विशेषण होना चाहिए, जिसके दो अर्थ हो सकते हैं—१. प्रख्यात २. ज्ञान, दर्शन आदि की सम्पदा से युक्त।

सूत्रकृतांग में नमि, असित देवल, द्वीपायन, बाहुक, पाराशर आदि ऋषियों के साथ इनका उल्लेख हुआ है।<sup>२</sup> इसके अनुसार नमि राजर्षि ने आहार का परित्याग करके, बाहुक और तारायण ऋषि ने सचित्त जल का उपभोग करते हुए तथा देवल, द्वीपायन और पाराशर ऋषि ने वनस्पति एवं बीजों का उपभोग करते हुए मुक्ति को प्राप्त किया। वहां स्पष्ट उल्लेख है कि ये सचित्त जल का सेवन करते हुए मोक्ष को प्राप्त हुए। सूत्रकृतांग के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि ये परिव्राजक ऋषि थे फिर भी जैन परम्परा में उल्लेख इनके प्रभावशाली व्यक्तित्व को प्रकट करता है। सूत्रकृतांग की चूर्णि के अनुसार ये राजर्षि थे फिर वानप्रस्थ स्वीकार करके मोक्ष को प्राप्त हुए।<sup>३</sup>

पूरे अध्ययन में ऋषि का उपदेश एक विषय पर ही हुआ है। ऋषि ने क्रोध और उसके दुष्परिणामों के बारे में मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए ऋषि मनोवैज्ञानिक शैली में कहते हैं कि क्रोध से उत्तप्त व्यक्ति को उस समय में शान्त होने को नहीं कहूंगा। मैं कहूंगा कि क्रोध तुष की भांति सारहीन है। अन्य के प्रति किया गया क्रोध स्वयं अपने लिए तथा दूसरों के लिए दुःखद होता है अतः उपशम से क्रोध का निग्रह

१. सूटी १ पृ. ६४; नारायणो नाम महर्षिः।

२. सू १/३/६१-६४ ;

आहंसु महापुरिसा, पुव्वं तत्तवोधणा।  
उदएण सिद्धिमावण्णा, तत्थ मंदो विसीयइ।  
अभुंजिया णमी वेदेही, रामउत्ते य भुंजिया।  
बाहुए उदगं भोच्चा, तहा तारागणे रिसी॥

आसिले देविले चेव, दीवायण महारिसी।

पारासरे दगं भोच्चा, बीयाणि हरियाणि य॥

एए पुव्वं महापुरिसा, आहिया इह संमया।

भोच्चा बीयोदगं सिद्धा, इइ मेयमणुस्सुयं॥

३. सूचू १ पृ. ९५ ; महापुरिसा पहाणा पुरिसा राजानो भूत्वा वनवासं  
गता पच्छा णिव्वार्णं गताः।



करना चाहिए।<sup>१</sup> क्रोधावस्था में व्यक्ति को यदि शान्त रहने की बात कही जाती है तो उतनी प्रभावकारी सिद्ध नहीं होती।

क्रोध को अनेक व्यावहारिक उपमाओं से उपमित करते हुए ऋषि तारायण कहते हैं कि क्रोध अग्नि, अंधकार, मृत्यु, विष, व्याधि, शत्रु, जरा, हानि, भय, शोक, मोह, शल्य और पराजय है। ऋषि ने कार्य में कारण का उपचार करके क्रोध को अंधकार, अग्नि, विष आदि कहा है।

क्रोध अग्नि क्यों है, इसे व्याख्यायित करते हुए ऋषि कहते हैं कि अग्नि बलशाली होती है क्योंकि वह सबको जला सकती है लेकिन क्रोधाग्नि उससे भी प्रबल है। बाह्य अग्नि को जल के द्वारा शान्त किया जा सकता है लेकिन क्रोधाग्नि को सभी समुद्रों के जल से भी शान्त करना असंभव है। बाह्य अग्नि तो एक भव के शरीर को जलाती है, जलने के बाद परलोक में व्यक्ति जलन की पीड़ा से मुक्त हो जाता है लेकिन क्रोधाग्नि निश्चित रूप से अनेक जन्मों को जलाकर विकृत कर देती है। दावाग्नि में डाले गए पदार्थों की भांति दुःख से संचित गंभीर तप-राशि को क्रोधाग्नि एक क्षण में भस्मसात् कर देती है। अंधकार को रूपायित करते हुए ऋषि कहते हैं कि बाह्य अंधकार का निवारण मणि या ज्योति से किया जा सकता है लेकिन क्रोध रूपी अंधकार दुर्जेय है। क्रोधान्ध व्यक्ति देखते हुए भी नहीं देखता। क्रोध स्वयं मृत्यु है, इसे स्पष्ट करते हुए तारायण ऋषि कहते हैं कि क्रोध से अभिभूत व्यक्ति के सत्त्व, मति, बुद्धि, मेधा, गंभीरता और सरलता आदि सारे गुण निष्प्रभ हो जाते हैं अतः व्यक्ति की जीवित मृत्यु हो जाती है। ऋषि ने विष, व्याधि, शोक, मोह आदि को सरल समझ कर क्रोध के साथ उसकी तुलना नहीं की है।

क्रोध से होने वाली हानि को स्पष्ट करते हुए ऋषि कहते हैं कि संयम में स्थिर और गंभीर व्यक्ति भी क्रोधोत्पत्ति की धूल मात्र से तप और संयम को निःसार बना देता है। उसका आत्मबल क्षीण हो जाता है अतः वह सदैव रिक्तता की अनुभूति करता है। क्रोध से व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम—तीनों की हानि कर लेता है। क्रोध व्यक्ति के संचित पुण्यों का क्षण भर में नाश कर देता है।

अध्ययन का उपसंहार एक पहेली के माध्यम से करते हुए ऋषि कहते हैं कि निग्रह किए जाने पर क्रोध व्यक्ति को प्रसन्न करता है और खुला छोड़ देने पर व्यक्ति को भस्म कर देता है अतः इन दोनों बातों की समीक्षा करके व्यक्ति को सदैव क्रोध का निग्रह करना चाहिए। इसी बात को उत्तराध्ययन सूत्र में साहित्यिक शैली में कहा गया है कि कोहं असच्चं कुव्वेज्जा<sup>२</sup>—अर्थात् क्रोध को असफल करना चाहिए। क्रोध आने का तात्पर्य है कि व्यक्ति हार गया, क्रोध जीत गया। प्रिय-अप्रिय परिस्थिति को सहने का तात्पर्य है कि व्यक्ति जीत गया और क्रोध हार गया। इस प्रकार सम्पूर्ण अध्ययन मनोवैज्ञानिक शैली में क्रोध के दुष्परिणामों को प्रकट करता है।

१. दश ८/३८ ; उवसमेण हणे कोहं।

२. उ १/१४।

## ३६. तारायणज्झयणं : तारायण अध्ययन

१. उप्पतता उप्पतता उप्पयंतं पिण्ण<sup>१</sup> वोच्छामि। किं संतं वोच्छामि<sup>२</sup>? 'णेयं तं'<sup>३</sup> वोच्छामि कुक्कसया, वित्तेण<sup>४</sup> तारायणेण अरहता इंसिणा बुद्धं।

क्रोध से अत्यधिक उत्तप्त होते हुए व्यक्ति को मैं प्रिय वचनों से कहता हूँ। क्या मैं उसे शांत होने को कहूँगा? नहीं, उसको मैं यह नहीं कहूँगा। मैं कहूँगा कि क्रोध तुष की भांति सारहीन है, प्रसिद्ध अर्हत् तारायण ऋषि ने ऐसा कहा।

२. पत्तस्स मम य अन्नेसिं, मुक्को कोवो दुहावहो।

तम्हा खलु उप्पतंतं, सहसा कोवं निगिण्हितव्वं ॥

कोप पात्र के प्रति किया गया क्रोध मेरे लिए और दूसरों के लिए दुःखद होता है इसलिए क्रोध उत्पन्न होते ही तत्काल उसका निग्रह करना चाहिए।

३. कोवो अग्गी तमो मच्चू, विसं वाधी अरी रयो।

जरा हाणी भयं सोगो, मोहं सल्लं पराजयो ॥ १ ॥

क्रोध अग्नि है, अंधकार है, मृत्यु है, विष है, व्याधि है, शत्रु है, रज है, जरा है, हानि है, भय है, शोक है, मोह है, शल्य और पराजय है।

४. वण्हणो ण बलं छित्तं, कोहग्गिस्स परं बलं।

अप्पा गती तु वण्हिस्स, कोवग्गिस्सऽमिता गती ॥ २ ॥

अग्नि का बल न्यून नहीं है लेकिन क्रोधाग्नि उससे भी अधिक बलशाली है। अग्नि की गति अल्प है लेकिन क्रोधाग्नि की गति असीम है।

५. सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहिं।

सव्वोदधिजलेणावि, कोवग्गी दुण्णिवारओ ॥ ३ ॥

बाहर की प्रज्वलित आग को पानी के द्वारा शान्त किया जा सकता है लेकिन क्रोधाग्नि को सारे समुद्रों के जल से भी शान्त करना असम्भव है।

६. एकं भवं डहे<sup>५</sup> वण्ही, दड्डस्स वि सुहं भवे।

इमं परं च कोवग्गी, णिस्संकं डहते<sup>६</sup> भवं ॥ ४ ॥

(बाह्य) अग्नि केवल एक भव (के शरीर) को जलाती है और जलने के पश्चात् व्यक्ति को सुख हो जाता है लेकिन यह क्रोधाग्नि निश्चित रूप से अनेक भवों को जला देती है।

१. पि तेण (पु, ला, ब, स)।

२. वोच्छामी (पा, ब)।

३. ण संतं (पु)।

४. × (स)।

५. दहे (आ, पा)।

६. दहते (पु)।

७. अग्निगणा तु इहं दद्वा, संतिमिच्छंति माणवा।

कोहग्निगणा तु दद्वाणं, दुक्खं संति<sup>१</sup> पुणो वि<sup>२</sup> हि ॥ ५ ॥

अग्नि से जले हुए व्यक्ति इस संसार में शांति की इच्छा करते हैं लेकिन क्रोधाग्नि से जले हुए व्यक्ति को बार-बार दुःख की प्राप्ति होती है।

८. सक्को तमो णिवारेतुं, मणिणा जोतिणा वि वा।

कोवतमो तु दुज्जेयो, संसारे सव्वदेहिणं ॥ ६ ॥

अंधकार का निवारण मणि या ज्योति से किया जा सकता है लेकिन इस संसार में सब प्राणियों के लिए क्रोध रूपी अंधकार दुर्जेय है।

९. सत्तं बुद्धी मती मेधा, गम्भीरं सरलत्तणं।

कोहग्गहऽभिभूतस्स, सव्वं भवति णिप्यभं ॥ ७ ॥

क्रोध रूप ग्रह से अभिभूत व्यक्ति के सत्त्व, बुद्धि, मति, मेधा, गम्भीरता और सरलता आदि सारे गुण निष्प्रभ हो जाते हैं।

१०. गंभीरमेरुसारे वि, पुव्वं<sup>३</sup> होऊण संजमे।

कोवुग्गमरयोधूते, असारत्तमत्तिच्छति ॥ ८ ॥

जो पुरुष पहले संयम में सुमेरु के समान गम्भीर और स्थिर रहा हो, वह व्यक्ति भी क्रोधोत्पत्ति रूप रजकणों के प्रकम्पन मात्र से संयम को पूर्णतः निःसार कर देता है।

११. महाविसे वऽही दित्ते, चरे दब्भंकुरोदये<sup>४</sup>।

चिट्ठे चिट्ठे स रूसंते, णिव्विसत्तमुपागते ॥ ९ ॥

महाविषधर सर्प क्रोध से दीप्त होकर अंकुरित घास को डसता है। वह रुष्ट होकर रुक-रुककर उसको डसता है, इस क्रम से वह अपने विष को समाप्त कर देता है। (अर्थात् तेज रहित हो जाता है)

१२. एवं तवोबलत्थे वि, णिच्चं क्रोधपरायणे।

अचिरेण वि<sup>५</sup> कालेणं, तवो रिक्तत्तमच्छति ॥ १० ॥

इसी प्रकार तपोबल से युक्त होने पर भी नित्य क्रोधपरायण व्यक्ति का तप शीघ्र ही रिक्तता—शून्यता को प्राप्त हो जाता है।

१३. गंभीरो वि तवोरासी, जीवाणं दुक्खसंचितो।

अक्खेविणं<sup>६</sup> दवग्गी वा, कोवग्गी दहते खणा ॥ ११ ॥

जैसे दावाग्नि में डाले गए पदार्थ शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही दुःख से संचित गम्भीर तपोराशि को क्रोधाग्नि एक क्षण में भस्म कर देती है।

१. संती (आ, स, ब)।

२. व (आ, ला, पा, ब)।

३. पुमं (ला, अ, स)।

४. दत्तंकु° (पु), दित्तंकु° (ब)।

५. व (पा, ब)।

६. दुक्खा वेणं (आ, ला), अक्खेवणं (ब)।

१४. कोहेण अप्पं डहती परं च  
अत्थं च धम्मं च तहेव कामं।  
तिव्वं च वेरं पि करेति कोधा  
अधरं<sup>१</sup> गतिं वावि उवेति कोधा ॥१२॥

क्रोध से व्यक्ति स्वयं को तथा दूसरों को जलाता है। क्रोध से अर्थ, धर्म और काम का भी नाश हो जाता है। क्रोध से तीव्र वैर-विरोध उत्पन्न होता है तथा क्रोध से व्यक्ति अधोगति को प्राप्त करता है।

१५. कोहाविद्धा ण जाणंति, मातरं पितरं गुरुं।  
अधिक्खिं वंति साधू य, रायाणो देवताणि य ॥ १३ ॥

क्रोध से आविष्ट व्यक्ति माता, पिता और गुरु को भी कुछ नहीं समझता। वह साधु, राजा और देवता का भी अपमान कर देता है।

१६. कोवमूलं णियच्छंति, धणहाणिं बंधणाणि य।  
पियविप्पओगे य बहू<sup>२</sup>, जम्माइं मरणाणि य ॥१४॥

क्रोध के कारण व्यक्ति को धन-हानि, विविध बंधन, प्रिय का वियोग एवं अनेक जन्म-मरणों की प्राप्ति होती है।

१७. जेणाभिभूतो जहती तु धम्मं  
विद्धंसती जेण कतं च पुण्णं।  
स तिव्वजोती परमप्पमादो,  
कोधो, महाराय! णिरुज्झियव्वो<sup>३</sup> ॥१५॥

जिस क्रोध के वशीभूत होकर व्यक्ति धर्म को छोड़ देता है, जिसके कारण व्यक्ति अपने कृत पुण्यों का नाश कर देता है। हे महाराज! तीव्र ज्वाला एवं परम प्रमाद रूप क्रोध निग्रह करने योग्य है।

१८. हट्ठं करेतीह<sup>४</sup> णिरुज्झमाणो  
भासं करेतीह<sup>५</sup> विमुच्चमाणो।  
हट्ठं च भासं च समिक्ख पण्णे  
कोवं णिरुंभेज्ज सदा जितप्पा ॥१६॥

निग्रह किए जाने पर क्रोध व्यक्ति को हृष्ट करता है और खुला छोड़ देने पर भस्म कर देता है। प्रज्ञावान् और जितेन्द्रिय साधक को हृष्टता और भस्मशीलता की समीक्षा करके सदा क्रोध का निग्रह करना चाहिए।

१९. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, ज्ञानी, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् तारायण ऋषि) कहता हूँ।

१. अधरिं (पा)।

२. गाथा के तृतीय चरण में छंदभंग है।

३. ण मुच्चियव्वो (ला, स, पा, ब)।

४, ५. करेतीह (आ, पा, स, हे)।



सत्ततीसइमं सिरिगिरिज्झयणं

सैंतीसवां अध्ययन : श्रीगिरि



## ३७. ऋषि श्रीगिरि

सैंतीसवें अध्ययन के उपदेष्टा ऋषि हैं—श्रीगिरि। इनके जीवन के बारे में विशेष जानकारी किसी भी परम्परा के साहित्य में नहीं मिलती। इस अध्ययन से केवल यह जानकारी अवश्य मिलती है कि ये ब्राह्मण परिव्राजक थे और वैदिक दर्शन से प्रभावित थे।

इस अध्ययन में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में चर्चा है। सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में प्रायः सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से चिन्तन किया है। पाश्चात्य विचारकों ने भी इस दार्शनिक गुत्थी को सुलझाने का प्रयत्न किया है। ऋग्वेद के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व पहले सब ओर जल था।<sup>१</sup> वहां अण्डा<sup>२</sup> संतप्त हुआ और उससे लोक की उत्पत्ति हुई।<sup>३</sup> यह मान्यता शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रंथों में भी मिलती है।

अग्नि पुराण के अनुसार भगवान ने परिवत्सर पर्यन्त उसमें निवास करके उसे फोड़ा। वह दो खण्डों में विभक्त हो गया। पहले खण्ड से ऊर्ध्वलोक (स्वर्ग) तथा दूसरे से अधोलोक बना।<sup>४</sup> उन दोनों के बीच आकाश था फिर उससे चराचर सृष्टि का निर्माण हुआ।<sup>५</sup> छांदोग्य उपनिषद्<sup>६</sup> और सुबाला उपनिषद्<sup>७</sup> में भी विस्तार से इसके संवादी विचार मिलते हैं। पैंगलोपनिषद् में ऋषि पैंगल और याज्ञवल्क्य के बीच सृष्टि विषयक विस्तृत चर्चा मिलती है।<sup>८</sup> सूत्रकृतांग में सृष्टि सम्बन्धी विभिन्न मतों की चर्चा द्रष्टव्य है।<sup>९</sup>

भागवत के अनुसार वह अण्डा एक हजार वर्ष तक जल में अचेतन रूप में रहा। उसके पश्चात् भगवान् ने उसे जीवित कर दिया। भागवत में यह भी उल्लेख मिलता है कि वह परम पुरुष अंडे को फोड़कर बाहर निकला। उसके हजार सिर, हजार नेत्र तथा हजार बाहु आदि थे।<sup>१०</sup>

मनुस्मृति के अनुसार परमात्मा ने सर्वप्रथम जल की उत्पत्ति की। उसमें शक्ति रूपी बीज को छोड़ा। वह बीज सहस्रों सूर्यों के समान प्रकाशित सुवर्णवत् अण्ड स्वरूप वाला हो गया। उससे सम्पूर्ण लोकों की सृष्टि करने

१. ऋग्वेद १०/१२९/३, शतपथ ११/१/६/१; आपो ह वा इदमग्रे सलिलमेवास।

२. उस अण्डे को वैदिक परम्परा में हिरण्याण्ड भी कहा जाता है।

३. अण्डे से सृष्टि उत्पन्न हुई, इस संदर्भ में भी वैदिकों के विभिन्न मत हैं। देखें इसी अध्ययन के दूसरे सूत्र का टिप्पण।

४. अग्नि १७/९, १०;  
हिरण्यगर्भो भगवानुषित्वा परिवत्सरम्।  
तदण्डमकरोद् द्वैधं, दिवं भुवमथापि च।  
तयोःशकलयोर्मध्ये आकाशमसृजत् प्रभुः ॥

५. अग्नि १७/११-१६।

६. छांदो ३/१९/१-३।

७. सुबालो १/१-५।

८. पैंगलोपनिषद् का प्रथम और द्वितीय अध्याय।

९. सू १ पृ. ४२-४६।

१०. भाग. २/५/३४, ३५ ;

वर्षपूगसहस्रान्ते, तदण्डमुदकेशयम्।  
कालकर्मस्वभावस्थो, जीवोऽजीवमजीवयत् ॥  
स एव पुरुषस्तस्मादण्डं निर्भिद्य निर्गतः।  
सहस्रोर्विड्ग्न्बाह्वक्षः, सहस्राननशीर्षवान् ॥



वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा उस अण्डे में एक वर्ष रहे फिर ध्यान द्वारा अण्डे को दो भागों में विभक्त किया। उन दो टुकड़ों से ब्रह्मा ने स्वर्ग और पृथ्वी की सृष्टि की। बीच में आकाश, आठ दिशाएं एवं जल के आश्रयभूत समुद्र की सृष्टि की।<sup>१</sup> छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार प्रारम्भ में ब्रह्म अद्वितीय अर्थात् अकेला सत् था। उसने चिन्तन किया कि 'मैं बहुत रूप में हो जाऊं' इसलिए उसने तेज की सृष्टि की और फिर जल और अन्न की सृष्टि की।<sup>२</sup> जैसे जल में नमक घुल जाने पर सारा जल नमकीन हो जाता है, वह दिखाई नहीं देता वैसे ही सत् सर्वव्यापक है, पर वह दिखाई नहीं देता।

जैन दर्शन के अनुसार यह विश्व अनादि अनंत है। यह किसी ईश्वरीय शक्ति के द्वारा निर्मित अथवा संचालित नहीं है। यह द्रव्य रूप में शाश्वत और पर्याय रूप में परिवर्तनशील है। यदि सृष्टि की उत्पत्ति में किसी को निमित्तभूत माना जाएगा तो फिर प्रश्न उपस्थित होगा कि पहले बीज हुआ या वृक्ष? जैन दर्शन के अनुसार बीज और वृक्ष—दोनों अनादि हैं अतः सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में तीन कारण हो सकते हैं—१. प्रयोगजन्य २. स्वाभाविक ३. और उभयजन्य। सृष्टि का कुछ भाग मनुष्य के द्वारा प्रयत्न जन्य है। नदी, पहाड़ आदि प्राकृतिक वस्तुएं स्वभावजा सृष्टि हैं तथा कुछ उभयजन्य हैं।

पूरे अध्ययन को गहराई से देखने पर ज्ञात होता है कि इसमें ऋषि का उपदेश अलग-अलग समय में संकलित हुआ है। जैसे तारायण आदि कुछ ऋषियों का उपदेश एक ही विषय के साथ संबद्ध चलता है, वैसी विषय-संबद्धता इस अध्ययन में नहीं है। छोटे से अध्ययन में भी विषय-वैविध्य है।

प्रथम दो सूत्रों में ऋषि ने सृष्टि की उत्पत्ति विषयक दार्शनिक मंतव्य प्रस्तुत किए हैं। तीसरे सूत्र में क्रियाकाण्ड रूप हवन सामग्री और उसके प्रति जागरूक रहने का संकल्प व्यक्त किया है। चौथे सूत्र में संसार को माया रूप में प्रतिपादित किया है। ऋषि वैदिक मान्यता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि यह जगत् अतीत में माया रूप था, वर्तमान में है तथा भविष्य में भी यह माया रूप रहेगा। वैदिक परम्परा प्रकृति को माया के रूप में स्वीकार करती है।<sup>३</sup>

सृष्टि संबंधी गहन दार्शनिक चर्चा के बाद ऋषि ने पांचवें सूत्र में रात्रि में गमनागमन का निषेध तथा दिन में युगप्रमाण भूमि को देखते हुए चलने का निर्देश किया है। यद्यपि वैदिक परम्परा में भी 'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं'<sup>४</sup> का उल्लेख मिलता है फिर भी पाठ को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि जैन दर्शन सम्मत ईर्या समिति से प्रभावित थे, इसी आधार पर उन्होंने गमन-विवेक का वर्णन किया है।

१. मनु १/८-१३।

तत्तेज ऐक्षत बहु स्यां....तदध्यन्नाद्यं जायते।

२. छांदो ६/२/१-४ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

३. श्वेता ४/१०;

तद्भैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्।

सञ्जायत तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत।

४. मनु ६/४६।

### ३७. सिरिगिरिज्जयणं : श्रीगिरि अध्ययन

१. सव्वमिणं पुरा 'उदगमासि त्तिं', सिरिगिरिणा माहणपरिव्वायगेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

यहां पहले सब ओर जल था, ऐसा माहण परिव्राजक अर्हत् श्रीगिरि ऋषि ने कहा ।

२. एत्थ अंडे संतत्ते, एत्थ लोए संभूते, एत्थं सासासे, इयं णे वरुण-विहाणे ।

यहां अंडा संतप्त हुआ, उससे लोक उत्पन्न हुआ। उसने श्वास लिया, (सृष्टि उत्पन्न हुई<sup>१</sup>) यह हमारा वरुण-विधान है<sup>२</sup> ।

३. उभयो कालं उभयो संझं खीरं णवणीतं मधु समिधासमाहारं खीरं संखं च पिंडेत्ता अग्गिहोत्तकुंडं पडिजागरमाणे विहरिस्सामीति, तम्हा एयं सव्वं ति बेमि ।

दोनों काल एवं दोनों सन्ध्याओं में दूध, नवनीत, शहद और समिधा का समाहार करके फिर दूध और सुगंधित द्रव्य विशेष आदि सामग्री का पिण्ड बनाकर अग्नि के हवनकुण्ड के प्रति जागरूक होकर विचरण करूंगा, इसलिए मैं यह सब कहता हूँ<sup>३</sup> ।

४. ण वि माया ण कदाइ णासि ण कदाइ ण भवति ण कदाइ ण भविस्सति य ।

यह संसार अतीत में माया रूप नहीं था, ऐसा नहीं है, वर्तमान में माया रूप नहीं है, ऐसा नहीं है और माया रूप नहीं होगा, ऐसा भी नहीं है (अर्थात् यह विश्व माया रूप है) ।

१. °मासी ति (पा) ।

२. इस सूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में चर्चा है। इसमें वैदिक परम्परा में सृष्टि की उत्पत्ति सम्बन्धी बहुमान्य सिद्धान्त का वर्णन है। यह जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ, इसका वर्णन सुबाला उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण, मनुस्मृति तथा मत्स्यपुराण आदि अनेक ग्रंथों में मिलता है। शतपथ ब्राह्मण (११/१/६/१; आपो ह वा ऽइदमग्रे सलिलमेवास) के अनुसार पहले केवल जल ही जल था। उसके मन में कुछ उत्पन्न करने का विकल्प उठा। जल तपस्या करने लगा। जल में एक अण्डा उत्पन्न हुआ, जो एक वर्ष तक पानी में तैरता रहा। एक वर्ष बाद पुरुष प्रजापति का जन्म हुआ, उसने अण्डे को तोड़ा। उसने एक श्वास से देवताओं को जन्म दिया, फिर अग्नि, इन्द्र, सोम आदि पैदा हुए।

सुबाला उपनिषद् (१/१-५) के अनुसार सुबाला ऋषि ने ब्रह्मा से सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न किया। ब्रह्मा ने उत्तर दिया—'सबसे पहले तमस् उत्पन्न हुआ। उससे क्रमशः भूत, भूत से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। उसके बाद अण्डा

उत्पन्न हुआ। एक वर्ष की परिपक्वता के बाद वह अण्डा फूटा। ऊपर का भाग आकाश, नीचे का पृथ्वी तथा मध्य में दिव्य पुरुष बना।...ब्रह्मा ने सात मानस-पुत्रों को जन्म दिया। वे प्रजापति कहलाए।'

ब्राह्मण मत के उल्लेख के साथ सूयगडो में अण्डे से जगत् की उत्पत्ति हुई, ऐसा वर्णन मिलता है। ग्रीक दार्शनिक थेलिज जल को जगत् का मूल कारण मानता था। सृष्टि सम्बन्धी विविध मतों हेतु देखें ऋषि श्रीगिरि पृ. ३०९, ३१० तथा भगवती भाष्य भा. १ पृ. १३३, १३४।

३. प्रकाशित पुस्तक में यह वरुणदेव का विधान नहीं है, ऐसा उल्लेख है। टीकाकार ने भी कुछ आचार्यों का यह मत है, ऐसा उल्लेख किया है लेकिन यह अर्थ विमर्श की अपेक्षा रखता है। (ऋवृ पृ. १५३)

४. नखी नामक सुगंधित द्रव्य (पाइयसहमहणवो) ।

४. प्रथम दो सूत्रों में ऋषि ने सृष्टि की उत्पत्ति का संक्षिप्त कथन किया है तथा तीसरे सूत्र में दोनों सन्ध्याओं में हवन करने की बात का संकेत किया है। विषय की दृष्टि से यह सूत्र संबद्ध नहीं है।

५. पडुप्पणमिणं सोच्चा<sup>१</sup>, सूरसहगतो गच्छे । जत्थेव सूरिए अत्थमेज्जा खेतंसि वा णिण्णांसि वा तत्थेव णं पादुप्पभायाए रयणीए जाव तेजसा जलंते एवं खलु मे कप्पति पाईणं वा पडीणं वा दाहिणं वा उदीणं वा पुरतो जुगमेत्तं पेहमाणे अहारीयमेव रीडत्तए।<sup>२</sup>

वर्तमान में यह सुनकर साधक सूर्य के साथ गमन करे। (कहने का तात्पर्य यह है कि दिन के प्रकाश में गमन करे।) खेत में या नीची भूमि में, जहां भी सूर्य अस्त हो जाए, रजनी आ जाए, मुमुक्षु वहीं रुक जाए। सूर्य के उदित होने पर पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण दिशा में युगप्रमाण भूमि को देखते हुए ईर्या समिति पूर्वक गमन करे।

६. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् श्रीगिरि ऋषि) कहता हूँ।

१. यह अनुष्टुप् श्लोक का पद प्रतीत होता है। टीकाकार ने भी इसे श्लोकगत मानते हुए यह उल्लेख किया है कि पडुप्पणं इणं सोच्च त्ति प्रत्युत्पन्नं वर्तमानमिदं श्रुत्वेति त्रीणि पदानि श्लोकपाद इव दृश्यन्ते। (ऋवृ पृ. १५३)

२. यह सूत्र पाठ भी विषय के साथ सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता है अतः संभव है इसके बीच का कुछ पाठ लुप्त हो गया हो अथवा यह पाठ बाद में प्रक्षिप्त हुआ हो। सभी हस्तप्रतियों में यह पाठ मिलता है अतः हमने इसे मूल क्रमांक के साथ जोड़ा है।

अद्वतीसइमं साइपुत्तज्झयणं

अइतीसवां अध्ययन : साचिपुत्र



## ३८. ऋषि साचिपुत्र

अड़तीसवें अध्ययन के ऋषि का नाम साचिपुत्र है। डॉ. शूब्रिंग ने साइपुत्र की स्वातिपुत्र छाया की है तथा डॉ. सागरमलजी ने जैन ने सारिपुत्र अथवा स्वातिपुत्र मानकर व्याख्या की है लेकिन ये दोनों ही संस्कृत रूपान्तरण विमर्श की अपेक्षा रखते हैं। यहां 'साइपुत्र' का संस्कृत रूप साचिपुत्र होना चाहिए, जो भगवान् बुद्ध का वाचक है। भगवान् बुद्ध की मां का नाम माया था। अभिधान चिन्तामणि में बुद्ध के लिए 'मायासुत' शब्द का प्रयोग हुआ है।<sup>१</sup> माया का पर्याय साचि भी होता है अतः उनका एक नाम 'साचिपुत्र' हो सकता है। प्राचीन-साहित्य की यह विशेषता रही है कि व्यक्ति या स्थान के लिए पर्यायवाची शब्द लगाकर उसका उल्लेख किया जाता था, जैसे — रतनगढ़ के लिए वसुगढ़, रत्नदुर्ग आदि। साचिपुत्र का प्राकृत रूप 'साइपुत्र' बनता है।

इस बात को पुष्ट करने में एक सबल तर्क यह भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि ४५ ऋषियों में भगवान् बुद्ध का वाचक कोई नाम नहीं मिलता। उनको छोड़कर उनके शिष्य का नाम लिया जाए, यह तर्क संगत नहीं लगता अतः यह साचिपुत्र नाम बुद्ध का वाचक होना चाहिए। दूसरी बात 'साइपुत्र' के आगे 'बुद्ध' शब्द का उल्लेख भी इस बात को प्रकट करता है कि साइपुत्र भगवान् बुद्ध का ही वाचक होना चाहिए।

अध्ययन की प्रथम गाथा बौद्ध दर्शन के सिद्धान्त को व्यक्त करने वाली है। सूत्रकृतांग में उल्लिखित 'सातं सातेण विज्जई' पर विस्तृत व्याख्या आचार्य महाप्रज्ञ ने सूत्रकृतांग<sup>२</sup> के आमुख और टिप्पण में की है।

यद्यपि साचिपुत्र बुद्ध इस अध्ययन में प्रकारान्तर से निर्ग्रन्थों की कठोर चर्या का विरोध करते दिखाई देते हैं। वे अच्छे ध्यान आदि के लिए मनोज्ञ भोजन, मनोज्ञ शयनासन और मनोज्ञ घर के उपयोग की बात कहते हैं, फिर भी प्राप्त सुविधा में आसक्त न होकर इन्द्रिय-संयम का विवेक भी प्रदान करते हैं।

प्रायः व्यक्ति निमित्त को अच्छा या बुरा मानते हैं लेकिन ऋषि बुद्ध ने इस शाश्वत सत्य को प्रकट किया है कि जैसे वैद्य द्वारा प्रदत्त चिकित्सा-विधि न सुखद है, न दुःखद लेकिन वह चिकित्सा व्यक्ति के लिए सुख या दुःख का कारण बन सकती है, वैसे ही मोहक्षय के हेतु न सुखद हैं न दुःखद लेकिन मोहक्षय में संलग्न व्यक्ति को वे सुखद या दुःखद लगते हैं। सर्वज्ञ की वाणी सामान्य व्यक्ति के लिए कथन के रूप में गृहीत होती है, वही वाणी विशेष व्यक्तियों के लिए रहस्य का उद्घाटन करने वाली होती है।

बुद्ध के अनुसार व्यक्ति का मन और इन्द्रियां शान्त हैं तो उसके लिए शून्यगृह, अरण्य और वन में कोई अंतर नहीं होगा लेकिन सशल्य व्यक्ति के लिए वही स्थान पीड़ा का कारण बन सकता है। साचिपुत्र बुद्ध ने इस बात पर बहुत बल दिया है कि भिक्षु को मुनि वेश के विरुद्ध कोई आचरण नहीं करना चाहिए क्योंकि व्यवहार में लिंग अथवा वेश का ही महत्त्व होता है।

१. अभि २/१५१।

२. सू १/३/६६ पृ. ८९, ९०।

इस अध्ययन में साचिपुत्र बुद्ध ने अनेक कथाओं का संक्षेप में कथन किया है। इसकी कुछ कथाएं जातक कथाओं में तथा कुछ पंचतंत्र में मिलती हैं। जातक की कथाएं पंचतंत्र में ली गईं या पंचतंत्र की जातक में सम्मिलित की गईं, यह स्वतंत्र शोध का विषय है। इसमें कुछ कथाओं के संकेत इतने संक्षिप्त हैं कि इन कथाओं की खोज करना ही कठिन कार्य है, जैसे—पडिहत्थिं स जोएंतो, तडं घातेति वारणो।

कुल मिलाकर यह अध्ययन मध्यममार्ग को प्रस्तुत करता हुआ भी अध्यात्म की नई दृष्टियां प्रदान करता है।

### ३८. साइपुत्तज्जयणं : साचिपुत्र अध्ययन

१. जं सुहेण सुहं लब्धं, अच्चंतसुहमेव तं।  
जं सुहेण दुहं लब्धं, मा मे तेण समागमो ॥ १ ॥  
साइपुत्तेण बुद्धेण अरहता इसिणा बुद्धं।

सुख से जो सुख प्राप्त होता है, वही आत्यन्तिक सुख है। सुख से जो दुःख प्राप्त होता है, उस सुख से मेरा सम्पर्क न हो, ऐसा अर्हत् साचिपुत्र बुद्ध ने कहा।

२. मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं सयणासणं।  
मणुण्णंसि अगारंसि, ज्ञाति भिक्खू समाहिण्णं ॥ २ ॥

मनोज्ञ भोजन, मनोज्ञ शयन-आसन तथा मनोज्ञ घर का उपभोग करके भिक्षु समाधिस्थ होकर ध्यान करता है।

१. सूत्रकृतांग (१/३/६६) में इस मत का उल्लेख इस भाषा में मिलता है—

इहमेगे उ भासंति, सातं सातेण विज्जई।  
जे तत्थ आरियं मग्गं, परमं च समाहियं ॥

आचार्य महाप्रज्ञ ने इस श्लोक की व्याख्या करते हुए आमुख में कहा है कि बौद्धों का यह अभिमत है कि हम यहां (वर्तमान में) सुखपूर्वक जी रहे हैं, यहां से मरकर हम मोक्षसुख को प्राप्त करेंगे। सुख से ही सुख की प्राप्ति होती है। बौद्धों की प्रसिद्ध उक्ति है—

मृद्धी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराहे।  
द्राक्षाखण्डं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥

भगवान् बुद्ध ने निर्ग्रन्थों पर यह आक्षेप लगाया कि ज्ञातपुत्र तपस्या आदि कायक्लेश से मोक्ष की प्राप्ति बताते हैं, जिसका अर्थ है दुःख से सुख की प्राप्ति लेकिन यह मिथ्या मान्यता है। सुख से ही सुख मिल सकता है। (सू १ पृ. ८९) सूत्रकृतांग के चूर्णिकार ने बौद्धों के इस मत का निराकरण करते हुए कहा है कि यदि सुख से सुख प्राप्त होता तो राजा आदि अमीर आदमी अगले जन्म में सुखी ही होंगे, किन्तु ऐसा नहीं होता। दुःख से सुख प्राप्त हो तो अनेक दुःख झेलने वाले गरीब लोग अगले जन्म में सुखी होंगे, किन्तु ऐसा भी नहीं देखा जाता है। (सूचू १ पृ. ९६, ९७) इस प्रसंग में भगवान् बुद्ध के चार धर्म समादानों का वर्णन ज्ञातव्य है। भगवान् बुद्ध ने श्रावस्ती नगरी के जेतवन के अनाथपिण्डिक उद्यान में भिक्षुओं को आमंत्रित करके चार धर्म-समादानों की प्ररूपणा की—

- \* वर्तमान में सुख, भविष्य में दुःख
- \* वर्तमान में दुःख, भविष्य में दुःख
- \* वर्तमान में दुःख, भविष्य में सुख
- \* वर्तमान में सुख, भविष्य में सुख

(मज्झिमनिकाय १/४५/१; चत्तारिमानि भिक्खवे धम्मसमादानानि—अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पच्चुप्पन्नसुखं, आयतिं दुक्खविपाकं। अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पच्चुप्पन्नदुक्खं चैव, आयतिं च दुक्खविपाकं। अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पच्चुप्पन्नदुक्खं, आयतिं सुखविपाकं। अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पच्चुप्पन्नसुखं चैव, आयतिं च सुखविपाकं।) इस गा. के सिद्धान्त का चौथे समादान से सम्बन्ध कहा जा सकता है।

निर्ग्रन्थ परम्परा न सुख से सुख की प्राप्ति स्वीकार करती है और न ही दुःख से सुख की प्राप्ति, ये दोनों अपसिद्धान्त हैं। सुख की प्राप्ति कर्म-निर्जरा से होती है।



३. अमणुण्णं भोयणं भोच्चा, अमणुण्णं सयणासणं।

अमणुण्णंसि गेहंसि, दुक्खं भिक्खू झियायती ॥३॥

अमनोज्ञ भोजन, अमनोज्ञ शयन-आसन तथा अमनोज्ञ घर में रहकर भिक्षु दुःखपूर्वक ध्यान करता है।

४. एवं<sup>१</sup> अणोगवण्णागं, तं परिच्चज्ज पंडिते।

णण्णत्थ लुब्भती पण्णे, एयं बुद्धाण सासणं ॥४॥

इस प्रकार अनेकविध आकर्षण युक्त पदार्थों को छोड़कर प्रज्ञावान् साधक कहीं लुब्ध न बने, यही बुद्धों का अनुशासन है।

५. णाणावण्णेसु सद्देसु, सोयपत्तेसु बुद्धिमं।

गेहिं वायपदोसं वा, सम्मं वज्जेज्ज पंडिते ॥५॥

श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा अनेक प्रकार के शब्दों की प्राप्ति होने पर बुद्धिमान् साधक वाणी से होने वाले राग-द्वेष का परित्याग करे।

६. णाणावण्णेसु रूवेसु, चक्खुपत्तेसु बुद्धिमं।

गेहिं रूवपदोसं वा, सम्मं वज्जेज्ज पंडिते<sup>२</sup> ॥

चक्षु द्वारा अनेकविध रूपों की प्राप्ति होने पर बुद्धिमान् साधक रूप से होने वाले राग-द्वेष का परित्याग करे।

७. णाणावण्णेसु गंधेसु, घाणपत्तेसु बुद्धिमं।

गेहिं गंधपदोसं वा, सम्मं वज्जेज्ज पंडिते ॥

नासिका द्वारा अनेकविध गंध की प्राप्ति होने पर बुद्धिमान् साधक गंध से होने वाले राग-द्वेष का परित्याग करे।

८. णाणावण्णेसु रसेसु<sup>३</sup>, जिब्भपत्तेसु बुद्धिमं।

गेहिं रसपदोसं वा, सम्मं वज्जेज्ज पंडिते ॥

जिह्वा के द्वारा अनेकविध रस की प्राप्ति होने पर बुद्धिमान् साधक रस से होने वाले राग-द्वेष का परित्याग करे।

९. णाणावण्णेसु फासेसु, तयपत्तेसु बुद्धिमं।

गेहिं फासपदोसं वा, सम्मं वज्जेज्ज पंडिते ॥

त्वचा के द्वारा अनेकविध स्पर्श की प्राप्ति होने पर बुद्धिमान् साधक स्पर्श से होने वाले राग-द्वेष का परित्याग करे।

१. रूवं (पा, ब)।

२. ६ से ९ तक की गाथाओं के लिए पा और हे प्रति में केवल

‘रूवेसु गंधेसु रसेसु फासेसु अप्पण्णाभिलावेणं’ इतना उल्लेख है।

३. गाथा के प्रथम चरण में छंदभंग है।

१०. पंच जागरओ सुत्ता, अप्पदुक्खस्स कारणा।  
तस्सेव तु विणासाय, 'पण्णे वट्टिज्ज संततं'<sup>१</sup> ॥ ६ ॥

जागृत भिक्षु की पांचों इंद्रियां सुप्त रहती हैं अतः वे दुःख का कारण नहीं बनतीं। प्रज्ञावान् साधक सदैव उसमें होने वाली आसक्ति के विनाश हेतु प्रयत्न करे।

११. वाहिक्खयाय दुक्खं वा, सुहं वा णाणदेसितं।  
मोहक्खयाय एमेव, दुहं वा जइ वा सुहं ॥ ७ ॥

व्याधि-क्षय के लिए ज्ञान द्वारा उपदिष्ट सुखद एवं दुःखद दोनों हेतु हो सकते हैं। इसी प्रकार मोहक्षय के लिए भी सुखद और दुःखद—दोनों प्रकार के हेतु हो सकते हैं।

१२. ण दुक्खं ण सुहं वावि, जहा हेतु तिगिच्छति।  
तिगिच्छिण सुजुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं ॥ ८ ॥

जिस हेतु से वैद्य रोग की चिकित्सा करता है, वह न दुःखद है न सुखद। लेकिन चिकित्स्य (रुग्ण) व्यक्ति के लिए वह सुख या दुःख का कारण बन सकता है।

१३. मोहक्खए उ जुत्तस्स, दुक्खं वा जइ वा सुहं।  
मोहक्खए जहा हेऊ, 'न दुक्खं न वि वा सुहं'<sup>२</sup> ॥ ९ ॥

मोह क्षय के जो हेतु हैं, वे न दुःखद हैं न सुखद। लेकिन मोहक्षय में संलग्न व्यक्ति के लिए वे सुख या दुःख के कारण बन सकते हैं।

१४. तुच्छे जणम्मि संवेगो<sup>३</sup>, निव्वेदो<sup>४</sup> उत्तमे जणे।  
अत्थित्तादीण भावाणं, विसेसो उवदेसणं ॥ १० ॥

अस्तित्व आदि से संबंधित पदार्थों का उपदेश देने पर सामान्य लोगों में संवेग तथा उत्तम लोगों में निर्वेद—वैराग्य पैदा होता है।

१५. सामण्णे 'गीत णं माणा'<sup>५</sup>, विसेसे मम्मवेधिणी।  
सव्वण्णुभासिता वाणी, णाणावत्थोदयंतरे ॥ ११ ॥

सर्वज्ञभाषित वाणी नाना अवस्था और उदय के भेद से सामान्य लोगों में गीत (कथन) के रूप में प्रसिद्ध होती हैं तथा विशेष लोगों के लिए रहस्य का उद्घाटन करने वाली होती है।

१६. सव्वसत्तोदयोवेतो<sup>६</sup>, णारम्भो ण परिग्गहो।  
सत्तं तवं दयं चेव, भासंति जिणसत्तमा ॥ १२ ॥

सब प्राणियों के प्रति दया से युक्त महान् जिनेश्वर भगवान् सबके लिए अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य, तप और दया का उपदेश देते हैं।

१. इस गाथा की व्याख्या हेतु देखें २९/२ का चौथा और पांचवां टिप्पण।

२. दुक्खं वा जति वा सुहं (पा)।

३. संवेग के लिए वृत्तिकार ने आचार्य सिद्धसेन की परिभाषा दी है—  
—संवेगो नरकादिगत्यवलोकनात् संभूतिनिर्वेदो विषयेष्वन—

भिषङ्ग इति सिद्धसेनः (ऋवृ पृ. १५४)

४. निव्वेदो (आ, ला, पा, स)।

५. गीतणीमाणा (अ, पा, पु, हे)।

६. \*सत्तदयो वेसो (पु, पा, ब)।

१७. दंतिंदियस्स वीरस्स, किं रण्णेणऽस्समेण वा ?

जत्थ जत्थेव मोदेज्जा<sup>१</sup>, तं रण्णं सो य अस्समो ॥ १३ ॥

दमितेन्द्रिय वीर को अरण्य अथवा आश्रम से क्या प्रयोजन ? जहां कहीं भी प्रसन्नता की अनुभूति होती है, वही उसके लिए अरण्य है और वही उसके लिए आश्रम है।

१८. किमदंतस्स<sup>२</sup> रण्णेणं, दंतस्स वा<sup>३</sup> किमस्समे ?

णातिक्कंतस्स भेसज्जं, ण वा सत्थस्सऽभेज्जता ॥ १४ ॥

पथ्य का अतिक्रमण करने वाले के लिए कोई औषध नहीं होती तथा शस्त्र के लिए कुछ अभेद्य नहीं होता। इसी प्रकार अदान्त को अरण्य और दमितेन्द्रिय को आश्रम से क्या प्रयोजन ?

१९. सुभावभावितप्पाणो<sup>४</sup>, सुण्णं रण्णं वणं पि वा।

सव्वमेतं हि झाणाय, सल्लचित्ते व<sup>५</sup> सल्लिणो ॥ १५ ॥

अच्छे भावों से भावित आत्मा के लिए शून्यगृह, अरण्य और वन—ये सभी स्थान ध्यान में साधक हो जाते हैं लेकिन सशल्य हृदय वाले के लिए ये ही स्थान हृदय में शल्य की पीड़ा देने अर्थात् आर्तध्यान के निमित्त बन जाते हैं।

२०. दुहरूवा दुरंतस्स, णाणावत्था वसुंधरा।

कम्मादाणाय सव्वं पि, कामचित्ते व कामिणो ॥ १६ ॥

विविध अवस्थाओं वाली यह वसुंधरा दुष्ट अंतःकरण वाले के लिए दुःखरूप तथा कर्म ग्रहण करने की निमित्तभूत है, जैसे कामी व्यक्ति के लिए समस्त पदार्थ कामोत्पत्ति के निमित्तभूत बन जाते हैं।

२१. सम्मत्तं च दयं चैव, णिण्णिदाणो य जो दमो।

तवो जोगो य सव्वो वि, सव्वकम्मक्खयं करो ॥ १७ ॥

सम्यक्त्व, दया, निदान रहित संयम, तप और योग—ये सभी सम्पूर्ण कर्मक्षय के निमित्तभूत बनते हैं।

२२. सत्थकं वावि आरंभं, जाणेज्जा य णिरत्थकं।

पडिहत्थिं<sup>६</sup> स जोएंतो, तडं घातेति वारणो ॥ १८ ॥

सार्थक आरम्भ (हिंसा) को भी निरर्थक जानना चाहिए। अपने ही प्रतिबिम्ब रूप हाथी को प्रतिद्वन्दी के रूप में देखकर हाथी तालाब के तट को तोड़ देता है।<sup>७</sup>

२३. जस्स कज्जस्स जो जोगो, साहेतुं तेण<sup>८</sup> पच्चलो।

कज्जं वज्जेति तं सव्वं, कामी वा णग्गमुंडणं ॥ १९ ॥

जिस कार्य के लिए जो व्यक्ति योग्य है, वही उसे सिद्ध करने में समर्थ होता है। जो योग्य और समर्थ नहीं

१. मोदेंतो (अ)।

२. किमु दं (पु)।

३. व (अ, पा)।

४. सभाव<sup>०</sup> (आ, ला)।

५. य (ब)।

६. °हत्थिस्स (अ, पा, स)।

७. इस गाथा में कथा का संकेत प्रतीत होता है लेकिन उपलब्ध न होने से उसका संकेत तथा विस्तार नहीं किया गया है।

८. जेण (ब, ला)।

होता, वह सारे कार्यों को छोड़ देता है, जैसे कामी व्यक्ति नग्नत्व और मुंडत्व—मुनि-वेश का त्याग कर देता है।

२४. जाणेज्जा सरणं धीरो, ण कोडिं देति दुग्गतो।

ण सीहं दप्पियं छेयं, णेभं भेज्जाहि जंबुगो ॥ २० ॥

धीर व्यक्ति शरण को जाने। गरीब व्यक्ति कोड़ी भी नहीं दे सकता। गीदड़ दृप्त सिंह और कुशल हाथी का भेदन नहीं कर सकता।<sup>१</sup>

२५. वेसपच्चाणऽसंबद्धं, सव्वद्धं वारए सदा।

णाणा<sup>३</sup>-अरति-पायोग्यं, णालं धारेति<sup>४</sup> बुद्धिमं ॥ २१ ॥

साधक को मुनि वेश के विश्वास के विरुद्ध सभी मार्गों का सदा वर्जन करना चाहिए। बुद्धिमान् अनेक प्रकार की संयम में अरति से युक्त क्रिया को सहन नहीं करता।

२६. बंभचारी जई कुद्धो, वज्जेज्ज मोहुदीवणं<sup>५</sup>।

ण मूहस्स तु वाहस्स, मिगे अप्पेति सायकं ॥ २२ ॥

क्रुद्ध ब्रह्मचारी साधु को मोह को प्रदीप्त करने वाली परिस्थितियों का वर्जन करना चाहिए। मूढ़ शिकारी के बाण मृग को नहीं बींध सकते।

२७. पच्चाणं<sup>६</sup> चेव रूवं च<sup>७</sup>, णिच्छयम्मि विभावए।

किमत्थं गायते वाहो, तुण्हक्का वावि पक्खिया ॥ २३ ॥

निश्चय में साधक वेश और रूप के विश्वास पर चिन्तन करे। शिकारी किसी भी प्रयोजन से गाता हो, उसको सुनकर पक्षी चुप हो जाते हैं<sup>८</sup>।

२८. कज्जणिव्वत्तिपाओगं, आदेयं कज्जकारणं।

मोक्खनिव्वत्तिपाओगं, विण्णेयं तं विसेसतो ॥ २४ ॥

लौकिक कार्य की निष्पत्ति के लिए कार्य और कारण को ग्रहण करना आवश्यक है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए भी विशेष रूप से उसके योग्य साधन-सामग्री को जानना चाहिए।

२९. परिवारे चेव वेसे य, 'भावे तं'<sup>९</sup> तु विभावए।

परिवारे वि गंभीरे, ण राया णीलजंबुगो ॥ २५ ॥

परिवार में रहे या मुनि वेश में, भावितात्मा को आत्मचिंतन करते रहना चाहिए। बड़ा परिवार होने पर भी

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि २, कथा सं. ६।

२. संबद्धं (पु), असंबद्धं (वृ)।

३. णाणी (आ, ला, पा)।

४. धारेतु (पु, ला)।

५. मोहदी<sup>५</sup> (आ, ला, पा)।

६. पत्थाणं (अ, पा)।

७. तु (आ, ला)।

८. टीकाकार के अनुसार इस गाथा का भावार्थ यह है कि शिकारी यदि गाता है तो भी उसके वेश और लिंग से पक्षी उसके हिंसक अभिप्राय को जान जाते हैं। (ऋवृ पृ. १५५)

९. भावितं (पु), भवे तं (अ)।

नीला सियार जंगल का राजा नहीं बन सकता ।<sup>१</sup>

३०. अत्थादाइं जणं जाणे, णाणाचित्ताणुभासकं ।

अत्थादाईण वीसंगो, पासंतस्सऽत्थसंतती<sup>२</sup> ॥ २६ ॥

नाना प्रकार से अर्थ-संग्रह करने वाले व्यक्ति को मीठा बोलकर अनेक व्यक्तियों के चित्त को आकृष्ट करने वाला समझना चाहिए। अर्थ का संग्रहण करने वाले व्यक्ति की अर्थ-ग्रहण की परम्परा को देखकर उससे सम्पर्क नहीं करना चाहिए।

३१. डंभकप्पं कत्तिसमं, णिच्छयम्मि विभावए ।

‘णिखिलामोसकारिं तु, उवचारम्मि परिच्छती<sup>३</sup> ॥ २७ ॥

दम्भपूर्ण आचरण को निश्चय में सिंहचर्म से आच्छादित गधे के समान समझना चाहिए।<sup>४</sup> पूर्ण रूप से असत्य का आचरण करने वाले की उपचार—व्यवहार में परीक्षा होती है।

३२. सब्भावे दुब्बलं जाणे, णाणावण्णाणुभासकं ।

पुप्फादाणे सुणंदा वा, पवकारघरं गता<sup>५</sup> ॥ २८ ॥

नाना प्रकार की अनुकूल भाषा बोलने वाले को स्वभाव से दुर्बल जानना चाहिए। पुष्प ग्रहण करने के लिए सुनंदा चांडाल के घर चली गई।

३३. दव्वे खेत्ते य काले य, सव्वभावे य सव्वधा ।

सव्वेसिं लिंगजीवाणं, भावाणं तु विहावए ॥ २९ ॥

संसार के सब लिंगजीवियों—वेशधारियों के भावों को द्रव्य, क्षेत्र, काल और सर्व भावों से सब प्रकार से जानना चाहिए।

३४. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् साचिपुत्र बुद्ध ऋषि) कहता हूँ।

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि २, कथा सं. ७।

२. दाएतऽत्थस्स सं (आ, ला, पा, स)।

३. ण खिला मुसलारित्तु उवयारम्मि परिच्छतो (आ, ला, ब, पा, स, हे), न खिला मुसुकारिओ उवयारम्मि परिच्छतो (अ)।

४. यह कथा सीहचम्म जातक में मिलती है। कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. ८।

५. दुप्फले (अ, स)।

६. पदका° (आ, ला, पा, ब)।

७. कथा स्पष्ट न होने के कारण वृत्तिकार ने केवल इतना ही संकेत किया है—अस्य तु श्लोकार्थस्यार्थः कथाया अज्ञात-त्वादस्पष्ट एव (ऋवृ पृ १५५)। परम्परा के अभाव में इस कथा का विस्तार लिखना शक्य नहीं है।

८. × (पा)।

एगूणचत्तालीसइमं संजयज्झयणं

उनचालीसवां अध्ययन : संजय



## ३९. ऋषि संजय

उनचालीसवें अध्ययन के उपदेष्टा ऋषि हैं—संजय। ये उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन में वर्णित राजा संजय होने चाहिए। ये कांपिल्य नगर में राज्य करते थे। एक बार वे केसर उद्यान में शिकार हेतु गए, वहां उन्होंने मृगों का शिकार किया। उद्यान में गर्दभालि मुनि को देखकर राजा भयभीत हो गए कि कहीं मुनि मुझे श्राप न दे दें। उन्होंने बद्धाञ्जलि मुनि को निवेदन किया कि आप अपराध के लिए मुझे क्षमा करें और जीवन-विकास के लिए प्रतिबोध दें। मुनि ने उन्हें संसार की अनित्यता और अहिंसा के माहात्म्य का बोध करवाया। राजा संजय विरक्त होकर गर्दभालि मुनि के पास दीक्षित हो गए।<sup>१</sup>

प्रो. सागरमलजी जैन ने सारिपुत्र के पूर्व गुरु और बुद्ध के समकालीन छह प्रसिद्ध तीर्थकरों में से एक संजयवेलट्टिपुत्त के रूप में ऋषि संजय की संभावना व्यक्त की है<sup>२</sup> लेकिन संजयवेलट्टिपुत्त के साथ इस अध्ययन के ऋषि की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि संजयवेलट्टिपुत्त अज्ञानवाद या संशयवाद के समर्थक थे जबकि इस अध्ययन के उपदेश में कहीं भी अज्ञान या संशय का आभास नहीं मिलता। भले ही इस गाथा में गर्दभालि मुनि के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है लेकिन अध्ययन की अंतिम गाथा से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन में वर्णित राजा संजय ही होने चाहिए।

ठाण<sup>३</sup> में उल्लेख है कि भगवान् महावीर ने वीराङ्गक आदि आठ राजाओं को दीक्षित किया, उसमें एक नाम संजय राजा का था। ये राजा संजय कौन थे, इसके बारे में व्याख्या-साहित्य मौन है। इनके बारे में यह संभावना व्यक्त की जा सकती है कि ये गर्दभालि ऋषि से प्रतिबुद्ध हुए हों और दीक्षा भगवान् महावीर के पास ली हो फिर भी इस संदर्भ में गहन खोज की आवश्यकता है। महाभारत में संजय राजा का उल्लेख मिलता है<sup>४</sup>, जिसका प्राकृत रूप संजय ही होता है लेकिन ऋषिभाषित के ऋषि के साथ इनका सम्बन्ध जोड़ना शोध का विषय है।

अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए ऋषि कहते हैं कि जो धृतिमान और तेजस्वी व्यक्ति पापकर्म नहीं करता, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं। पाप करने वाला व्यक्ति स्वयं अपने पथ को अंधकार से भर देता है। पाप से बचने वाला व्यक्ति अपने जीवन को सूर्य के समान प्रभास्वर बना लेता है।

ऋषि इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को जानते हैं कि छद्मस्थ व्यक्ति से गलती होना बहुत सहज है अतः वे प्रेरणा देते हुए कहते हैं कि यदि कभी एक बार पाप का आचरण हो जाए तो दुबारा उसकी पुनरावृत्ति न की जाए।

१. उ १८/१-१९, ऋषिमं ११८ टी प. १२९, १३०।

२. ऋषि पृ. ८७।

३. ठाणं ८/४१ ;

वीरंगए वीरजसे, संजय एणिज्जए य रायरिसी।

सेये सिवे उदायणे, तह संखे कासिवद्धणे॥

४. महा सभा ८/१५; अङ्गो रिष्टश्च वेनश्च, दुष्यन्तः सूज्जयो जयः।



आचारांग सूत्र में महावीर ने इसी तथ्य को निम्न सूक्त द्वारा प्रकट किया है कि 'इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाणं'<sup>१</sup>—अब मैं वह गलती नहीं करूंगा, जो मैंने पूर्व में प्रमाद के कारण की थी।

पाप-प्रक्षालन की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हुए ऋषि कहते हैं कि व्यक्ति को एकान्त में किए गए पापों की भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्म और अध्यवसाय से माया रहित होकर यथार्थ रूप में गुरु के समक्ष आलोचना करनी चाहिए। आलोचना के इस प्रकरण के पीछे ऋषि का अपना अनुभव भी बोल रहा है। मृगों का वध होने के बाद ऋजुता के साथ ऋषि गर्दभालि के समक्ष अपने दुष्कृत्य को प्रस्तुत करके उन्होंने हल्केपन का अनुभव किया था। अंत में ऋषि संक्षेप में अपने जीवन के घटना प्रसंग को प्रस्तुत करके संकल्प व्यक्त करते हैं कि अब मुझे रसयुक्त भोजन और सुंदर मकान से कोई प्रयोजन नहीं है। प्रस्तुत संकल्प उनके सांसारिक जीवन से विरक्ति के तथ्य को प्रकट कर रहा है।

ऋषि के कथन से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने यह संकल्प गर्दभालि के समक्ष कानन में व्यक्त किया है लेकिन उन्होंने यहां अपने गुरु के नाम का उल्लेख नहीं किया। नामोल्लेख न होने के दो कारण हो सकते हैं— या तो यह प्रसंग कालान्तर में इस अध्ययन से लुप्त हो गया अथवा यह घटना उत्तराध्ययन के माध्यम से इतनी प्रसिद्ध हो चुकी थी कि ऋषि को इस उल्लेख की आवश्यकता महसूस नहीं हुई। संक्षिप्त होते हुए भी यह अध्ययन जीवन को ऊर्जस्वल और प्रभास्वर बनाने की प्रेरणा देता है।

---

१ आ १/७०।

## ३९. संजयज्ज्ञयणं : संजय अध्ययन

१. जो<sup>१</sup> पुमं पावकं कम्मं, नेव कुज्जा ण कारवे।  
देवावि तं णमंसति, धितिमं दित्ततेजसं ॥ १ ॥

जो धृतिमान् और दीप्त तेजस्वी साधक पापकारी कार्यों को न स्वयं करता है और न दूसरों से करवाता है, उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

२. जे णरे कुव्वती<sup>२</sup> पावं, अंधकारं महं करे।  
अणवज्जं पंडिते किच्चा, आदिच्चेव पभासती ॥ २ ॥

जो व्यक्ति पापकारी कार्य करता है, वह अपने जीवन को घोर अंधकारमय बनाता है। पंडित व्यक्ति पापरहित कार्य करके सूर्य की भांति प्रकाशित होता है।

३. सिया पावं सइं कुज्जा, तं ण कुज्जा पुणो पुणो।  
णाणी कम्मं च णं कुज्जा, साधुकम्मं वियाणिया ॥ ३ ॥

कदाचित् एक बार पाप कर्म का आचरण हो जाए तो साधक बार-बार उसकी पुनरावृत्ति न करे। ज्ञानी व्यक्ति अच्छे कार्यों को जानकर उन्हीं का आचरण करे।

४. सिया पावं सइं<sup>३</sup> कुज्जा, कुज्जा तं तु पुणो पुणो।  
संनिकायं<sup>४</sup> च णं कुज्जा, साहु भुज्जो वि जायति ॥ ४ ॥

कदाचित् एक बार पाप का आचरण हो जाए तो साधक बार-बार उसकी पुनरावृत्ति करके कई पापों को इकट्ठा न करे। पाप का संचय करने वाला पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता है।

५. रहस्से खलु भो पावं कम्मं समज्जिणित्ता दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ कम्मओ<sup>५</sup>  
अज्झवसायओ सम्मं अपलिउंचमाणे जहत्थं आलोएज्जा, संजएणं अरहता इंसिणा बुइतं।

एकान्त में अर्जित किए गए पाप का भी साधक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कर्म और अध्यवसाय से माया रहित होकर यथार्थ रूप में आलोचना<sup>६</sup> करे, ऐसा अर्हत् संजय ऋषि ने कहा।

१. जे<sup>०</sup> (पा)।

२. कुज्जति (ब)।

३. × (पा)।

४. से निकायं (आ, ला पु)।

५. यहां 'कमओ' पाठ होना चाहिए। अर्थात् जिस क्रम से दोष सेवन किया है, उसी क्रम से आलोचना करना। कर्मतः शब्द का आलोचना के साथ सम्बन्ध नहीं बैठता है।

६. इस सूत्र में आलोचना करने की शुद्ध विधि का निर्देश है। द्रव्य से शुद्ध आलोचना का तात्पर्य है कि सचित्त की प्रतिसेवना करके सचित्त की आलोचना करना। यदि साधु सचित्त की

प्रतिसेवना करके अचित्त की आलोचना करता है तो वह द्रव्यतः अशुद्ध आलोचना है। इसी प्रकार जनपद में आलोचना करके अटवीगत मार्ग की आलोचना करना क्षेत्रतः अशुद्ध आलोचना है। जनपद की आलोचना करना क्षेत्रतः शुद्ध आलोचना है। सुभिक्ष में प्रतिसेवना करके दुर्भिक्ष की आलोचना करना मायापूर्वक आलोचना है। सुभिक्ष में दोष-सेवन करके सुभिक्ष की आलोचना करना शुद्ध आलोचना है। सुभिक्ष में प्रतिसेवना करके दुर्भिक्ष की आलोचना करना कालतः अशुद्ध आलोचना है। तीव्र परिणामों से दर्प प्रतिसेवना करके कल्प प्रतिसेवना की आलोचना करना अशुद्ध आलोचना है। यथार्थ आलोचना करना भावतः शुद्ध आलोचना है।

६. ण वि अत्थि रसेहिं भद्गेहिं, संवासेण य भद्गेण य, जत्थ मिए काणणोसिते उवणामेति  
वहाए संजए<sup>१</sup> ॥ ५ ॥

वन में रहने वाले मृगों के वध के लिए लिए आए हुए राजा संजय ने (मुनि के समक्ष) समर्पण व्यक्त करते हुए कहा कि मुझे अब अच्छे रसयुक्त भोजन और सुंदर मकान से कोई प्रयोजन नहीं है।<sup>१</sup>

७. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति  
बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् संजय ऋषि) कहता हूँ।

---

१. संजमे (पा), मुद्रित पुस्तक में यह पद्य रूप में है लेकिन यह गद्यांश होना चाहिए। २. कथा के विस्तार हेतु देखें परि २, कथा सं. ९।

चत्तलीसइमं दीवायणज्झयणं

चालीसवां अध्ययन : द्वैपायन



## ४०. ऋषि द्वैपायन

इस अध्ययन के चालीसवें ऋषि का नाम है—द्वैपायन। द्वैपायन ऋषि तीनों परम्पराओं में प्रसिद्ध हैं। समवाओ के अनुसार ये आगामी उत्सर्पिणी में अनिवर्ति नामक बीसवें तीर्थकर होंगे।<sup>१</sup> सूत्रकृतांग में इनके लिए उल्लेख मिलता है कि इन्होंने सचित्त जल, बीज और हरियाली का सेवन करते हुए सिद्धि प्राप्त की।<sup>२</sup> चूर्णिकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि ये महाभारत और पुराण में आख्यात हैं तथा निर्ग्रन्थ शासन में ऋषिभाषित आदि जैन ग्रंथों में सम्मत हैं।<sup>३</sup> चूर्णिकार के अनुसार ये पहले राजा थे फिर वनवास प्राप्त करके निर्वाण को प्राप्त हो गए।<sup>४</sup> औपपातिक सूत्र में आठ ब्राह्मण परिव्राजकों की परम्परा में एक द्वीपायन ऋषि का नाम है। ये चारों वेद, इतिहास, निघण्टु, षष्टितंत्र, शिक्षाकल्प, व्याकरण, छंद, निरुक्त और ज्योतिष आदि के पारंगत विद्वान् थे।<sup>५</sup>

अंतकृद्दशा में देवलोक के समान द्वारिका नगरी का द्वीपायन ऋषि के द्वारा विनाश होगा, ऐसा उल्लेख मिलता है।<sup>६</sup> महाभारत के मौसलपर्व में भी द्वीपायन द्वारा द्वारिका दहन की बात मिलती है। उत्तराध्ययन की शान्त्याचार्य टीका में द्वीपायन ऋषि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। उसके अनुसार द्वैपायन सोरियपुर नगर में पाराशर नामक तापस थे। उनको एक अविनीत कन्या प्राप्त हुई, उसे लेकर वे यमुना नदी के द्वीप में आ गए इसलिए उनका नाम द्वैपायन ऋषि पड़ गया।<sup>७</sup>

महाभारत के अनुसार महर्षि पाराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न मुनि वेदव्यास यमुना के द्वीप में छोड़ दिए गए अतः उनका नाम द्वैपायन पड़ गया।<sup>८</sup> शरीर का रंग श्याम होने के कारण इनको कृष्ण भी कहा जाता है।<sup>९</sup> आदिपर्व में इनको काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय और स्वप्न को जीतने वाला कहा गया है।<sup>१०</sup> वैदिक परम्परा के अनुसार इन्होंने महाभारत की रचना की थी। गणेशजी ने इस शर्त पर महाभारत लिखना स्वीकार किया कि मेरी लेखनी क्षणभर भी नहीं रुकेगी। द्वैपायन ने कहा—आपकी शर्त स्वीकार है लेकिन आप भी बिना समझे एक अक्षर भी न लिखें।<sup>११</sup> वेदों का व्यास—विस्तार करने के कारण ये वेदव्यास कहलाए।<sup>१२</sup> द्वैपायन ऋषि (व्यास) ने सर्वप्रथम अपने पुत्र शुकदेव को महाभारत का अध्ययन करवाया।<sup>१३</sup> महाभारत में इनके कृष्ण द्वैपायन, द्वैपायन,

१. समप्र २५१/४, २५२/३।

२. सू १/३/६३।

३. सूचू १ पृ. ९६।

४. सूचू १ पृ. ९५।

५. औप ९६-९८।

६. अंत ५/१०।

७. विस्तार हेतु देखें नियुक्ति पंचक पृ. ५०९-११।

८. महा आदि पर्व ६४/१२८; न्यस्तो द्वीपे स यद्बालस्तस्माद्द्वैपायनः स्मृतः।

९. महा आदि ११५/४५।

१०. महाभारतनामानुक्रम. पृ. ३३०।

११. महा आदि १/२३-२७।

१२. महा आदि ६४/१३०; विव्यास वेदान्यस्मात् स, तस्माद्व्यास इति स्मृतः।

१३. महा आदि १/१२१; इदं द्वैपायनः पूर्वं पुत्रमध्यापयच्छुक्रम्॥

सत्यवतीसुतपाराशर्य, पराशरात्मज, बादरायण आदि नाम मिलते हैं।<sup>१</sup> महाभारत के आदिपर्व में इनके लिए व्रतधारी, निग्रह-अनुग्रह में समर्थ तथा सर्वज्ञ आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ है<sup>२</sup> तथा इन्हें परमयोगी और सिद्धिगति प्राप्त ऋषि माना है।<sup>३</sup>

सूत्रकृतांग और समवाओ में निर्दिष्ट द्वैपायन ऋषि को एक मानने से एक विरोधाभास यह उपस्थित हो जाएगा कि निर्वाण-प्राप्ति के बाद ये आगामी उत्सर्पिणी में तीर्थकर कैसे बनेंगे? इन दोनों को भिन्न मानने से अनेक विसंगतियों का समाधान हो जाएगा। जातक अट्टकहा की कण्ह दीवायण जातक<sup>४</sup> में निर्दिष्ट कथा और इस अध्ययन में निर्दिष्ट उपदेश में साम्य देखते हुए लगता है कि ये ऋषिभाषित के ऋषि होने चाहिए। इस जातक में कृष्ण द्वैपायन ने पचास वर्ष तक अनिच्छा से ब्रह्मचर्य का पालन किया। उसके प्रभाव से यज्ञदत्त का शिर से स्तन तक के भाग का विष समाप्त हो गया। उपदेश में भी उन्होंने पहले अनिच्छा से इच्छा को जीतने की बात कही है। जिसका तात्पर्य यही होना चाहिए कि पहले अनिच्छापूर्वक संयम करो, फिर इच्छाओं पर स्वतः संयम हो जाएगा।

सूत्रकृतांग में निर्दिष्ट ऋषियों में पाराशर एवं नेमि वैदेही को छोड़कर सभी ऋषि ऋषिभाषित से सम्बन्धित हैं अतः जातक में निर्दिष्ट कृष्ण द्वैपायन और सूत्रकृतांग में उल्लिखित द्वैपायन का क्या सम्बन्ध है, यह खोज का विषय है। ऐसा प्रतीत होता है कि द्वारिका दहन वाले द्वैपायन ऋषि के साथ ऋषिभाषित के ऋषि का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए।

अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए ऋषि कहते हैं कि साधना का प्रारम्भ बिंदु है—इच्छा को अनिच्छा में बदलना। भगवान् महावीर ने कहा कि इच्छाएं आकाश की भांति अनंत हैं।<sup>५</sup> यदि एक व्यक्ति को संसार का सारा वैभव दे दिया जाए तो भी व्यक्ति की इच्छापूर्ति असंभव है।<sup>६</sup> इच्छाओं के वशवर्ती होकर व्यक्ति दुःख और क्लेश का अनुभव करता है। अनिच्छा से इच्छा को जीतने वाला साधक सुख की वृद्धि करता है।

इच्छा का वशवर्ती व्यक्ति अपने पूज्यजनों का भी अपमान कर देता है। अंत में ऋषि ने महत्त्वपूर्ण तथ्य को प्रकट करते हुए कहा है कि इच्छा करने वालों को इच्छा नहीं चाहती। इच्छा को नहीं चाहने वाले का इच्छा वरण करती है। संस्कृत-साहित्य में यही बात स्तुति के संदर्भ में मिलती है। कहा जाता है कि स्तुति—प्रशंसा नामक कन्या आज तक अविवाहित है क्योंकि उसे चाहने वाले को वह नहीं चाहती तथा जो उसे नहीं वरण करना चाहता, उसको वह चाहती है अतः वह आज तक कन्या है। अंत में ऋषि ने शुद्ध हृदय से यथाबल आलोचना करने की बात कही है।

१. महाभारतनामा पृ. ३३३।

२. महा आदि १/५५-७४।

३. महा शल्य ५०/२२ ;

द्वैपायनश्च धर्मात्मा, तत्रैवाप्तुत्य भारत!

संप्राप्तः परमं योगं, सिद्धिं च परमां गतः ॥

४. जातक ४४४ भा. ४ पृ. २२७-२३५।

५. उ ९/४८ ; इच्छा उ आगाससमा अर्णतिया।

६. उ ९/४९ ;

पुढवी साली जवा चेव, हिरण्णं पसुभिस्सह।

पडिपुण्णं नालमेगस्स, ..... ॥

## ४०. दीवायणज्झयणं : द्वीपायन अध्ययन

१. इच्छमणिच्छं पुरा करेज्जा, दीवायणेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

पहले इच्छा को अनिच्छा में बदलो, ऐसा अर्हत् द्वीपायन ऋषि ने कहा ।

२. 'इच्छा बहुविधा'<sup>१</sup> लोए, जाए<sup>२</sup> बद्धो किलिस्सति ।

तम्हा इच्छमणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधती ॥ १ ॥

लोक में अनेक प्रकार की इच्छाएं हैं, जिनसे बद्ध होकर जीव क्लेश का अनुभव करता है इसलिए अनिच्छा से इच्छा को जीतने वाला साधक सुख को बढ़ाता है ।

३. इच्छाभिभूता न जाणंति<sup>३</sup>, मातरं पितरं गुरुं ।

अधिक्रिखवंति साधू य, रायाणो देवताणि य ॥ २ ॥

इच्छा से अभिभूत व्यक्ति माता, पिता और गुरु के महत्त्व को नहीं जानते । वे व्यक्ति साधु, राजा और देवता का भी अपमान कर देते हैं ।

४. इच्छामूलं नियच्छंति, धणहाणिं बंधणाणि य ।

पियविप्पओगे य बहू<sup>४</sup>, जम्माइं मरणाणि य ॥ ३ ॥

इच्छा धननाश और सब बंधनों का मूल कारण है । प्रिय-वियोग एवं अनेक जन्म-मरण का मूल भी इच्छाएं ही हैं ।

५. इच्छंते पोच्छते इच्छा, अणिच्छं तं पि इच्छति ।

तम्हा 'इच्छमणिच्छाए'<sup>५</sup>, जिणित्ता सुहमेधती ॥ ४ ॥

इच्छा करने वालों को इच्छा नहीं चाहती, वह अनिच्छुक को चाहती है इसलिए साधक अनिच्छा से इच्छा को जीतकर सुख को वृद्धिगत करता है ।

६. दव्वओ खेत्तओ कालओ भावओ जहाथामं<sup>६</sup> जहाबलं जधाविरियं अणिगूहंतो आलोएज्जासि  
त्ति ॥

पाप को नहीं छिपाता हुआ साधक शक्ति, बल और वीर्य के अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार आलोचना करे ।<sup>७</sup>

७. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति  
बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् द्वीपायन ऋषि) कहता हूँ ।

१. इच्छा वि दुविधा (पा) ।

२. जाव (ला, पा), जो व (आ) ।

३. श्लोक के प्रथम चरण में छंदभंग है ।

४. श्लोक के तृतीय चरण में छंदभंग है ।

५. इच्छं अणि<sup>०</sup> (पु, अ) ।

६. जहत्थामं (पा) ।

७. आलोचना के संदर्भ में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की व्याख्या हेतु देखें ३९/५ का ६ न. का टिप्पण ।





एगचत्तालीसइमं इंदनागज्झयणं

इकचालीसवां अध्ययन : इन्द्रनाग



## ४१. ऋषि इन्द्रनाग

ऋषिभाषित के इकचालीसवें ऋषि हैं—इन्द्रनाग। आगम व्याख्या-साहित्य में इनका उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> आवश्यक निर्युक्ति में बोधिप्राप्ति के ग्यारह कारण एवं उनके उदाहरणों का उल्लेख है। उसमें एक कारण है—अकाम निर्जरा। ऋषि इन्द्रनाग ने बाल तपस्या (अकाम निर्जरा) के द्वारा बोधि को प्राप्त किया।

आवश्यक चूर्ण के अनुसार ये जीर्णपुर<sup>२</sup> नगर के श्रेष्ठपुत्र थे। महामारी के प्रकोप से सेठ का घर उजड़ गया। केवल इन्द्रनाग नामक बालक बच गया। वह उसी नगर में भीख मांगने लगा। एक बार राजगृह नगरी से एक सार्थवाह वणिक् वहां आया। वह बालक उस सार्थ के साथ हो गया। सार्थ के साथ उसने भोजन में चावल खाए लेकिन वे पचे नहीं। दूसरे दिन उसने भोजन नहीं किया। सेठ ने उसे उपवासी समझकर दूसरे दिन गरिष्ठ भोजन दिया लेकिन अजीर्ण के कारण उसने ग्रहण नहीं किया। सेठ ने उसे पुनः गरिष्ठ आहार दिया उसने फिर तपस्या कर ली। आहार का निमन्त्रण स्वीकार न करने से लोगों का उसके प्रति आकर्षण बढ़ गया और उसकी प्रसिद्धि एकपिंडिक के रूप में हो गई। नगर में पहुंचकर सेठ ने उसके लिए अपने घर में मठ बनवा दिया। उसने शिर मुंडवाकर भगवा वस्त्र पहन लिए। उसकी प्रसिद्धि संन्यासी के रूप में हो गई। पारणे के दिन अनेक लोग उसके लिए आहार लेकर आते लेकिन वह केवल एक व्यक्ति के घर का आहार ग्रहण करता था।

एक बार भगवान् महावीर वहां समवसृत हुए। भगवान् ने साधुओं से कहा—‘अभी भिक्षार्थ मत जाओ, अनेषणा है।’ इन्द्रनाग के भोजन करने पर भगवान् ने भिक्षा की आज्ञा दी। भगवान् ने गौतम गणधर को उसके पास भेजा और कहलवाया—‘अहो! अनेकपिंडिक! तुमको एकपिंडिक देखना चाहते हैं।’ गौतम की बात सुनकर एक बार वह क्रोधाविष्ट हुआ लेकिन आत्म-चिंतन करते हुए उसने सोचा—‘भगवान् का वचन सत्य है क्योंकि जिस दिन मेरे पारणा होता है, उस दिन सैकड़ों पिंड बनाए जाते हैं। ये मुनि अकृत-अकारित आहार लेते हैं अतः ये एकपिंडिक हैं।’ चिंतन करते-करते वह प्रत्येकबुद्ध हो गया और इन्द्रनाग नामक अर्हत् होकर सिद्ध-बुद्ध हो गया। चूर्णिकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि इन्द्रनाग ने एक अध्ययन कहा।<sup>३</sup> चूर्णिकार के अंतिम उल्लेख से यह स्पष्ट है कि ये ऋषिभाषित के ऋषि इन्द्रनाग ही हैं। आचारांग की शीलांक टीका में उद्धृत इन्द्रनाग भी ऋषिभाषित के ऋषि ही प्रतीत होते हैं। वहां उल्लेख है कि भगवान् की वाणी सामने उपस्थित लोगों का ही उद्धार नहीं करती, साक्षात् उपस्थित न होने वाले इन्द्रनाग आदि के भी क्षयोपशम में निमित्तभूत बन जाती है।<sup>४</sup> ऋषिमण्डल की टीका

१. आवनि ५४७, आवचू १ पृ. ४६५, ४६६, आवहाटी १ पृ. २३५, आवमटी प. ४६३, ४६४।

२. आवश्यक हारिभद्रीय टीका (पृ. २३५) एवं ऋषिमण्डल (९४ टी प. १११) के अनुसार ये बसन्तपुर नगर के निवासी थे।

३. आवचू १ पृ. ४६६ ; अञ्जयणं भासइ, इंदनागेण अरहता बुद्धं।

४. आटी पृ. १२० ; अनुपस्थितेष्वपीन्द्रनागादिषु विचित्रत्वात् कर्मपरिणतेः क्षयोपशमापादनाद् गुणवत्येवेति।

में भी इनका कथानक मिलता है।<sup>१</sup> बौद्ध और वैदिक साहित्य में विशेष रूप से इनका कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

इस अध्ययन में ऋषि ने अपने जीवन के अनुभव को उपदेश के रूप में प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि व्यक्ति को आजीविका के लिए अपने तप आदि बल का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। ऐसे व्यक्ति तप को दूषित करके लोगों को एकत्रित करते हैं। इस भावना से किया गया उनका पुण्य बिक जाता है। उनकी कर्म चेष्टाएं निरर्थक और निष्फल हो जाती हैं। ऐसे व्यक्ति भविष्य में दुःख और शोक का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार ज्ञान, चारित्र, क्रिया और मुनिवेश को भी जीवन-यापन का साधन बनाना दोषपूर्ण है। जो साधु विद्या, मंत्र, भविष्यकथन, मूलकर्म, कौतुककर्म आदि के द्वारा अपनी आजीविका चलाता है (भिक्षा प्राप्त करता है), वह भी दोषपूर्ण जीवन जीता है।

ऋषि कहते हैं कि मोह रूपी मल्ल से प्रेरित व्यक्ति अनागत हित को नहीं देखते। वे केवल वार्तमानिक भोगों से प्राप्त रस में आसक्त रहते हैं। केवल आहार के लिए जीने वाले व्यक्ति की विवेक शक्ति लुप्त हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋषि प्रत्येकबुद्ध होकर भगवान् महावीर की शरण में आ गए। इसी अनुभव को व्यक्त करते हुए ऋषि कहते हैं कि सर्वज्ञ के शासन को छोड़कर दूसरे की शरण लेने वाला मोहमुग्ध व्यक्ति अपनी आत्मा का हनन कर लेता है। उसका यह प्रयत्न वैसा ही है, जैसे कोई व्यक्ति अमूल्य मणि को छोड़कर केवल सीपी मात्र से प्रसन्न हो जाए। पूरे अध्ययन में ऋषि का मूल वाच्य यही है कि भिक्षु को कामना एवं लोकैषणाओं से ऊपर उठकर निस्पृह जीवन जीना चाहिए।

---

१. ऋषिमं ९४ टी प. १११;

सुच्चा बहुपिंडिय एगपिंडिओ ददुमिच्छइ तुमं ति।

जाइं सरित्तु बुद्धो, सिद्धो तह इंदनागमुणी ॥

## ४१. इंदनागज्झयणं : इन्द्रनाग अध्ययन

१. जेसिं आजीवओ अप्पा, णराणं<sup>१</sup> बलदंसणं ।

तवं ते आमिसं किच्चा, जणा संणिचते जणं ॥१॥

जो साधु आजीविका के लिए अपने बल का प्रदर्शन करते हैं, वे अपने तप को दूषित करके लोगों को एकत्रित करते हैं ।

२. विकीतं तेसि सुकडं तु, तं च णिस्साए जीवितं ।

कम्मचेट्ठा अजाता<sup>२</sup> वा, जाणेज्जा ममका सढा ॥२॥

उनका पुण्य बिका हुआ हो जाता है । उस पुण्य पर आश्रित उनका जीवन भी विक्रय किया हुआ होता है । उनकी कर्म-चेष्टाएं फलरहित हो जाती हैं । ऐसे व्यक्तियों को ममकार युक्त और शठ जानना चाहिए ।

३. गलुच्छिन्ना 'असोते वा, मच्छा'<sup>३</sup> पावेति वेदणं ।

अणागतमपस्संता, पच्छा सोयंति दुम्मती ॥३॥

जैसे कांटे से छिन्न अथवा जल रहित स्थान में स्थित मत्स्य वेदना को प्राप्त करता है, वैसे ही भविष्य के परिणाम को नहीं देखने वाले दुर्मति बाद में शोक का अनुभव करते हैं ।

४. मच्छा व झीणपाणीया, कंकाणं घासमागता<sup>४</sup> ।

पच्चुप्पणारसे गिद्धा, मोहमल्लपणोल्लिता ॥४॥

पानी कम होने पर जैसे मत्स्य कंक नामक घास में आकर फंस जाते हैं, वैसे ही मोह रूपी मल्ल से प्रेरित व्यक्ति वर्तमान में प्राप्त रसों में गृद्ध रहते हैं ।

५. दित्तं<sup>५</sup> पावंति उक्कंठं, वारिमज्झे व वारणा ।

आहारमेत्तसंबद्धा, कज्जाकज्जणिमिल्लिता ॥५॥

पानी के मध्य में जैसे हाथी बहुत अधिक उद्दीप्त हो जाते हैं, वैसे ही आहार मात्र में आसक्ति रखने वाले कर्तव्य और अकर्तव्य से आंख मूंद लेते हैं अर्थात् उनकी विवेक-शक्ति लुप्त हो जाती है ।

६. मक्खिणो<sup>६</sup> घतकुंभे वा, अवसा पावेति संखयं ।

मधु पास्यति दुब्बुद्धी, पवातं से ण पस्सति ॥६॥

घी के घड़े में गिरी हुई मक्खियां विवश होकर मृत्यु को प्राप्त हो जाती हैं । मधुबिंदु<sup>७</sup> को पीता हुआ बुद्धिहीन व्यक्ति नीचे के प्रपात (गर्त) को नहीं देखता अथवा अपने पतन को नहीं देखता ।

१. × (स) ।

२. अजात्या अनार्या वा (ऋवृ पृ. १५६) ।

३. झसा चैव पच्छा (पा) ।

४. पासं (ला, पा) ।

५. दिन्नं (ब) ।

६. पक्खिणो (ला, स, आ) ।

७. मधुबिंदु दृष्टान्त हेतु देखें परि. २, कथा सं. १० ।

७. आमिसत्थी झसो चेष, मग्गते अप्पणा गलं ।

आमिसत्थी चरित्तं तु, जीवे हिंसति दुम्मती ॥७॥

जैसे मांस लोलुप मछली स्वयं ही गल—मछली पकड़ने के कांटे को खोजती है, वैसे ही विषयों में आसक्त दुर्मति जीव अपने चरित्र का हनन कर लेता है ।

८. अणग्घेयं मणिं मोत्तुं, सुत्तमत्ताभिनंदती<sup>१</sup> ।

सव्वण्णुसासणं मोत्तुं, मोहादीएहि हिंसती ॥८॥

अमूल्य मणि को छोड़कर अज्ञानी व्यक्ति सीप मात्र को प्राप्त करके प्रसन्न हो जाता है, वैसे ही सर्वज्ञ के शासन को छोड़कर मूढ़ व्यक्ति मोह आदि से अपनी आत्मा का हनन करता है ।

९. सोय-मत्तेण विसं गेज्झं, जाणं तत्थेव जुंजती<sup>२</sup> ।

शोक मात्र को विष समझना चाहिए, इसके दुष्परिणाम को जानते हुए भी व्यक्ति उसी में रत रहता है ।

१०. आजीवत्थं तवो ऽमोत्तुं, तप्पते विविहं बहुं ।

तवनिस्साए जीवंतो, तवाजीवं तु जीवती ॥१०॥

जो तप को नहीं छोड़ता हुआ आजीविका के लिए अनेक प्रकार से संतप्त होता है, वह तप की निश्रा में जीता हुआ तप-आजीवी होता है ।

११. णाणमेवोवजीवंतो, चरित्तं करणं तथा ।

लिंगं च जीवणद्वाए, अविमुद्धं तु<sup>३</sup> जीवती ॥११॥

जो ज्ञान, चरित्र, क्रिया और मुनिवेश को जीवन-यापन का साधन बनाता है, वह दोषपूर्ण जीवन जीता है ।

१२. विज्जामंतोपदेसेहिं, दूतीसंपेसणोहि वा ।

भावीभवोवदेसेहिं<sup>४</sup>, अविमुद्धं ति जीवति ॥१२॥

जो साधक विद्या, मंत्र का उपदेश, भविष्य का कथन (ज्योतिष के प्रयोग के द्वारा) तथा दूती-संप्रेषण से जीवन-यापन करता है, वह दोष पूर्ण जीवन जीता है ।

१३. मूलकोउगकम्मेहिं, भासापणइएहि य ।

अक्ख्राइओवदेसेहिं, अविमुद्धं तु जीवति ॥१३॥

इंदनागेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

जो मूलकर्म<sup>५</sup>, कौतुक कर्म<sup>६</sup>, चापलूसी (प्रणययुक्त वचन) एवं आख्यायिकाओं—कथाओं के उपदेश से

१. °मत्थाभि° (ब) ।

२. सभी हस्तप्रतियों में इस गाथा के दो चरण ही मिलते हैं । संभव है कालान्तर में दो चरण लुप्त हो गए हों, मुद्रित पुस्तक में आठवीं और नौवीं गाथा में एक साथ ८ का क्रमांक लगा है ।

३. ति (पु, स) ।

४. भावीतवो° (पा) ।

५. मूलकर्म—वशीकरण के लिए किया जाने वाला औषधि-प्रयोग । मूलकर्म के विस्तार हेतु देखें पिण्डनिर्युक्ति भूमिका पृ. १०१, १०२ ।

६. कौतुककर्म—दृष्टि-दोष से रक्षा के लिए किया जाने वाला काजल का टीका ।

जीवन चलाता है, वह दोषपूर्ण जीवन जीता है, अर्हत् इंद्रनाग ऋषि ने ऐसा कहा।

**१४. मासे मासे यं जो बालो, कुसग्गेण आहारए<sup>२</sup>।**

**ण से सुक्खातधम्मस्स, 'अग्घती सतिमं कलं'<sup>३</sup> ॥ १३ ॥**

जो अज्ञानी मास-मास की तपस्या के अनन्तर कुश<sup>४</sup> की नोक पर टिके उतना सा आहार ग्रहण करे तो भी वह सु-आख्यात<sup>५</sup> धर्म की सौवीं कला<sup>६</sup> का स्पर्श भी नहीं कर सकता।

**१५. मा ममं जाणऊ कोयी, माहं जाणामि किंचि वि।**

**'अण्णातेणं तु'<sup>७</sup> अण्णातं, चरेज्जा सामुदाणियं<sup>८</sup> ॥ १४ ॥**

कोई मुझे नहीं जाने और मैं किसी को नहीं जानूँ, इस रूप से अज्ञात रहकर साधक अज्ञात घरों की सामुदानिक शिक्षा करे।

**१६. पंचवणीमकसुद्धं, जो भिक्खं एसणाए एसेज्जा।**

**तस्स सुलद्धा लाभा, हणणादीविप्पमुक्कदोसस्स<sup>९</sup> ॥ १५ ॥**

जो मुनि पांच प्रकार के वनीपक<sup>१०</sup> दोषों से शुद्ध भिक्षा की एषणा करता है, भिक्षा संबंधी हनन, पचन-पाचन आदि दोषों से मुक्त उस मुनि को प्राप्त भिक्षा का बहुत अधिक लाभ मिलता है।

१. तु (उ १/४४)।

२. तु भुंजए (उ), छंद की दृष्टि से उत्तराध्ययन का पाठ ठीक है। इसमें पांचवां वर्ण ह्रस्व है। 'आहारए' पाठ रखने से पांचवां वर्ण दीर्घ हो जाता है।

३. कलं अग्घइ सोलसिं (उ), धम्मपद (गा. ५/७०) में भी इस गाथा की संवादी गाथा मिलती है—

मासे मासे कुसग्गेण, बालो भुज्जेय्य भोजनं।

न सो सद्धतधम्मानं, कलं अग्घति सोलसिं ॥

४. शान्त्याचार्य ने 'कुसग्गेण तु भुंजए' के दो अर्थ किए हैं—

१. कुश के अग्र भाग पर टिके, उतना खाना २. कुश के अग्र भाग से ही खाना, अंगुलि आदि से उठाकर नहीं खाना।

(उशांटी प ३१६; कुशाग्रेणैव तृणविशेषप्रान्तेन भुंक्ते, ....यावत् कुशाग्रेऽवतिष्ठते तावदेवाभ्यवहरति नातोऽधिकम्।)

५. स्थानांग के अनुसार सु-अधीत, सुख्यात और सु-तपस्यित धर्म स्वाख्यात कहलाता है। इन तीनों की परस्पर युति ही स्वाख्यात

धर्म है। (स्था ३/५०७)

६. चन्द्रमा की सोलह कलाएं होती हैं अतः उत्तराध्ययन में 'कलं अग्घइ सोलसिं' पाठ का उल्लेख है लेकिन इसिभासियाई के ऋषि इंद्रनाग ने सौवीं कला का उल्लेख किया है। यह खोज का विषय है कि सौ कलाएं किसके होती हैं?

७. 'तेणऽत्थ (पु, अ)।

८. समुं (पा)।

९. छंद की दृष्टि से यहां 'हणणादीविप्पमुक्कस्स' पाठ ठीक लगता है लेकिन प्रतियों में उपर्युक्त पाठ ही मिलता है।

१०. द्र. इसि १२/३, ठाणं सूत्र (५/२००) में पांच प्रकार के वनीपकों का उल्लेख मिलता है—१. अतिथि २. कृपण ३. माहन (ब्राह्मण) ४. श्वान ५. श्रमण। दशवैकालिक की हारिभद्रीया टीका में वनीपक का अर्थ कृपण किया गया है। (दशहाटी प. १७३) इन सबके विस्तार हेतु देखें पिण्ड-निर्युक्ति भूमिका पृ. ९५, ९६।



१७. जहा कवोता य कविंजला य  
गावो चरंती इह पातरासं<sup>१</sup> ।  
एवं मुणी गोयरियं चरेज्जा  
णो वी लवे<sup>२</sup> णो वि य संजलेज्जा ॥ १६ ॥

जैसे कबूतर, कपिंजल (गौरैया) और गाएं—ये तीनों प्रातःकाल चरते हुए आहार ग्रहण करते हैं, वैसे ही मुनि भिक्षा ग्रहण करे। भिक्षा के समय किसी से बात न करे और न ही क्रोध करे।

१८. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् इन्द्रनाग ऋषि) कहता हूँ।

१. पातडाओ (अ, आ, ला, स, ब, पा) ।

२. गा. १६ एवं १७ पुनरुक्त हुई हैं। बारहवें अध्ययन (१२/२, ३)

में ये गाथाएं आई हुई हैं, वहां 'वी लवे' के स्थान पर 'आलवे' पाठ है। वहां दोनों गाथाओं के क्रम में अंतर है।

बायालीसइमं सोमज्झयणं

बयालीसवां अध्ययन : सोम



## ४२. ऋषि सोम

ऋषिभाषित के बयालीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—सोम। आगम और उसके व्याख्या-साहित्य में सोम ऋषि का उल्लेख नहीं मिलता लेकिन ठाणं<sup>१</sup> और भगवती<sup>२</sup> आदि सूत्रों में सोम, यम, वरुण और वैश्रमण—इन चारों का लोकपाल देव के रूप में उल्लेख मिलता है। वैदिक परम्परा में इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण को लोकपाल के साथ धर्मोपदेष्टा माना है। वैसे देव की ऋषि के साथ संगति बैठनी मुश्किल है। डॉ. सागरमलजी जैन का मतव्य है कि लोकपाल को धर्मोपदेष्टा माने जाने के कारण इन चारों को ऋषिभाषित में स्थान दे दिया गया है।<sup>३</sup> यह भी संभव हो सकता है कि भले ही प्राचीन-साहित्य में इन चारों का ऋषि के रूप में विशेष उल्लेख नहीं मिलता है लेकिन ये अपने समय के प्रसिद्ध ऋषि रहे हों।

इस अध्ययन में ऋषि का उपदेश बहुत संक्षिप्त है। मात्र कुछ पंक्तियों में उन्होंने अपने उपदेश को पूरा कर दिया है। ऋषि का मतव्य है कि मुमुक्षु चाहे ज्येष्ठ हो, मध्यम हो या कनिष्ठ, उसे सदैव यह चिन्तन करना चाहिए कि अल्प से बहुत को कैसे प्राप्त किया जाए? इस एक छोटे से सूत्र की विविध रूपों में व्याख्या की जा सकती है। रघुवंश में सिंहरूप यक्ष राजा दिलीप से कहता है कि अल्प के लिए बहुत को खोना बुद्धिमानी नहीं है।<sup>४</sup> ऋषि प्रेरणा देते हैं कि जो साधु निरवद्य में स्थित है, संयमी है, उसे पापकारी कार्यों का सेवन नहीं करना चाहिए। पाप करने का तात्पर्य होगा, अल्प के लिए बहुत सारे लाभ को खोना।

१. ठाणं ४/१२१; चमरस्स णं असुरिंदस्स असुरकुमाररण्णो चत्तारि ३. ऋषि पृ. ९१, ९२।

लोगपाला पण्णत्ता, तं जहा—सोमे, जमे, वरुणे, वेसमणे।

२. भ ३/२४७।

४. रघुवंश २/४७ ; अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन्, विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।

## ४२. सोमज्झयणं : सोम अध्ययन

१. अप्पेण<sup>१</sup> बहुमेसेज्जा जेट्टमज्झिमकण्णिसं<sup>२</sup> ।

ज्येष्ठ, मध्यम या कनिष्ठ मुमुक्षु अल्प से बहुत की एषणा करे।

२. गिरवज्जे ठितस्स तु णो कप्पति पुणरवि सावज्जं सेवित्ताए, सोमेण अरहता इसिणा बुइतं।

निरवद्य—पाप रहित स्थिति में रहते हुए साधक के लिए पुनः पापकारी कार्यों का सेवन कल्पनीय नहीं होता, अर्हत् सोम ऋषि ने ऐसा कहा।

३. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् सोम ऋषि) कहता हूँ।

---

१. भाषा-परिवर्तन के साथ सूत्रकृतांग (१/३/६७) में इसका संवादी पाठ मिलता है—मा..अप्पेणं लुंपहा बहुं। थेरगाथा (गा. ५१० पृ. ३१८)में 'मा अप्पकस्स हेतु कामसुखस्स विपुलं जहि सुखं' का उल्लेख मिलता है।  
२. \*कण्णसं (आ, पु, ला)।

तिचत्तालीसइमं जमज्झयणं

तैयालीसवां अध्ययन : यम



### ४३. ऋषि यम

ऋषिभाषित के तेयालीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—यम। आवश्यक चूर्ण<sup>१</sup> में यम नामक तापस का उल्लेख मिलता है लेकिन इनका ऋषिभाषित के ऋषि के साथ सम्बन्ध जोड़ना कठिन है। कौषीतकि उपनिषद् में यम नामक राजा का उल्लेख मिलता है तथा शतपथ ब्राह्मण में यम को दक्षिण का राजा माना है। महाभारत में इन्द्र, अग्नि, यम और वरुण—इन चारों को लोकपाल के रूप में स्वीकार किया है।<sup>२</sup> लोकपाल देव के रूप में भी इनके नाम का उल्लेख मिलता है।<sup>३</sup> कठोपनिषद् में यम के साथ नचिकेता का जो संवाद प्राप्त होता है, उस संवाद को पढ़कर ऐसा ही लगता है कि एक ऋषि ही बोल रहे हैं अतः संभव है ये ही ऋषिभाषित के ऋषि हों फिर भी यह खोज का विषय है कि ये यम ऋषि कौन थे ?

इस अध्ययन में ऋषि ने केवल एक पद्य में उपदेश दिया है। समता और संतुलन का महत्त्व बताते हुए वे कहते हैं कि जीवन में लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि द्वन्द्व लगे रहते हैं। जो लाभ में प्रसन्नचित्त और अलाभ में अप्रसन्न नहीं होता, वह व्यक्ति इस संसार में उतना ही श्रेष्ठ है, जितना कि देवताओं में इन्द्र।

---

१. आवचू १ पृ. ५१९।

२. महाभारतनामा पृ. २९१।

३. देखें बयालीसवें ऋषि सोम पृ. ३४५।



### ४३. जमङ्गयणं : यम अध्ययन

१. लाभम्मि जे ण सुमणो, अलाभे णेव दुम्मणो।  
से हु सेट्ठे मणुस्साणं, देवाणं व सतक्कतूँ ॥ १ ॥  
जमेणं अरहता इसिणा बुइतं।

लाभ में जो सुमन—प्रसन्नचित्त और अलाभ में दुर्मन—दुःखी चित्त वाला नहीं होता, वही मनुष्यों में श्रेष्ठ है, जैसे देवताओं में इन्द्र, ऐसा अर्हत् यम ऋषि ने कहा।

२. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् यम ऋषि) कहता हूँ।

---

१. सयंकऊ (स) इंद्र ने सौ यज्ञ किए इसलिए उनका नाम शतक्रतु पड़ गया (दशुचू प. ६४)।

चौवालीसइमं वरुणज्झयणं

चौवालीसवां अध्ययन : वरुण



## ४४. ऋषि वरुण

चौवालीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि का नाम है—वरुण। आगम एवं उसके व्याख्या-साहित्य में ऋषि के रूप में इनके नाम का उल्लेख नहीं मिलता। भगवती सूत्र में लोकपाल के रूप में इनके नाम का उल्लेख मिलता है।<sup>१</sup> वैदिक-साहित्य में वरुण को आकाश का तथा पुराण-साहित्य में समुद्र का अधिष्ठाता देव माना है।<sup>२</sup> वैदिक परम्परा में वरुण नामक ऋषि का उल्लेख मिलता है।<sup>३</sup>

ऋषि ने केवल एक पंक्ति में उपदेश दिया है। संभव है काल के अंतराल में उनके उपदेश के कुछ अंशों का लोप हो गया हो फिर भी यह संक्षिप्त उपदेश आध्यात्मिक दृष्टि से अनेक शास्त्रों के सार रूप में है। ऋषि कहते हैं कि राग और द्वेष से जिसकी आत्मा उत्पीड़ित नहीं होती, वही सम्यक् प्रकार से स्वयं पर नियंत्रण कर सकता है।

---

१. भ ३/२४७।

२. महाभारतनामा पृ. २९७।

३. चरित्रकोश पृ. ४४०।

## ४४. वरुणज्झयणं : वरुण अध्ययन

१. दोहिं अंगेहिं उप्पीलंतेहिं आता जस्स ण उप्पीलति—रागं चेव दोसे य से हु सम्मं नियच्छती, वरुणेण अरहता इसिणा बुद्धं ।

दो अंगों—राग और द्वेष के द्वारा उत्पीड़ित किए जाने पर जिसकी आत्मा उत्पीड़ित नहीं होती, वही अपने पर सम्यक् नियंत्रण कर सकता है, ऐसा अर्हत् वरुण ऋषि ने कहा ।

२. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् वरुण ऋषि) कहता हूँ ।

पणयालीसइमं वेसमणज्झयणं

पैंतालीसवां अध्ययन : वैश्रमण



## ४५. ऋषि वैश्रमण

ऋषिभाषित के पैतालीसवें अध्ययन के प्रवक्ता ऋषि हैं—वैश्रमण। यद्यपि ऋषि के रूप में वैश्रमण का नाम प्रायः साहित्य में देखने को नहीं मिलता। ठाणं सूत्र में ये लोकपाल देव के रूप में उल्लिखित हैं<sup>१</sup> इनको उत्तर दिशा का लोकपाल माना जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ इसकी संस्कृत छाया वैश्रवण करते हैं<sup>२</sup> आचार्य चूला में वैश्रमण का लोकान्तिक देव के रूप में उल्लेख है, जो महान् ऋद्धि सम्पन्न तथा तीर्थकर को अभिनिष्क्रमण के समय प्रतिबोध देने वाले होते हैं<sup>३</sup> बौद्ध परम्परा में वैश्रमण को चातुर्महाराजिक देव के रूप में मान्य किया है।

अध्ययन का प्रारम्भ करते हुए ऋषि कहते हैं कि नरक आयु के समक्ष मनुष्य की आयु अत्यल्प है। कामभोग नरक के हेतु हैं अतः कौन बुद्धिमान् ऐसा होगा, जो कामभोगों में आसक्ति करेगा। साधक भोगों में होने वाली आसक्ति का वैसे ही अतिक्रमण करे, जैसे वायु जाल का अतिक्रमण करती है। ऋषि पापनिवृत्ति हेतु हृदयस्पर्शी बात कहते हैं कि जो व्यक्ति पाप में निरत है, उसको अपनी आत्मा प्रिय नहीं है क्योंकि स्वयं द्वारा किए गए कर्मों को आत्मा स्वयं ही भोगती है। संयुक्तनिकाय में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि जो मन, वचन और काया से दुराचार करते हैं, वे आत्मरक्षा नहीं करते। भले ही उनकी रक्षा के लिए हाथी, घोड़े या पदाति सेना नियुक्त कर दी जाए<sup>४</sup> गाथा चार से दस तक की सात गाथाएं इसी ग्रंथ के पन्द्रहवें अध्ययन में पुनरुक्त हुई हैं।

इस अध्ययन में ऋषि किसी एक विषय पर केन्द्रित नहीं रहे। उनका उपदेश विविध विषयक है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति भय के स्थानों का दूर से वर्जन कर देता है, वह वहां से अभय हो जाता है। जैसे तीव्र गति से बहने वाली तैरने योग्य नदी, दाढ़ा और सींग वाले प्राणियों को देखकर व्यक्ति उस स्थान का वर्जन कर देता है, वैसे ही दोषभीरु व्यक्ति को पापकारी कार्यों को छोड़ देना चाहिए।

जब तक व्यक्ति का आयुष्य शेष रहता है, भूकम्प, बाढ़ अथवा अग्नि से प्रभावित होने पर भी कोई उसका कुछ नहीं बिगड़ सकता। प्राणिमात्र की जिजीविषा को प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं कि मरणासन्न व्यक्ति को एक ओर सागर पर्यन्त पृथ्वी दी जाए तथा दूसरी ओर जीवनदान दिया जाए तो उस समय वह जीवन की ही इच्छा करेगा क्योंकि पुत्र, पत्नी, धन, राज्य, विद्या, कला आदि सब तत्त्व जीवित अवस्था में ही आनंद देते हैं।

आत्मौपम्यभाव के माध्यम से अहिंसा के महत्त्व को प्रकट करते हुए ऋषि कहते हैं कि शस्त्र-प्रयोग या

१. ठाणं ४/१२१।

२. भभा २ पृ. २३।

३. आचूला १५/२६/४;

वेसमण कुंडलधरा देवा लोगंतिया महिद्धीया।

बोहिंति य तित्थयरं, पण्णरससु कम्मभूमिसु ॥

४. संयुक्तनिकाय ३/५/१२ पृ. १२२ ; ये खो केचि कायेन दुच्चरितं चरन्ति, वाचाय दुच्चरितं चरन्ति, मनसा दुच्चरितं चरन्ति, तेसं अरक्खितो अत्ता। किञ्चापि ते हत्थिकायो वा रक्खेय्य अस्सकायो वा रक्खेय्य रथकायो वा रक्खेय्य पत्तिकायो वा रक्खेय्य।



अग्नि से जैसे स्वयं के शरीर में वेदना होती है, वैसी ही वेदना कष्ट देने पर सब प्राणियों को होती है अतः किसी की हिंसा नहीं करनी चाहिए। अहिंसा अनिन्दित और परम ब्रह्म रूप है इसलिए सब प्राणियों के प्रति दया रखने वाले को देवेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्र भी प्रणाम करते हैं।

जिनवाणी के प्रति आस्था व्यक्त करते हुए ऋषि का कथन है कि जिनेन्द्रवाणी को समता से स्वीकार करने वाला सब बंधनों से मुक्त हो जाता है। उसके लिए कल्याण, सुख और अनेक ऋद्धियां दुर्लभ नहीं रहतीं। प्यासे को रम्य सरोवर, रोगी को औषधालय तथा भूखे को आहार प्राप्त करके जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता गंभीर, कल्याणकारी, नय और भंग से युक्त जिनेन्द्र वाणी की शरण लेने वाले को होती है। सर्वज्ञ का शासन प्राप्त करके व्यक्ति का सत्त्व, बुद्धि, मति, मेधा और गाम्भीर्य आदि गुण जैसे ही बढ़ते हैं, जैसे औषधि-सेवन से शुद्धि, कांति, बल और वीर्य की वृद्धि होती है। त्रैलोक्य में शरणभूत जिनेन्द्र-वाणी की शरण लेकर उससे जैसे ही विरत नहीं होना चाहिए, जैसे अगंधन कुल का सर्प वान्त विष को पुनः ग्रहण नहीं करता। सम्पन्न कुल में उत्पन्न व्यक्ति वान्त भोजन को पुनः नहीं खाता।

विषय-परिवर्तन करते हुए ऋषि कहते हैं कि इंद्र का वज्र, ऋण और शत्रु भी वह हानि नहीं पहुंचा सकते, जितना मानसिक आस्वाद से जुड़ा हुआ ऋद्धि गौरव का अहंकार। कामनाएं तीक्ष्ण कैंची के समान हैं, जो असाता कर्म का अनुगमन करती हैं। जो व्यक्ति अपनी तृष्णा के बंधन को काट देता है, वह देव, तिर्यञ्च और मनुष्य सम्बन्धी सारे बंधनों को काट देता है।

रथचक्र पर लेप तथा व्रण-लेप की भांति शरीर की भूख को शान्त करने एवं संयम-यात्रा के निर्वाह हेतु साधक को आहार करना चाहिए। ऋषि ने कर्मवाद के एक महत्त्वपूर्ण सूत्र को प्रस्तुत किया है कि बंधन चाहे लोहे का हो या सोने का, वह दुःख का कारण है। इसी प्रकार डंडा चाहे कितना ही मूल्यवान् हो, यदि वह सिर पर पड़ता है तो दुःख का कारण बनता है। इसी प्रकार पुण्य और पाप—ये दोनों बंधन हैं।

अंत में ऋषि कहते हैं कि अंतिम समय जानकर दिव्य भोगों में अनासक्त रहकर साधक को वन में जाकर देह का व्युत्सर्ग करना चाहिए। यदि संलेखना या अनशन के साथ दिव्य सुख की अभिलाषा जुड़ जाती है तो फिर उसकी लम्बी भव-परम्परा चलती है अतः बिना किसी आकांक्षा के अनशन द्वारा देह का व्युत्सर्जन करना चाहिए।

## ४५. वेसमणज्झयणं : वैश्रमण अध्ययन

१. अप्पं च आउं इह माणवाणं  
सुचिरं च कालं णसो वासो।  
सव्वे<sup>१</sup> य कामा णिरयाण मूलं  
को णाम कामेसु बुहो रमेज्जा ? ॥ १ ॥

मनुष्यों का आयुष्य अल्प है और नरक का वास लम्बे समय तक होता है। सारे काम नरक के मूल कारण हैं अतः कौन बुद्धिमान् ऐसा होगा, जो काम-भोगों में रमण करेगा ?

२. पावं ण कुज्जा, ण हणेज्ज पाणे,  
अतीरसे<sup>२</sup> णेव रमे कदायी।  
उच्चावएहिं सयणासणेहिं,  
वायु व्व जालं समतिक्कमेज्जा ॥ २ ॥  
वेसमणेणं अरहता इसिणा बुइतं।

मुमुक्षु पापकारी कार्य न करे और प्राणियों की हिंसा न करे। वह अत्यधिक रस में कभी भी आसक्त न बने। उच्च और अवच शयनासनों में होने वाली आसक्ति या द्वेष का वैसे ही अतिक्रमण करे, जैसे वायु जाल का अतिक्रमण करती है। ऐसा अर्हत् वैश्रमण ऋषि ने कहा।

३. जे पुमं कुरुते पावं, ण तस्सऽप्पा धुवं पिओ।  
अप्पणा हि कडं कम्मं, अप्पणा चेव भुज्जती ॥ ३ ॥

जो पुरुष पाप करता है, उसको निश्चित ही अपनी आत्मा प्रिय नहीं है। स्वयं कृत कर्मों को आत्मा स्वयं ही भोगती है।

४. पावं परस्स कुव्वंतो, हसते<sup>३</sup> मोहमोहितो।  
मच्छो गलं गसंतो वा, विणिघातं<sup>४</sup> ण पस्सति<sup>५</sup> ॥ ४ ॥

मोह से मूढ़ व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को पाप करते देखकर उस पर हंसता है। कांटे को निगलने वाला मत्स्य अपने विनाश को नहीं देखता।

१. भव्वे (स)।

२. × (स)।

३. हसंतो (पा)।

४. विणिपातं (आ, ब, ला), विणिपायं (पा)।

५. पस्सते (अ, ला), गा. ४ से १० तक की सात गाथाएं इसी ग्रंथ के पन्द्रहवें अध्ययन में भी पुनरुक्त हैं, द्र १५/१५-२१।

५. पच्चुप्पणरसे गिद्धो, मोहमल्लपणोल्लितो ।

दित्तं पावति उक्कंठं, वारिमज्झे व वारणो ॥ ५ ॥

मोह रूपी मल्ल से प्रेरित व्यक्ति वार्तमानिक भोगों में आसक्त होकर आकंठ कीचड़ में फंसे हाथी की भांति और अधिक उत्तेजित हो जाता है ।

६. परोवघाततल्लिच्छो, दप्पमोहबलुद्धरो ।

सीहो जरो दुपाणे वा, गुणदोसं ण विंदती ॥ ६ ॥

अहंकार और मोह से उद्धत मल्ल दूसरों की घात में तत्पर रहता है । कूप में अपना प्रतिबिम्ब देखने वाले वृद्ध सिंह<sup>१</sup> की भांति वह गुण और दोष को नहीं जानता ।

७. सवसो<sup>२</sup> पावं पुरा किच्चा, दुक्खं वेदेति दुम्मती ।

आसत्तकंठपासो वा, मुक्काधारो दुहट्टिओ ॥ ७ ॥

दुर्बुद्धि व्यक्ति पहले स्वाधीन अवस्था में पाप करके परिणाम के समय दुःख का अनुभव करता है । वह गले में कसे हुए फंदे वाले आधारहीन व्यक्ति की तरह दुःख का अनुभव करता है ।

८. पावं जे उ पकुव्वंति, जीवा साताणुगामिणो<sup>३</sup> ।

वड्ढते पावकं तेसिं<sup>४</sup>, अणग्गाहिस्स वा अणं ॥ ८ ॥

जो जीव सुख के इच्छुक होकर पाप कर्म करते हैं, उनका पाप वैसे ही बढ़ता है, जैसे ऋण लेने वाले व्यक्ति का ऋण बढ़ता जाता है ।

९. अणुबद्धमपस्संता, पच्चुप्पणगवेसका ।

ते पच्छा दुक्खमच्छंति, गलुच्छिन्ना जधा झसा ॥ ९ ॥

जो व्यक्ति वर्तमान सुख की खोज करते हैं, उसके परिणाम को नहीं देखते, वे बाद में वैसे ही दुःख प्राप्त करते हैं, जैसे कांटे से बिंधी हुई मछली ।

१०. आत-कडाण कम्माणं, आता भुंजति तं<sup>५</sup> फलं ।

तम्हा आतस्स अट्टाए, पावमादाय वज्जए ॥ १० ॥

आत्मकृत कर्मों का फल आत्मा स्वयं भोगती है अतः आत्महित के लिए साधक पापकारी कर्मों का वर्जन करे ।

११. जं हुतासं विवज्जेति, जं विसं वा ण भुंजति ।

जं ण गेणहति वा वालं, णूणमत्थि ततोऽभयं ॥ ११ ॥

जो व्यक्ति अग्नि का परिहार करता है, विष का भोग नहीं करता तथा सर्प को नहीं पकड़ता, वह निश्चित ही उन स्थानों से अभय हो जाता है ।

१. कथा के विस्तार हेतु देखें परि २, कथा सं. ११ ।

४. तेहिं (ब) ।

२. सव्वसो (पा) ।

५. जं (पा) ।

३. सोताणुं (आ, पा, हे) ।

१२. धावंतं 'सरि संतारं'<sup>१</sup>, सच्छं 'दाढिं व'<sup>२</sup> सिंगिणं ।

दोसभीरू विवज्जेति<sup>३</sup>, पावमेवं विवज्जे<sup>४</sup> ॥ १२ ॥

जैसे तीव्र गति से बहने वाली तैरने योग्य नदी तथा दाढ़ा और सींग वाले प्राणियों को देखकर व्यक्ति उस स्थान का वर्जन कर देता है, उसी प्रकार दोषभीरु व्यक्ति पापकारी कार्यों को छोड़ दे।

१३. पावकम्मोदयं पप्प<sup>५</sup>, दुक्खतो दुक्खभायणं ।

दोसा दोसोदई चेव, पावकज्जा<sup>६</sup> पसूयति ॥ १३ ॥

पाप कर्मों के उदय से जीव उस दुःख से और अधिक दुःख-पात्र हो जाता है। दोषों को उत्पन्न करने वाला उन दोषों से पापकारी कर्मों को उत्पन्न करता है।

१४. उच्चिवारा जलोहंता, तेतणीए<sup>७</sup> मतोद्धितं<sup>८</sup> ।

जीवितं वावि जीवाणं, 'जावं ति'<sup>९</sup> फलमंदिरं ॥ १४ ॥

भूकम्प, जल-प्रवाह और अग्नि से जलकर ( शस्त्र की धार से कटकर) भी प्राणियों का जीवन पुनः प्रारंभ हो सकता है। जब तक कर्म (आयुष्य कर्म) का फल रहता है, तब तक प्राणियों का जीवन शेष रहता है।

१५. देज्जाहि जो मरंतस्स, सागरंतं वसुंधरं ।

जीवियं वावि जो देज्जा, जीवितं तु स इच्छती ॥ १५ ॥

मरणासन्न व्यक्ति को सागर पर्यंत पृथ्वी अथवा जीवन दिया जाए तो उस समय वह जीवन की ही इच्छा करता है।

१६. पुत्त-दारं धणं रज्जं, विज्जा सिप्यं कला गुणा ।

जीविते सति जीवाणं, जीविताय रती अयं ॥ १६ ॥

पुत्र, पत्नी, धन, राज्य, विद्या, शिल्प, कला तथा अन्य गुण प्राणियों को जीवित दशा में ही आनंद देते हैं।

१७. आहाराहि<sup>१०</sup> तु जीवाणं, लोए जीवाण दिज्जती ।

पाणसंधारणद्वय, दुक्खणिग्गहणा तहा<sup>११</sup> ॥ १७ ॥

आहार से प्राणियों का जीवन चलता है। लोक में दो कारणों से आहार आदि दिया जाता है—प्राण-धारण और दुःख का निग्रह।

१. सरसं नीरं (पु, स)।

२. दाढिसि (ब)।

३. ज्जेति (ब)।

४. × (अ)।

५. पप्पा (पा, हे)।

६. पावे कुज्जा (अ, स, हे)।

७. आटे में तेजन के निम्न अर्थ मिलते हैं—१. अग्नि, शस्त्र की धार और बांस।

८. ंद्धिता (ब)।

९. जीवन्ति (पा, पु, स)।

१०. आहारादि (पा, पु, ब)।

११. जहा (आ, ब, ला)।

१८. सत्थेण वण्हणा<sup>१</sup> वावि, खते<sup>२</sup> दड्ढे व वेदणा।  
सए देहे जहा होति, एवं सव्वेसि देहिणं ॥ १८ ॥

जैसे शस्त्र-प्रयोग से या अग्नि से स्वयं के शरीर में घाव या जलन की वेदना होती है, वैसी ही वेदना सब प्राणियों को भी होती है।

१९. अप्पियं<sup>३</sup> पाणिघातं च, पाणिणं च पिया दया।  
सव्वमेतं विजाणित्ता, पाणिघातं विवज्जते ॥ १९ ॥

प्राणी को प्राण-घात अप्रिय है तथा दया प्रिय है, इन सब बातों को जानकर व्यक्ति को प्राण-घात का वर्जन करना चाहिए।

२०. अहिंसा सव्वसत्ताणं, सदा णिव्वेयकारिका।  
अहिंसा सव्वसत्तेसु, परं बंभमणिंदितं ॥ २० ॥

अहिंसा सब प्राणियों के लिए सदा वैराग्य पैदा करने वाली है। अहिंसा अनिंदित और परम ब्रह्म रूप है।

२१. देविंदा दाणविंदा य, णरिंदा जे वि विस्सुत्ता।  
सव्वसत्तदयोवेतं, मुणीसं<sup>४</sup> पणमंति ते ॥ २१ ॥

सब प्राणियों के प्रति दया रखने वाले मुनीश्वर को जगत् में प्रसिद्ध देवेन्द्र, दानवेन्द्र और नरेन्द्र भी प्रणाम करते हैं।

२२. तम्हा पाणदयद्वाए, तेल्लपत्तधरो जधा<sup>५</sup>।  
एगगयमणीभूतो, दयत्थी विहरे मुणी ॥ २२ ॥

इसलिए सब प्राणियों की दया के लिए मुनि तैलपात्र धारक<sup>६</sup> व्यक्ति की भांति एकाग्र मन और दयार्थी होकर विहरण करे।

२३. आणं जिणिंदभणितं<sup>७</sup>, सव्वसत्ताणुगामिणिं।  
'समचित्ताऽभिणंदित्ता'<sup>८</sup>, मुच्चंती सव्वबंधणा ॥ २३ ॥

सब प्राणियों का हित करने वाली जिनेन्द्रदेव द्वारा कथित आज्ञा—उपदेश को समत्व पूर्ण चित्त से स्वीकार करके प्राणी सब बंधनों से मुक्त हो जाते हैं।

२४. वीतमोहस्स दंतस्स, धीमंतस्स भासितं जए<sup>९</sup>।  
जे णरा णाभिणंदंति, ते धुवं दुक्खभागिणो ॥ २४ ॥

इस संसार में वीतमोह, दान्त और बुद्धि सम्पन्न महापुरुषों के द्वारा कथित वाणी का जो व्यक्ति सम्मान

१. वण्हतो (स)।

२. खते (अ, स)।

३. पाणी य (आ, ला, ब, पु, स, हे)।

४. मुणिस्सं (अ, आ, ला, पा, हे)।

५. तथा (अ)।

६. कथा के विस्तार हेतु देखें परि. २, कथा सं. १२।

७. जिणंदं (पा)।

८. सम्मदित्ताभिं (अ, ब), सम्मं दित्ताभिणंदंति (अ, स)।

९. अनुष्टुप् के दूसरे चरण में छंदभंग है, 'जए' पाठ अतिरिक्त है।

नहीं करते, वे निश्चित ही दुःख के भागी बनते हैं।

२५. जेऽभिणंदंति भावेण, जिणाणं तेसि सव्वधा ।

कल्लाणाइं सुहाइं च, रिद्धीओ य ण दुल्लहा ॥ २५ ॥

जो व्यक्ति सम्पूर्ण भावों से जिनेश्वर भगवान् की वाणी को सुनकर प्रसन्न होते हैं, उनके सब प्रकार से कल्याण, सुख और अनेक ऋद्धियां दुर्लभ नहीं रहतीं।

२६. मणं 'जधा रम्ममाणं'<sup>१</sup>, णाणाभावगुणोदयं<sup>२</sup> ।

फुल्लं च<sup>३</sup> पडमिणीसंडं, सुतित्थं गाहवज्जितं ॥ २६ ॥

जैसे विकसित कमलों से सुशोभित सरोवर और मगरमच्छ रहित नदी के घाट को देखकर मन प्रसन्न होता है, वैसे ही अनेक भाव एवं गुणों से युक्त भगवान् के वचन को सुनकर मन प्रसन्न होता है।

२७. रम्मं मंतं जिणिंदाणं<sup>४</sup>, णाणाभावगुणोदयं ।

कस्सेयं ण प्पियं होज्जा, इच्छितं व रसायणं ? ॥ २७ ॥

अनेक भाव एवं गुणों से युक्त जिनेन्द्र भगवान् का सुंदर मंत्र—सिद्धांत मन-इच्छित रसायन की भांति किसको प्रिय नहीं लगता ?

२८. तण्हाओ<sup>५</sup> व सरं रम्मं, वाहिओ वा रुयाहरं<sup>६</sup> ।

छुहितो व जहाऽऽहारं, रणे मूढो व देसियं ॥ २८ ॥

२९. वण्हं सीताहतो वावि, णिवातं वाऽणिलाहतो ।

तातारं वा भउव्विग्गो, अणत्तो वा<sup>७</sup> धणागमं ॥ २९ ॥

३०. गंभीरं सव्वतोभदं<sup>८</sup>, हेतुभंगणयुज्जलं ।

सरणं पयतो मण्णे, जिणिंदवयणं तहा<sup>९</sup> ॥ ३० ॥

प्यासे व्यक्ति को रम्य सरोवर, रोगी को औषधालय, भूखे को आहार, रण में मूढ़ व्यक्ति को स्तुतिपाठक (उपदेशक), शीत से पीड़ित व्यक्ति को अग्नि, ठंडी हवा से प्रताड़ित को निर्वात स्थान, भय से उद्विग्न को त्राता तथा ऋण से पीड़ित व्यक्ति को जैसे धन की प्राप्ति अच्छी लगती है, मैं मानता हूँ वैसी ही प्रसन्नता उस व्यक्ति को होती है, जो गंभीर, सब ओर से कल्याणकारी, हेतु, भंग और नय से युक्त जिनेश्वर भगवान् की वाणी की शरण में जाता है।

१. जधा जधा रम्मं (पा) ।

२. °णोवेयं (स) ।

३. व (स) ।

४. जिणंदाणं (पा) ।

५. अण्हातो (अ), मुखोपाध्याय विनयसागरजी ने 'नण्हातो' पाठ स्वीकृत करके इसका अर्थ अस्नात व्यक्ति किया है।

६. रुणाघरं (आ, ला, पा) ।

७. व (स) ।

८. °तोभव्वं (ब) ।

९. यहां तीन श्लोकों का अनुवाद एक साथ है, इसे विशेषक कहा जाता है।

३१. सारदं वा जलं सुद्धं, पुण्णं वा ससिमंडलं ।  
जच्चमणिं अघट्टं वा, थिरं वा मेदिणीतलं ॥ ३१ ॥

३२. साभावियं गुणोवेतं, भासते<sup>१</sup> जिणसासणं ।  
ससितारापडिच्छणं<sup>२</sup>, सारदं वा नभंगणं ॥ ३२ ॥ युग्मम्

जैसे शरद् ऋतु का शुद्ध जल, पूर्ण चंद्र-मण्डल, अखण्डित उत्तम मणि, स्थिर पृथ्वी तल तथा शरद्ऋतु में चन्द्र और तारागण से आच्छादित नभ सुशोभित होता है, वैसे ही स्वभावतः गुणों से युक्त जिनशासन प्रकाशित होता है ।

३३. सव्वण्णुसासणं पप्प<sup>३</sup>, विण्णाणं पवियंभते ।  
हिमवंतं गिरिं पप्पा, तरूणं चारु वागमो<sup>४</sup> ॥ ३३ ॥

सर्वज्ञ का शासन प्राप्त कर व्यक्ति का ज्ञान उसी प्रकार बढ़ता है, जैसे हिमालय पर्वत को प्राप्त करके वृक्षों की सुंदरता ।

३४. सत्तं बुद्धी मती मेधा, गंभीरत्तं च वड्ढती ।  
ओसधं वा 'सुइं कंतिं'<sup>५</sup>, जुज्जते बलवीरियं ॥ ३४ ॥

जिनशासन को प्राप्त करने से सत्त्व, बुद्धि, मति, मेधा और गाम्भीर्य आदि गुणों में वैसे ही वृद्धि होती है, जैसे औषध-सेवन से शुद्धि, कांति, बल और वीर्य की वृद्धि होती है ।

३५. पयंडस्स णरिंदस्स, कंतारे देसितस्स य ।  
आरोग्गकारगो<sup>६</sup> चव, आणाकोहो दुहावहो ॥ ३५ ॥

प्रचण्ड राजा, सघन जंगल में मार्गदर्शक एवं आरोग्य-दाता वैद्य की आज्ञा का लोप करके उन्हें क्रोधित करना दुःखदायी होता है ।

३६. सासणं जं णरिंदाओ, कंतारे जे य देसगा<sup>७</sup> ।  
रोगुघातो य वेज्जाओ, सव्वमेतं हिए हियं<sup>८</sup> ॥ ३६ ॥

नरेन्द्र के शासन का, कान्तार में मार्गदर्शक का, रोग-नाशक वैद्य का निर्देश-पालन भविष्य के लिए हितकर होता है ।

३७. आणाकोवा जिणिंदस्स, सरण्णस्स जुतीमतो ।  
संसारे दुक्खसंबाहे<sup>९</sup>, दुत्तारो सव्वदेहिणं ॥ ३७ ॥

उन सब प्राणियों के लिए दुःख-बहुल संसार को तैरना दुष्कर है, जो द्युतिमान् और शरणदाता जिनेन्द्र

१. भावते (आ, पा, ला, हे) ।

२. ससीता<sup>०</sup> (मु, अ) ।

३. पप्पा (आ, पा, ला, हे) ।

४. वागमं (पा, ला, हे), वामगं (अ) ।

५. सुयक्कंतं (अ), सुइकंतं (पा), सुइं कंतं (स, हे) ।

६. \*कारणा (अ, ब) ।

७. देसिगा (ला, स, हे) ।

८. यह गाथा ला प्रति में नहीं है ।

९. \*संवादे (आ) ।

की आज्ञा का उल्लंघन करते हैं।

३८. तेलोक्कसारगुरुयं<sup>१</sup>, धीमतो<sup>२</sup> भासितं इमं।

सम्मं काएण<sup>३</sup> फासेत्ता, पुणो ण<sup>४</sup> विरमे ततो ॥ ३८ ॥

त्रैलोक्य में महान् सारभूत जिनवाणी का सम्यग् श्रवण और पालन करके बुद्धिमान पुरुष को फिर उससे विरत नहीं होना चाहिए।

३९. बद्धचिंधो जधा जोधो, वम्मरूढो थिरायुधो।

सीहणादं विमुंचित्ता, पलायंतो<sup>५</sup> ण सोभती ॥ ३९ ॥

४०. अगंधणे कुले जातो, जधा णागो महाविसो।

मुंचित्ता सविसं भूयो, पियंतो जाति लाघवं ॥ ४० ॥

४१. जधा रुप्पिकुलुब्भूतो, रमणिज्जं पि भोयणं।

वंतं पुणो स भुंजंतो, धिद्धिकारस्स भायणं ॥ ४१ ॥

४२. 'एवं जिणिंदआणाए<sup>६</sup>', सल्लुद्धरणमेव य<sup>७</sup>।

णिग्गमो य पलित्ताओ, महिओ<sup>८</sup> सुहमेव तं ॥ ४२ ॥

जैसे बद्धचिह्न, कवच संयुक्त और आयुधों से सज्जित योद्धा सिंहनाद करके युद्ध क्षेत्र से पलायन करता हुआ सुशोभित नहीं होता।

जैसे अगंधन कुल में उत्पन्न महाविषधर सर्प अपने विष को छोड़कर पुनः उसका पान करता हुआ लघुता—हीनता को प्राप्त होता है।

जैसे सम्पन्न कुल में उत्पन्न व्यक्ति मनोज्ञ भोजन को वान्त करके पुनः उसका सेवन करता हुआ धिक्कार का पात्र होता है।

इसी प्रकार जिनेन्द्र देव की आज्ञा के पालन से आत्मा के शल्यों का उद्धार होता है। जलते हुए संसार से निर्गमन होने से वह पूजित होकर सुख को प्राप्त कर लेता है।

४३. इंदासणी ण तं कुज्जा, दित्तो वण्णी अणं अरी।

आसादिज्जंतसंबद्धो<sup>९</sup>, जं कुज्जा रिद्धिगारवो ॥ ४३ ॥

इन्द्र का वज्र, प्रदीप्त अग्नि, ऋण और शत्रु भी उतनी हानि नहीं पहुंचाते, जितना मन के आस्वाद से जुड़ा हुआ ऋद्धि-गौरव का अहंकार।

१. गुरुयं (पु)।

२. धीमतो (अ)।

३. वृत्तिकार ने 'काएण' का अर्थ श्रोत्रेण अर्थात् कान से सम्यक् ग्रहण करके किया है।

४. ते (पा)।

५. विपलायंतो (आ, ला, पा, स, ब)।

६. × (आ, ला, स, हे)।

७. × (स, हे)।

८. सुहिओ (पु)।

९. °तसंबंधो (आ, ला, ब)।



४४. सगाहं वा सरं बुद्धं, विसं 'वा महुजोजितं'<sup>१</sup>।  
सामिसं वा णदीसोतं, साताकम्मं दुहंकरं ॥ ४४ ॥

मगरमच्छ से युक्त पुष्पित सरोवर, विष से भावित शहद और शव युक्त नदी के स्रोत की भांति साताकारी कर्म परिणाम में दुःखदायी होते हैं।

४५. कोसीकिते व्वऽसी तिक्खो, भासच्छण्णो व पावगो।  
लिंगवेसपलिच्छण्णो, अजियप्पा तहा पुमं ॥ ४५ ॥

म्यान में रखी हुई तीक्ष्ण तलवार और भस्माच्छन्न अग्नि की भांति अनेक असंयमी, अजितेन्द्रिय मनुष्य लिंग और वेश में छिपे रहते हैं।

४६. कामा मुसामुही तिक्खाऽसाता कम्माणुसारिणी।  
तण्हं सातं च सिग्घं च, तण्हा छिंदति देहिणं ॥ ४६ ॥

कामना तीक्ष्ण कैंची के समान है, जो असाता कर्म का अनुगमन करने वाली है। यह प्राणियों की तृष्णा—महत्वाकांक्षा, सुख और श्लाघा—कीर्ति का नाश कर देती है।

४७. सदेवोरगगंधव्वं, सतिरिक्खं समाणुसं।  
वत्तं तेहिं जगं किच्छं<sup>२</sup>, तण्हापासणिबंधणं ॥ ४७ ॥

जो व्यक्ति कष्टदायक तृष्णा रूप बंधन को काट देता है, वह स्पष्ट रूप से देव, नाग, गन्धर्व, तिर्यञ्च और मनुष्य संबंधी सम्पूर्ण बंधनों को काट देता है।

४८. अक्खोवंगो वणे लेवो, तावणं जं जतुस्स य।  
गामणं उसुणो जं च<sup>३</sup>, जुत्तितो कज्जकारणं ॥ ४८ ॥

रथ के चक्र पर तैल-म्रक्षण, व्रण पर लेप, लाख को तपाना और बाण को झुकाना—इन सब कार्यों के पीछे युक्ति युक्त कार्य-कारण की परम्परा रहती है।<sup>४</sup>

४९. आहारादी पडीकारो, सव्वण्णुवयणाहितो।  
अप्पाहु<sup>५</sup> तिक्खवणिहस्स, संजमट्टाए संजमो ॥ ४९ ॥

सर्वज्ञ वचन का पालन करने वाला संयमी साधु क्षुधा की तीव्र अग्नि का प्रतिकार करने के लिए तथा संयम-यात्रा के लिए आहार आदि ग्रहण करता है।

१. मुखोपाध्याय विनयसागरजी ने 'वामहुजोजितं' एक साथ पाठ रखकर इसका अर्थ विषमिश्रित नारी (विष-कन्या) किया है लेकिन यह पाठ और अर्थ विमर्शनीय है।

२. किच्चं (ब)।

३. वा (स)।

४. रथ के चक्र पर शाकटिक उतने ही तैल का म्रक्षण करता है, जिससे वह सम्यक् प्रकार से गति कर सके, इसी प्रकार लाक्षाकार उतनी ही अग्नि प्रज्वलित करता है, जिससे अग्नि

भी जलती रहे और लाख को भी ताप पहुंचता रहे तथा बाण-निर्माता तुष के द्वारा उतनी ही अग्नि उत्पन्न करता है, जिससे आग भी न बुझे और बाण का संधान भी हो सके। इसी प्रकार साधक शरीर को उतना ही आहार दे, जिससे शरीर की आवश्यकता की पूर्ति हो और संयम-यात्रा भलीभांति चलती रहे। पच्चीसवें अम्बड़ अध्ययन के गद्य में विस्तार से ये तीनों दृष्टान्त वर्णित हैं।

५. अज्जा हु (अ, ब, हे)।

५०. हेमं वा आयसं वावि, बंधणं दुक्खकारणं<sup>१</sup> ।  
महग्घस्सावि दंडस्स<sup>२</sup>, णिवाते दुक्खसंपदा ॥ ५० ॥

बंधन चाहे सोने का हो या लोहे का, दुःख का कारण होता है। डंडा चाहे बहुमूल्य हो, यदि वह सिर पर पड़ता है तो दुःख का कारण बनता है।

५१. असज्जमाणे<sup>३</sup> दिव्वम्मि<sup>४</sup>, धीमता कज्जकारणं ।  
कंतारे अभिचारित्ता<sup>५</sup>, विण्णायं<sup>६</sup> देहधारणं ॥ ५१ ॥

दिव्य भोगों में अनासक्त बुद्धिमान् व्यक्ति को कार्य-कारण की परम्परा<sup>७</sup> जानकर वन में जाकर विधिपूर्वक देह का व्युत्सर्ग करना चाहिए।

५२. सागरे णावि<sup>८</sup> णिज्जोको, आतुरो वा तुरंगमे ।  
भोयणं भिज्जएहिं<sup>९</sup> वा, जाणेज्जा देहरक्खणं ॥ ५२ ॥

समुद्र में नाविक का नौका में तथा मार्ग में घायल या रोगी व्यक्ति का ध्यान छोड़े में रहता है, वैसे ही बुभुक्षित व्यक्ति को देहरक्षा के लिए भोजन करना चाहिए।

५३. जातं जातं तु विरियं<sup>१०</sup>, सम्मं जुज्जेज्ज संजमे<sup>११</sup> ।  
पुप्फादीहि पुप्फाणं, रक्खंतो आदिकारणं ॥ ५३ ॥

समय-समय पर प्रकट होने वाले वीर्य का संयम में सम्यक् उपयोग करना चाहिए। पुष्पों का उपयोग करने वाला उसके आदि कारणभूत—बीज की रक्षा करता है।

५४. एवं से सिद्धे बुद्धे विरते विपावे दंते दविए अलं ताई णो पुणरवि इच्चत्थं हव्वमागच्छति त्ति  
बेमि ।

इस प्रकार सिद्ध, बुद्ध, विरत, निष्पाप, जितेन्द्रिय, वीतराग, सर्वशक्तिसम्पन्न और षड्जीवनिकाय का त्राता मुनि पुनः इस संसार में भ्रमण नहीं करता, ऐसा मैं (अर्हत् वैश्रमण ऋषि) कहता हूँ।

इसिभासियाइं सम्मत्ताइं

१. °रणा (पा, हे) ।

२. डंड° (पा, हे) ।

३. आसज्ज° (पा, हे) ।

४. दव्वम्मि (अ) ।

५. पूभिचारित्ता (आ, पा, ला) ।

६. विण्णायं (अ, पा), विण्णियं (पा) ।

७. कार्य-कारण की परम्परा से ऋषि का तात्पर्य गा. ४८ की ओर

होना चाहिए। साधक को लगे कि अब शरीर साधना के योग्य नहीं रहा, आहार देने से अभिलषित प्रयोजन की पूर्ति नहीं होने वाली है तो वह आहार का परित्याग कर दे।

८. णाव (पु) ।

९. भिज्जदिहि (अ, पा, ला, हे) ।

१०. वीरियं (अ, पा, आ, हे) ।

११. स यमो (अ) ।



## पढमा संगहणी : प्रथम संग्रहणी<sup>१</sup>

१. पत्तेयबुद्धमिसिणो, वीसं तित्थे अरिदुणेमिस्स ।

पासस्स य पण्णर दस, वीरस्स विलीणमोहस्स ॥ १ ॥

विगतमोह भगवान् अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर के तीर्थ में क्रमशः बीस, पन्द्रह और दस प्रत्येक-बुद्ध ऋषि हुए।

२. नारद-वज्जितपुत्ते, असिते अंगरिसि-पुष्कसाले य ।

वक्कल-कुम्मा केतलि, कासव तह तेतलिसुते य ॥ २ ॥

१. नारद २. वृजिकपुत्र ३. असित ४. अंगर्षि ५. पुष्पशाल (पुत्र) ६. वल्कलचीरी ७. कूर्म (कूर्मापुत्र) ८. केतलि<sup>२</sup> ९. काश्यप (महाकाश्यप) १०. तेतलिपुत्र।

३. मंखलि जण्ण-भयालि, बाहूय महु सोरियायण विदू य ।

वरिसे कण्हे आरिय, उक्कलवादी य तरुणे य ॥ ३ ॥

११. मंखलि १२. यज्ञ (याज्ञवल्क्य) १३. भयालि १४. बाहुक १५. मधु (मधुरायण) १६. शौर्यायण १७. विदु १८. वर्षप कृष्ण १९. आर्य (आर्यायण) २०. उत्कटवादी २१. गाथापतिपुत्र तरुण।

४. गद्दभ रामे य तहा, हरिगिरि<sup>३</sup> अंबड मयंग वारत्तो ।

तत्तो य अद्दए वद्धमाणे वाऊ य तीसत्तिमे ॥ ४ ॥

२२. गर्दभ २३. राम (रामपुत्र) २४. हरिगिरि २५. अम्बड २६. मातंग २७. वारत्रक २८. आर्द्रक २९. वर्द्धमान ३०. वायु तीसवें प्रत्येकबुद्ध हैं।

५. पासे पिंगे अरुणे, इसिगिरि उद्दालए य वित्ते य ।

सिरिगिरि साइयपुत्ते<sup>४</sup>, संजय दीवायणे चव ॥ ५ ॥

३१. पार्श्व ३२. पिंग ३३. अरुण ३४. ऋषिगिरि ३५. उद्दालक ३६. वित्त (तारायण) ३७. श्रीगिरि ३८. साचिपुत्र ३९. संजय ४०. द्वीपायन।

६. तत्तो य इंदणागे, सोम यमे चव होति वरुणे य ।

वेसमणे य महप्पा, चत्ता पंचेव अक्खाते ॥ ६ ॥

४१. इंद्रनाग ४२. सोम ४३. यम ४४. वरुण ४५. वैश्रमण—ये पैतालीस अर्हत् ऋषि कहे गए हैं।

### इसिभासियाणं संगहणी सम्मत्ता

१. अ, क, ला और स प्रति में दोनों संग्रहणी की गाथाएं नहीं हैं।

२. प्रतियों में आठवें अध्ययन के प्रारम्भ एवं अंत में 'तेतलिपुत्त' पाठ मिलता है। इस संदर्भ में विशेष विमर्श हेतु देखें दसवें तेतलिपुत्र ऋषि पृ. ९३।

३. हिरि° (ला, ब, अ, आ, पा)।

४. साचिपुत्र के संदर्भ में विशेष विमर्श हेतु देखें अड़तीसवें ऋषि पृ. ३१५।

## बीया संगहणी : द्वितीय संग्रहणी

१. सोयव्वं जस्स भवियं, लेवो आदाणरक्खि माणा य।

तमेव सव्वं आरं, जाव य सद्धेय णो एयं ॥ १ ॥

१. श्रोतव्य २. जिसका ३. भवितव्य (लेप) ४. परिग्रह की रक्षा करने वाला ५. मान से (उतरना)  
६. उसको ही ७. सर्व ८. आर—इहलोक ९. जब तक १०. श्रद्धेय ११. कम्पन नहीं।

२. लोकेसणा किमत्थं, जुत्तं साता तथेव विसए य।

विज्जा वज्जे आरिय, उक्कलं णाहं ति जाणामि ॥ २ ॥

१२. लोकैषणा १३. किसलिए? १४. युक्त १५. साता १६. विषय १७. विद्या १९. वज्र—पाप १९. आर्य  
२०. उत्कट २१. मैं नहीं जानता।

३. पडिसाडीं ठवण दुवे, मरणो सव्वं तथेव बंभे य।

धम्मे य साहु सोते, सवन्ति अहसच्च तीसमे लोए ॥ ३ ॥

२२. परिशाटी २३. दो मरण की स्थापना २४. सर्व २५. ब्रह्मचर्य २६. धर्म २७. साधु २८. स्रोत  
२९. स्रवित होते हैं ३०. यथासत्य ३१. लोक।

४. किसीं बाले य पंडित, सहणां तह कुप्पणा य बोद्धव्वा।

उप्पत्त उदए य सुहे, पावे तह 'इच्छाणिच्छाणं' ॥ ४ ॥

३२. कृषि ३३. बाल—अज्ञानी ३४. सहन करना ३५. क्रोध ३६. उत्पत्त होना ३७. उदक ३८. सुख ३९.  
पाप ४०. अनिच्छुक को इच्छा (द्वारा चाहना)।

५. आजीवतो य अप्पा, अप्पेण य एसितव्व बहुगं तुं।

लाभे दो ठाणेहि य, अप्पं पाणाण हिंसाऽऽयु ॥ ५ ॥

४१. स्वयं आजीवका से ४२. अल्प से बहुत की एषणा ४३. लाभ ४४. दो स्थानों से (अंगों से)  
४५. प्राणियों का अल्प आयुष्य।

### इसिभासित अत्थाहिगार संगहणी सम्मत्ता

१. भये (आ, ला, पा, हे), भवि (स, पु)।

२. आराए (पु, पा, ब)।

३. व्वेय (पा, हे)।

४. विज्जे (पा, ब)।

५. उक्कले (आ, पा, ब)।

६. °सारि (आ, ब, ला, हे)।

७. सच्चं (आ, पा, ला)।

८. वंसे (ला, पा, ब, हे)।

९. कसि (आ, ला), किसि (पा, हे)।

१०. × (आ, ला, ब, पा, हे)।

११. सुभे (आ, ला, पा, ब, हे)।

१२. इच्छ गिच्छा य (पु), इच्छाअणिच्छा यं (ला, पा),

इच्छइ गिच्छा यं (ब)।

१३. तं (पा)।

## परिशिष्ट

१. पदानुक्रमणिका/गद्यानुक्रमणिका
२. कथाएं
३. सूक्त-सुभाषित
४. उपमा एवं दृष्टान्त
५. विशेषनामानुक्रम
६. तुलनात्मक संदर्भ
७. शब्दार्थ
८. टिप्पण-अनुक्रम
९. प्रयुक्त ग्रंथ सूची
१०. संकेतिका



पदानुक्रमणिका/गद्यानुक्रमणिका

अंकुरा खंध खंधीया	९/१४	अमणुण्णं भोयणं भोच्चा	३८/३
अंजणस्स खयं दिस्स	२८/२२	असंमूढो उ जो णेता	११/४
अकूडत्तं च कूडेसु	२६/१०	असज्जमाणे दिव्वम्मि	४५/५१
अक्खोवंगो वणे लेवो	४५/४८	असम्भावं पवत्तेति	२८/१५
अक्खोवंगणमादाय	४/२४	अहिंसा सव्वसत्ताणं	४५/२०
अगंधणे कुले जातो	४५/४०	आऊ धणं बलं रूवं	२४/१२
अग्गिणा तु इहं दड्ढा	३६/७	आजीवत्थं तवो ऽमोत्तुं	४१/१०
अणग्घेयं मणिं मोत्तुं	४१/८	आणं जिणिंदभणितं	४५/२३
अणुबद्धमपस्संता	१५/२०, ४५/९	आणाकोवा जिणिंदस्स	४५/३७
अण्णहा स मणे होति	४/६	आतं परं च जाणेज्जा	३५/१३
अण्णाणं परमं दुक्खं	२१/३	आत-कडाण कम्माणं	१५/२१, ४५/१०
अण्णाणविप्पमूहप्पा	३५/२, ४, ६, ८	आतट्ठे जागरो होहि	३५/१५
अण्णाणेण अहं पुव्वं	२१/६	आतट्ठो णिज्जरायंतो	३५/१७
अण्णातकम्मि अट्टालकम्मि	३५/१८, २२	आता छेत्तं तवो बीयं	२६/९, ३२/३
अत्थादाइं जणं जाणे	३८/३०	आताणाए उ सव्वेसिं	१३/३
अत्थि मे तेण देति	१३/८	आमिसत्थी झसो चव	४१/७
अदिन्नं गिण्हते जो उ	३/५	आयाणरक्खी पुरिसे	४/१
अदुवा परिसामञ्जे	४/९	आरियं णाणं साहू	१९/६
अधुवं संसिया रज्जं	२४/३४	आरूढा रायरहं	२६/३
अपडिण्णभावाओ	३४/८	आलस्सं तु परिण्णाय	७/४
अप्पं च आउं इह माणवाणं	४५/१	आलस्सेणावि जे केइ	७/३
अप्पक्कतावराहेहिं	२८/१३	आवज्जती समुग्घातो	९/३०
अप्पक्कतावराहोऽयं	२८/१२	आहारत्थी जहा बालो	१५/१४
अप्परोही जहा बीयं	२४/२६	आहारादीपडीकारो	४५/४९
अप्पा ठिती सरीराणं	९/१७	आहाराहि तु जीवाणं	४५/१७
अप्पियं पाणिघातं च	४५/१९	इंदासणी ण तं कुज्जा	४५/४३
अप्पेण बहुमेसेज्जा	४२/१	इंदिएहिं सुदंतेहिं	२९/१५
अभिणिस्सए इमं लोगं	१४/३	इच्छंते पेच्छते इच्छा	४०/५



इच्छमणिच्छं पुरा करेज्जा	४०/१	कतरे धम्मे पण्णत्ते	२६/१
इच्छा बहुविधा लोए	४०/२	कतो छेतं कतो बीयं	३२/२
इच्छाभिभूता न जाणंति	४०/३	कम्मभावेऽणुवत्तंती	२४/१८
इच्छामूलं नियच्छंति	४०/४	कम्ममूलमनिव्वाणं	९/४
इत्थी उ बलवं जत्थ	२२/१०	कम्मस्स संतइं चित्तं	२४/४०
इत्थीऽणुगिद्धे वसए	६/१०	कम्मादाणे निरुद्धम्मि	९/२४
इध जं कीरते कम्मं	३०/२	कल्लाणं ति भणंतस्स	३०/८
इमा विज्जा महाविज्जा	१७/१	कल्लाणमित्तसंसग्गिं	३३/१७
इय उत्तमगंथच्छेदए	८/२	कल्लाणा लभति कल्लाणं	३०/५
इहेव कित्तं पाउणति	३३/९	कसाया मलणं तस्स	२६/१५
इहेवाकित्ति पावेहिं	३३/७	कामं अकामकामी	७/५
उक्कडुंतं जधा तोयं	९/१६	कामग्गहविणिम्मुक्का	२८/१८
उच्चं वा जइ वा णीयं	२४/१५	कामभोगाभिभूतप्पा	२८/१०
उच्चादीयं विकप्पं तु	२८/२३	काममोहितचित्तेणं	२८/११
उच्छायणं कुलाणं तु	२२/८	कामसल्लमणुद्धित्ता	२८/६
उवक्कमो य उक्केरो	९/१५	कामाण मग्गणं दुक्खं	२८/९
उव्विवारा जलोहंता	४५/१४	कामा मुसामुही तिक्खा	४५/४६
एकं भवं डहे वण्णी	३६/६	काले काले य मेहावी	२८/२१
एयं किसिं कसित्ताणं	२६/१६, ३२/५	किं कज्जते उ दीणस्स	३४/९
एवं अणेगवण्णागं	३८/४	किमदंतस्स रण्णेणं	३८/१८
एवं जिणंदआणाए	४५/४२	कोधं जो उ उदीरेई	३/८
एवं तवोबलत्थे वि	३६/१२	कोध-माण-परिणस्स	५/५
एवमेतं करिस्सामि	२४/१६	कोधो बहुविधो लेवो	३/१०
एस एव विवण्णासो	९/११	कोवमूलं णियच्छंति	३६/१६
एसा किसी सोभतरा	३२/४	कोवो अग्गी तमो मच्चू	३६/३
कंचणस्स जहा धातू	९/२८	कोसीकित्ते व्वऽसी तिक्खो	४५/४५
कंतारे वारिमज्जे वा	२४/३	कोहाविद्धा ण जाणंति	३६/१५
कंती जाई वयोऽवत्था	२४/२०	कोहेण अप्पं डहती परं च	३६/१४
कंदमूला जहा वल्ली	२४/२२	खइणं पमाणं वत्तं च	३३/१०
कज्जणिव्वत्तिपाओग्गं	३८/२८	खणथोवमुहुत्तमंतरं	२८/२४

खिज्जंते पावकम्मम्मि	९/१८	जधा खीरं पधाणं तु	३/१३
खीरे दूंसिं जधा पप्प	३/१२	जधा रुप्पिकुलुब्भूतो	४५/४१
गंधं घाणमुवादाय	२९/७	जम्मं जरा य मच्चू य	२१/५
गंभीरं सव्वतोभदं	९/३५, ४५/३०	जस्स एते परिण्णाता	३/१६
गंभीरमेरुसारे वि	३६/१०	जस्स कज्जस्स जो जोगो	३८/२३
गंभीरो वि तवोरासी	३६/१३	जस्स भीता पलायंति	२/१
गच्छति कम्महे सेऽणुबद्धे	२/३	जहा अंटे जहा बीए	९/९
गरंता मदिरा वावि	२२/७	जहा अस्साविणिं नावं	२८/२०
गलुच्छिन्ना असोते वा	४१/३	जहा आतवसंतत्तं	९/२७
गाहाकुला सुतिव्वा व	२२/५	जहा कवोता य कविंजला य	१२/२, ४१/१७
गेहं वेराण गंभीरं	२२/९	जागरंतं मुणिं वीरं	३५/२४
चंचलं सुहमादाय	२४/३३	जागरह णरा निच्चं	३५/२१, २३
चोरं पि ता पसंसंति	४/१५	जा ऽजया सहजा जा वा	२४/१७
छज्जीवकायहितए	२६/७	जाणेज्जा सरणं धीरो	३८/२४
छिण्णसोते भिसं सव्वे	२८/१	जातं जातं तु विरियं	४५/५३
छिण्णादाणं धुवं कम्मं	१५/३१	जारिसं किज्जते कम्मं	३०/४
छिण्णादाणं सयं कम्मं	२४/२४	जारिसं वुप्पते बीयं	३०/३
छिन्नमूला जहा वल्ली	२४/२५	जित्ता मणं कसाए या	२९/१७
जइ परो पडिसेवेज्ज	३५/१६	जीवो अप्पोघाताय	२८/१४
जइ मे परो पसंसाति	४/१७	जुज्जते कम्मुणा जेणं	२४/२७
जइ मे परो विगरहाति	४/१८	जे गिद्धे कामभोगेसु	२८/१९
जं उलूका पसंसंति	४/१९	जे चोलकउवणयणेसु वावि	२७/६
जं कडं देहिणो जेणं	२४/१९	जे जणा आरिया णिच्चं	१९/५
जं च बाला पसंसंति	४/२०	जे जणाणारिए णिच्चं	१९/३
जं तु परं णवएहिं	६/७	जे जीवणहेतुं पूयणट्ठा	२७/७
जं सुहेण सुहं लद्धं	३८/१	जेण केणइ उवाएण	३४/७
जं हुतासं विवज्जेति	४५/११	जेण बंधं च मोक्खं च	१७/२
जग्गाही, मा सुवाही	३५/१९	जेण जाणामि अप्पाणं	४/४
जणवादो ण ताएज्जा	७/२	जे णरे कुव्वती पावं	३९/२
जत्थत्थी जे समारंभा	२२/१३	जे ण लुब्भति कामेहिं	३४/१२

जेणाभिभूतो जहती तु धम्मं	३६/१७	णावा अकण्णधारा व	६/४
जे पुमं कुरुते पावं	४५/३	णावा व वारिमज्झम्मि	९/३१
जे भिक्खु सखेयमागते	२७/४	णासेवेज्ज मुणी गेही	२८/२
जेऽभिणंदंति भावेण	४५/२५	णियदोसे णिगूहंते	४/३
जे लक्खण-सुमिण-पहेलियाउ	२७/५	णिरंकुसे व मातंगे	६/३
जे लुब्भंति हि कामेसु	२८/३	णेव बालेहि संसग्गिं	३३/६
जेसिं आजीवओ अप्पा	४१/१	णेहवत्तिक्खए दीवो	९/२२
जेसिं जहिं सुहुप्पती	२२/१४	णो संवसितुं सक्कं	४/२
जेसु जायंति कोधादी	३५/११	तणखाणु-कंटक-लता	४/७
जो जत्थ विज्जती भावो	४/२१	तण्हाओ व सरं रम्मं	४५/२८
जो पुमं पावकं कम्मं	३९/१	तम्हा उ सव्वदुक्खाणं	१५/३२
जो मुसं भासते किंचि	३/४	तम्हा ते तं विकिंचित्ता	३/११
जोव्वणं रूवसंपत्तिं	२४/८	तम्हा तेसिं विणासाय	३५/१०
डंभकप्पं कत्तिसमं	३८/३१	तम्हा पाणदयट्ठाए	४५/२२
डाहो भयं हुतासातो	२२/११	तवो बीयं अवज्झं से	२६/१३
णच्चाण आतुरं लोकं	३४/१०	तहा बालो दुही वत्थुं	१५/२५
णण्णस्स वयणाऽचोरे	४/१६	ताहं कडोदयुब्भूता	२४/२१
ण दुक्खं ण सुहं वावि	३८/१२	तित्तिं कामेसु णासज्ज	२८/८
ण पाणे अतिवातेज्जा	५/४	तुच्छे जणम्मि संवेगो	३८/१४
णमंसमाणस्स सदा	५/३	तेलोककसारगुरुयं	४५/३८
ण माहणे धणुरहे	२६/४	दंतिंदियस्स वीरस्स	३८/१७
णरं कल्लाणकारिं पि	४/१४	दव्वओ खेत्तओ चेव	२४/४१
णाणप्पगहसंबंधं	६/८	दव्वतो खेत्ततो चेव	९/३४
णाणमेवोवजीवंतो	४१/११	दव्वे खेत्ते य काले य	३८/३३
णाणावण्णेसु गंधेसु	३८/७	दाणमाणोवयारेहिं	२४/१४
णाणावण्णेसु फासेसु	३८/९	दित्तं पावंति उक्कंठं	४१/५
णाणावण्णेसु रसेसु	३८/८	दीवे पातो पतंगस्स	२१/७
णाणावण्णेसु रूवेसु	३८/६	दुक्खं खवेति जुत्तप्पा	९/२०
णाणावण्णेसु सद्देसु	३८/५	दुक्खं जरा य मच्चू य	१५/२३
णारीगणपसत्ते तु	६/२	दुक्खमूलं च संसारे	२/८

दुःखमूलं पुरा किञ्चा	१५/१३	पच्चुप्पण्णरसे गिद्धो	१५/१६, २४/३१,
दुःखा परिवित्तसंति पाणा	२/२		४५/५
दुःखिओ दुःखघाताय	१५/१२	पत्तस्स मम य अन्नेसिं	३६/२
दुहंता इंदिया पंच	१६/३, २९/१३	पत्तिंधणस्स वण्हिस्स	१५/२९
दुहंते इंदिए पंच	१६/४	पत्थंति भावतो कामे	२८/५
दुहंतेहिंदिएहऽप्पा	२९/१४	पत्थरेणाहतो कीबो	१५/२४
दुप्पचिण्णं सपेहाए	४/१०	पर्यंडस्स णरिदस्स	४५/३५
दुभासियाए भासाए	३३/२, ४	पयहितु सिणेहबंधणं	२७/३
दुहरूवा दुरंतस्स	३८/२०	परं णवग्गहाभावा	९/३३
देज्जाहि जो मरंतस्स	४५/१५	परिग्गहं गिण्हते जो उ	३/७
देविंदा दाणविंदा य	२४/११, ४५/२१	परिवारे चैव वेसे य	३८/२९
देविंदा समहिद्धीया	२४/९	परोवघाततल्लिच्छो	१५/१७, ४५/६, २४/३०
दोसादाणे निरुद्धम्मि	९/२३	पाडिस्सुयासरिसं कम्मं	३०/९
धारिणी सुसहा चैव	२४/४	पाणतिवातो लेवो	३/९
धावंतं सरि-संतारं	४५/१२	पावं जे उ पकुव्वंति	१५/१९, ४५/८
धिती खलं च सुयिकं	२६/१४	पावं ण कुज्जा, ण हणेज्ज पाणे	४५/२
धित्तेसिं गामणगराणं	२२/४, २२/१०/१	पावं परस्स कुव्वंतो	१५/१५, ४५/४,
धूमहीणो य जो वण्ही	१५/३०		२४/२९
न चिरं जणे संवसे	२७/२	पावकम्मोदयं पप्प	४५/१३
निच्चलं कतमारोगं	२४/४२	पावघाते हतं दुक्खं	१५/१०
निव्वत्तिं मोक्खमग्गस्स	११/८	पावमूलमणिव्वाणं	१५/५
निव्वत्ती वीरियं चैव	९/१०	पुढविं आगम्म सिरसा	५/२
पंच जागरओ सुत्ता	२९/२, ३८/१०	पुण्णं तित्थमुवागम्म	३३/११
पंचमहव्वयगुत्ते	३४/११	पुण्णपावस्स आदाणे	९/६
पंचवणीमकसुद्धं	१२/३, ४१/१६	पुत्त-दारं धणं रज्जं	४५/१६
पंचिंदियाइं सण्णा	३५/२०	पुरिसो रहमारूढो	९/२५
पंचेव इंदियाणि तु	२६/१२	पुव्वं मणं जिणित्ताणं	२९/१६
पंथाणं रूवसंबद्धं	१२/४	पुव्वजोगा असंगत्ता	९/३२
पच्चाणं चैव रूवं च	३८/२७	पुव्वरत्तावरत्तम्मि	४/१२

फासं तयमुवादाय	२९/११	मूलकोउगकम्मोहिं	४१/१३
बंधंता निज्जरंता य	२४/३८	मूलसेके फलुप्पत्ती	२/६, १३/६, १५/११
बंधणं मोयणं चैव	१७/६	मेहुणं तु ण गच्छेज्जा	२६/५
बंधचारी जई कुद्धो	३८/२६	मेहुणं सेवते जो उ	३/६
बज्झते बुज्झते चैव	२४/२३	मोहक्खए उ जुत्तस्स	३८/१३
बज्झते मुच्चते चैव	२४/३९	मोहमूलमणिव्वाणं	२/७
बद्धचिंधो जधा जोधो	४५/३९	मोही मोहीण मज्झम्मि	२४/३७
ब्रितियं जरो दुपाणत्थं	२१/८	मोहोदई सयं जंतू	२४/३६
बीयभूताणि कम्माणि	२/५	मोहोदये सयं जंतू	२४/३५
बीया अंकुरणिप्फत्ती	२/४	रण्णे दवग्गिणा दड्ढा	३/१४
भासच्छण्णो जहा वण्ही	१५/२८	रम्मं मंतं जिणिंदाणं	४५/२७
भुंजित्तुच्चावए भोए	४/८	रसं जिब्भमुवादाय	२९/९
मक्खिणो घतकुंभे वा	४१/६	रूवं चक्खुमुवादाय	२९/५
मच्छा व झीणपाणीया	४१/४	रायाणो वणिया जागे	२६/२
मज्जं दोसा विसं वण्ही	९/२३/१	लाभम्मि जे ण सुमणो	४३/१
मणं जधा रम्ममाणं	४५/२६	लुप्पत्ती जस्स जं अत्थि	१३/७
मणुण्णं भोयणं भोच्चा	३८/२	वज्जेज्जऽणारियं भावं	१९/२
मणुण्णम्मि अरज्जंते	२९/४, ६, ८,	वणं वणिहं कसाए य	१५/२६
	१०, १२	वणिहं रविं ससंकं वा	२४/७
मण्णंति भद्दकं भद्दकाइं	३०/७	वणिहं सीताहतो वावि	४५/२९
मण्णति मुक्कमप्पाणं	६/११	वणिहणो ण बलं छित्तं	३६/४
मण्णे बाणेण विद्धे तु	३५/३, ५, ७, ९	वणिहमारुयसंजोगा	९/२६
मम्मं ससल्लजीवं च	१७/५	वण्ही अणस्स कम्मस्स	१५/२७
महाविसे वऽही दित्ते	३६/११	वण्ही सरीरमाहारं	१६/५
मा ममं जाणरु कोयी	४१/१५	वत्थादिगोसु सुज्झेसु	९/२९
मासे मासे य जो बालो	४१/१४	वदतु जणे जं से इच्छितं	४/२३
मिगा बज्झंति पासेहिं	२१/४	ववगतकुसले संछिण्णसोए	२७/८
मिगारी य भुयंगो य	२१/९	वाहिक्खयाय दुक्खं वा	३८/११
मिच्छत्तं अनियत्ती य	९/८	विकीतं तेसि सुकडं तु	४१/२
मुक्कं पुप्फं व आगासे	६/५	विज्जामंतोपदेसेहिं	४१/१२

विज्जोवयारविण्णाता	११/७	सत्थेण वण्हिणा वावि	४५/१८
विज्जोसहिण्णिवारेणु	९/१९	सदेवमाणुसा कामा	२८/७
विण्णासो ओसहीणं तु	२१/११, १२	सदेवोरगगंधव्वं	४५/४७, २८/१७
विसं वा अमतं वावि	४/२२	सदेवोरगगंधव्वे	२४/१३
वीतमोहस्स दंतस्स	४५/२४	सहं सोतमुवादाय	२९/३
वेसपच्चाणऽसंबद्धं	३८/२५	सम्भाववक्कविवसं	३३/१२
सए गेहे पलित्तम्मि	३५/१४	सम्भावे दुब्बलं जाणे	३८/३२
संकणीयं च जं वत्थू	२२/१२	सभावे सति कंदस्स	१५/७, ९
संजोए जो विहाणं तु	११/६	सभावे सति पावस्स	१५/८
संततं बंधते कम्मं	९/१३	समस्सिता गिरिं मेरुं	३३/१६
संतमेतं इमं कम्मं	१३/५	सम्मं कम्मपरिण्णाणं	१७/४
संतस्स करणं णत्थि	१३/४	सम्मं रोगपरिण्णाणं	१७/३
संते जम्मे पसूयंति	१५/२२	सम्मत्तं गोत्थणवो	२६/११
संधिज्जा आरियं मग्गं	१९/४	सम्मत्तं च अहिंसं च	३३/१८
संपुण्णवाहिणीओ वि	३३/१५	सम्मत्तं च दयं चेव	९/२१, ३८/२१
संवरो निज्जरा चेव	९/७	सम्मत्तणिरतं धीरं	२९/१८, ३३/१३
संसग्गतो पसूयंति	३३/१४	सल्लं कामा विसं कामा	२८/४
संसारसंतती चित्ता	२४/२८	सर्वंति सव्वतो सोता	२९/१
संसारसंतईमूलं	९/५	सवसो पावं पुरा किच्चा	१५/१८, ४५/७,
संसारे दुक्खमूलं तु	१५/६		२४/३२
संसारे सव्वजीवाणं	२४/६	सव्वं च सव्वहिं चेव	१/३
सकुणी संकुप्पघातं च	१८/३	सव्वं सोयव्वमादाय	१/५
सक्का वण्ही णिवारेतुं	३/१५, ३६/५	सव्वणुसासणं पप्प	४५/३३
सक्को तमो णिवारेतुं	३६/८	सव्वतो विरते दंते	१/४
सगाहं वा सरं बुद्धं	४५/४४	सव्वत्थ णिरणुक्कोसा	२४/१०
सच्छंदगतिपयारा	६/९	सव्वत्थ विरते दंते	२९/१९
सज्झायझाणोवगतो जितप्पा	१७/८	सव्वसत्तोदयोवेतो	३८/१६
सत्तं बुद्धी मती मेधा	३६/९, ४५/३४	सव्विंदिएहिं गुत्तेहिं	२६/६
सत्थं सल्लं विसं जंतं	३५/१२	सागरे णावि णिज्जोको	४५/५२
सत्थकं वावि आरंभं	३८/२२	साभावियं गुणोवेतं	४५/३२

सामण्णे गीत णं माणा	३८/१५	सुप्पचिण्णं सपेहाए	४/११
सारदं वा जलं सुद्धं	४५/३१	सुप्पियं तणयं भद्दा	२१/१०
सावज्जजोगं णिहिलं विदित्ता	१७/७	सुभावभावितप्पाणो	३८/१९
सासनं जं णरिंदाओ	४५/३६	सुभासियाए भासाए	३३/३, ५
साहूहिं संगमं कुज्जा	३३/८	सुयाणि भित्तिए चित्तं	४/५
सिग्घवायिसमाउत्ते	२४/५	सुहुमे व बायरे वा	३/३
सिट्ठकम्मो तु जो वेज्जो	११/५	सूदणं-सूदइत्ताणं	३०/६
सिया पावं सइं कुज्जा	३९/३, ४	सोय-मत्तेण विसं गेज्झं	४१/९
सीलक्खरहमारूढो	४/२५	सोवायाणा निरादाणा	९/१२
सीसं जहा सरीरस्स	२२/१६	हट्ठं करेतीह णिरुज्झमाणो	३६/१८
सीसच्छेदे धुवो मच्चू	२२/१५	हिंसादाणं पवत्तेति	२८/१६
सुकडं दुक्कडं वावि	४/१३	हेमं वा आयसं वावि	४५/५०
सुत्तमेत्तगतिं चेव	६/६	हेमा गुहा ससीहा वा	२२/६

### गद्यानुक्रमणिका

अकामए चरए तवं	१४/४	उद्धंगामी जीवा	३१/४
अण्णाणमूलकं खलु भो	२१/२	उप्पतता उप्पतता	३६/१
अधासच्चमिणं सव्वं	३०/१	उभयो कालं उभयो	३७/३
अप्पणिया खलु भो	१४/२	एत्थ अंडे संतत्ते	३७/२
अप्पेण बहुमेसेज्जा	४२/१	एत्थं विण्णत्तिं बेमि	२३/२
अयते खलु भो जीवे	१८/१	एवं से सिद्धे बुद्धे	१/७, २/९, ३/१७, ४/२६, ५/६,
असाहुकम्मकारी खलु अयं	४/१		६/१२, ७/६, ८/४, ९/३६, १०/६,
आरं दुगुणेणं, पारं	८/१		११/९, १२/५, १३/९, १४/६,
इच्छमणिच्छं पुरा करेज्जा	४०/१		१५/३३, १६/६, १७/१०, १८/४,
उड्डं पायतला	२०/७		१९/७, २०/९, २१/१३, २२/१७,

२३/३, २४/४३, २५/११, २६/१७,	गो हं खलु भो! अप्पणो	१३/२	
२७/९, २८/२५, २९/२०, ३०/१०,	तए णं अंबडे परिव्वायगे	२५/१	
३१/११, ३२/६, ३३/१९, ३४/१३,	तए णं जोगंधरायणे.....	२५/२	
३५/२५, ३६/१९, ३७/६, ३८/३४,	तए णं सा पुट्टिला	१०/४	
३९/७, ४०/७, ४१/१८, ४२/३,	तं कहमिति ?	१६/२, २५/६	
४३/२, ४४/२, ४५/५४	तते णं से तेतलिपुत्ते अमच्चे	१०/५	
एस खलु असंबुद्धे	३१/७	तमेव उवरते मातंगसङ्के	६/१
एस खलु संबुद्धे	३१/८	तम्हा एतं सम्मं ति	२०/८
कम्मुणा खलु भो! अप्पहीणेणं	९/२	तम्हा एयं वियाणिय	८/३
कम्मुणा पहीणेणं खलु	९/३	तातीणं च खलु णत्थि	११/३
किमत्थं णत्थि लावणताए	१३/१	ते णं भगवं सुत्तं	२५/४
के यं लोए ? कइविधे	३१/१	तेतलिपुत्तेणं अमच्चेण	१०/३
को कं ठावेति णणत्थ	१०/१	दव्वओ खेतओ कालओ	४०/६
चउहिं ठाणेहिं खलु भो!	३५/१	दिव्वं भो! किसिं किसेज्जा	२६/८, ३२/१
जस्स खलु भो! विसयायारा	१६/१	दुक्खेण खलु भो! अप्पहीणेणं	१५/४
जस्सट्टाए णिहेति, बिहेति	३१/६	दुवे मरणा अस्सिं लोए	२३/१
जाव जाव जम्मं, ताव ताव कम्मं	९/१	दोहिं अंगेहिं उप्पीलंतेहिं	४४/१
जाव जाव लोएसणा	१२/१	दोहिं ठाणेहिं बालं जाणेज्जा	३३/१
जीवा चेव अजीवा चेव	३१/२	पंच उक्कला पणत्ता	२०/१
जीवा चेव गमणपरिणता	३१/३	पंचहिं ठाणेहिं पंडिते	३४/१
जीवा दुविधं वेदणं	३१/५	पडुप्पणमिणं सोच्चा	३७/५
जुत्तं अजुत्तजोगं ण	१४/१	परकीयसव्वसावज्जं	१७/९
जे खलु आरिया पावेहिं	२५/३	परिसाडी कम्मे अपरिसाडिणो	२२/१
जे खलु भो! जीवे	१८/२	पाणातिपातं तिविहं तिविहेणं	१/२
ण वि अत्थि रसेहिं	३९/६	पुरिसादीया धम्मा	२२/२
ण वि माया, ण कदाइ	३७/४	बाले खलु पंडितं पच्चक्खमेव	३४/३
णाहं पुरा किंचि	२१/१	बाले खलु पंडितं परोक्खं	३४/२
णिरवज्जे ठितस्स तु णो	४२/२	बाले पंडितं जीवियाओ	३४/६



बाले य पंडितं अण्णतरेणं	३४/५	साधु-सुचरितं अक्वाहता	२७/१
बाले य पंडितं दंडेण	३४/४	सिद्धयणे व्व आणच्चा	११/१
भवितव्वं खलु भो! सव्व.....	३/१	से एजति वेयति	११/२
माणं पच्चोतरित्ताणं	५/१	से कधमेतं ? विगतरागता	२५/५
रहस्से खलु भो पावं	३९/५	से कधमेतं ? हत्थिमहारुक्ख.....	२५/७
लोए ण कयाइ णासी	३१/९	से किं तं तेणुक्कले	२०/४
वर्यंति खलु भो! य	२४/२	से किं तं दंडुक्कले	२०/२
संतं दुक्खी दुक्खं उदीरेति	१५/३	से किं तं देसुक्कले	२०/५
सकामए पव्वइए	१४/५	से किं तं रज्जुक्कले	२०/३
सच्चं चेषोपसेवंती	१/६	से किं तं सव्वुक्कले	२०/६
सपरिजणं पि णाम ममं	१०/२	से जधाणामए उसुकारए	२५/१०
सव्वं दुक्खावहं दुक्खं	७/१	से जधाणामए जतुकारगे	२५/९
सव्वमिणं पुरा उदगमासि	३७/१	से जधाणामए साकडिए	२५/८
सव्वमिणं पुरा भव्वं	२४/१	से जहानामए अरती	२२/३
सव्वमिणं पुराऽऽरियमासि	१९/१	से जहानामए पंच	३१/१०
सातादुक्खेण अभिभूतस्स	१५/२	से भवति सव्वकामविरते	३/२
सातादुक्खेण अभिभूते	१५/१	सोयव्वमेव वदति	१/१

## कथाएं

### १. वृद्ध शेर और शृगाल

एक वृद्ध सिंह प्रतिदिन जंगल के हिरण, शृगाल आदि प्राणियों की हिंसा करता था। एक दिन पशुओं ने वनराज सिंह के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि प्रतिदिन आपके पास एक पशु भेज दिया जाएगा, जिससे अन्य पशुओं को किसी प्रकार का भय न हो। सिंह ने उनकी बात स्वीकृत कर ली। सिंह के पास क्रमशः पशु जाने लगे। एक दिन एक शृगाल की बारी आई। उसने अपनी बुद्धि को काम में लिया और कुछ देरी से सिंह के पास पहुंचा। क्रोधावेश में आकर सिंह ने पूछा—“तुम इतने देरी से क्यों आए?” सियार बोला—“राजन्! मैं आपके पास आ रहा था, तभी रास्ते में दूसरा सिंह मिल गया और बोला—“वह सिंह तो बूढ़ा हो गया है, वनराज तो मैं ही हूँ।” सिंह ने पूछा—“यह नया वनराज कौन है, मुझे उसके पास ले चलो।”

आगे-आगे सियार और पीछे सिंह चलने लगा। शृगाल झाड़ियों में इधर-उधर झांककर बोला—“वह आपके भय से कहीं छिप गया है, मैं अभी उसको खोजता हूँ।” फिर कूप के निकट जाकर उसमें झांककर बोला—“आपके भय से वह सिंह इस कूप में छिपकर बैठा है।” सिंह ने जब कूप में झांका तो उसे अपनी परछाई दिखाई दी। अपने प्रतिबिम्ब को दूसरा सिंह समझकर वह कूप में कूद पड़ा। कूप में गिरते ही वह विनाश को प्राप्त हो गया।<sup>१</sup>

### २. सिंह और सर्प

एक बार जंगल में सर्प की बांबी के पास एक सिंह विश्राम कर रहा था। सहसा सर्प बिल से निकला और उसने सिंह को अपने दंश का प्रहार कर दिया। दंश की पीड़ा से उत्तेजित होकर सिंह ने भी अपने नुकीले पंजों से सर्प को कुचल दिया। सिंह के शरीर में भी सर्प का विष व्याप्त होने लगा। दोनों का वहीं प्राणान्त हो गया।<sup>२</sup>

### ३. मोहाकुल माता द्वारा पुत्र-भक्षण

राजा कीर्तिधर की पत्नी का नाम सहदेवी था। वैराग्य की उत्कृष्टता के कारण राजा दीक्षा लेना चाहता था लेकिन मंत्री मण्डल ने सलाह दी कि राज्य को उत्तराधिकारी दिए बिना दीक्षा लेना उचित नहीं रहेगा। राजा ने मंत्रियों की बात स्वीकृत कर ली और पुत्र-जन्म की प्रतीक्षा करने लगा। कालान्तर में सहदेवी गर्भवती हुई लेकिन पति के वैराग्य के भय से उसने यह बात गुप्त रखी। राजा ने अपने विश्वस्त मंत्रिमण्डल से कहा—“पुत्र का जन्म होते ही मैं संन्यास धारण करूंगा, पुत्र के युवा होने की प्रतीक्षा नहीं करूंगा।”

रहस्य गुप्त रखने पर भी राजा को यह बात ज्ञात हो गई कि उनके पुत्र का जन्म हो गया है। उन्होंने पन्द्रह दिन के राजकुमार सुकौशल का राज्यतिलक करके आचार्य विजयसेन के पास दीक्षा ग्रहण कर ली। युवा होने पर

१. ऋषि २१/८, यह कथा पंचतन्त्र में मिलती है।

२. ऋषि २१/९।

राजकुमार सुकौशल का विवाह कर दिया गया।

ग्रामानुग्राम विहार करते हुए मुनि कीर्तिधर अयोध्या नगरी पहुंचे। राजमाता सहदेवी ने मुनि को पहचान लिया और राजपुरुषों को आदेश दिया कि मुनि कीर्तिधर को नगर में प्रवेश न करने दिया जाए। उसके मन में यह भय था कि मेरा पुत्र बचपन से विरक्त है, कहीं मुनि की संगति से यह दीक्षा के लिए तैयार न हो जाए।

एक दिन राजकुमार और धायमाता गवाक्ष में बैठे थे। धायमाता को रोते हुए देखकर राजकुमार ने उन्हें दुःख का कारण पूछा। धायमाता ने यथार्थ स्थिति बताते हुए कहा—“मुनि कीर्तिधर आपके पिता हैं। आप मुनि न बन जाएं इसलिए राजमाता ने मुनि का अपमान किया है।” राजकुमार सुकौशल तत्काल अपने पिता मुनि कीर्तिधर के पास पहुंचा और माता के अकृत्य के लिए क्षमा मांगी। मुनि के धर्मोपदेश से राजकुमार सुकौशल विरक्त हो गया। जब मंत्री मण्डल के समक्ष उसने दीक्षा की बात की तो उत्तराधिकारी की बात सामने आई। राजकुमार ने कहा—“मेरी पत्नी विचित्रमाला गर्भवती है। गर्भावस्था में ही मैं उसका राजतिलक करता हूं। मैं पुत्र-जन्म की प्रतीक्षा नहीं करूंगा।”

पुत्र की दीक्षा से राजमाता सहदेवी और अधिक कुपित हो गई। पति और पुत्र के वियोग में आर्तध्यान के कारण वह मरकर बाधिन बनी। मुनि कीर्तिधर और मुनि सुकौशल दोनों साथ-साथ विहार करते थे। एक बार वे जंगल में जा रहे थे। रास्ते में उन्हें वही बाधिन मिली। दोनों मुनियों को देखकर उसका पूर्वभव का वैर उभर आया। उसने सर्वप्रथम सुकौशल मुनि को मारा। मुनि कीर्तिधर उस स्थिति में भी आत्मस्थ रहे। सुकौशल का शरीर खाते हुए बाधिन की नजर उसके हाथ पर पड़ी। हाथ का एक चिह्न देखते ही उसे जातिस्मृति हो गई। पश्चात्ताप से उसकी आंखों से आसुओं की धारा बहने लगी। मुनि कीर्तिधर ने उसे उपदेश दिया, तब उसने वैराग्य धारण करके मांसभक्षण छोड़ दिया।<sup>१</sup>

#### ४. वृद्ध शेर और शृगाल<sup>२</sup>

#### ५. तैलपात्र धारक

भगवान् ऋषभ देशना दे रहे थे। उन्होंने कहा—‘इस अवसर्पिणी काल में मैं प्रथम तीर्थंकर हूं, जिसका पुत्र चक्रवर्ती भरत मोक्ष जाएगा। साथ ही इस अवसर्पिणी काल में मेरी मां सर्वप्रथम सिद्ध बनेगी।’ भगवान् की इस देशना को सुनकर एक व्यक्ति के मन में शंका उत्पन्न हो गई। उसने कहा—‘आप प्रथम तीर्थंकर होंगे और आपकी मां प्रथम सिद्ध बनेगी’—यह बात तो समझ में आती है लेकिन भरत का मोक्षगमन यौक्तिक नहीं लगता क्योंकि षट्खण्ड पर आधिपत्य करते हुए व्यक्ति मोक्ष कैसे जा सकता है? भरत ने भी यह बात सुनी। उसने दूसरे दिन उस

१. ऋषि २१/१०, ऋषिभाषित में मां का नाम भद्रा है लेकिन उस नाम से कथा कोश में इस प्रकार की कोई कथा नहीं मिलती है। हमने रामायण में उपलब्ध राजा कीर्तिधर और सहदेवी

की संवादी कथा का उल्लेख कर दिया है।

२. ऋषि २४/३०, देखें कथा सं. १ पृ. ....

व्यक्ति को बुलाया और कहा कि तुमने भगवान् के वचनों में शंका की अतः तुम्हें कठोर सजा दी जाएगी। उस व्यक्ति ने बहुत अनुनय-विनय किया। भरत ने कहा—‘तेल से लबालब भरे इस कटोरे को लेकर तुम सारी अयोध्या में घूमकर आओ। यदि एक बूंद भी नीचे गिरेगी तो तुम्हें मार दिया जाएगा, अन्यथा सजा से मुक्त कर दिया जाएगा।’

चक्रवर्ती भरत ने सारे नगर में स्थान-स्थान पर नाट्य आदि की व्यवस्था करवा दी तथा जगह-जगह आकर्षक झाकियां बनवा दीं। वह व्यक्ति तेल का कटोरा लेकर चला। उसे हर समय अपनी मौत के दर्शन हो रहे थे अतः उसका पूरा ध्यान कटोरे में एकाग्र हो गया। राजपुरुष उसके साथ-साथ चल रहे थे। वह पूरे शहर में घूमकर आ गया लेकिन तेल की एक बूंद भी नीचे नहीं गिरी। जब वह लौटकर वापस आया तो भरत ने पूछा—‘आज तुमने शहर में क्या देखा?’ तेलपात्र धारक ने कहा—‘मुझे मौत के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं दे रहा था।’ भरत ने पुनः पूछा—‘क्या मार्ग में विविध नृत्य और नाटक आदि नहीं देखे? व्यक्ति ने अस्वीकृति में सिर हिला दिया।

भरत चक्रवर्ती ने प्रतिबोध देते हुए कहा—‘देखो, थोड़े समय के मौत के भय ने भी जब तुमको इतना जागरूक और एकाग्र बना दिया, फिर मैं तो हर क्षण अपने सामने मौत को देखता हूँ। चक्रवर्ती के पद पर आसीन होने पर भी मैं सत्ता, समृद्धि और भोग में आसक्त नहीं हूँ।’ भरत चक्रवर्ती के निस्पृहता देखकर उस व्यक्ति को अपनी त्रुटि का बोध हुआ, तत्काल उसने भगवान् के वचनों पर प्रतिक्रिया करने के लिए क्षमा मांगी।<sup>१</sup>

#### ६. गीदड़ का अहंकार

एक सिंह कञ्चनगुफा में रहता था। एक दिन वह शिकार हेतु निकला। शिकार हेतु गए हुए शेर को रास्ते में गीदड़ मिला। सिंह को देखकर गीदड़ भयभीत हो गया। शेर की शरण स्वीकार करके गीदड़ उसके चरणों में गिर गया। शेर ने पूछा—‘क्या बात है?’ गीदड़ ने कहा कि मैं आपकी शरण में रहकर आपकी सेवा करना चाहता हूँ। सिंह उसकी विनम्रता से प्रसन्न हो गया। गीदड़ सिंह के द्वारा किए गए शिकार का मांस खाता रहा।

एक दिन सिंह ने कहा कि पर्वत की चोटी पर जाकर देखो, तुम जिस पशु का मांस खाना चाहते हो, मैं उसका शिकार करूंगा। प्रतिदिन पर्वत की चोटी पर चढ़कर गीदड़ जिस पशु का मांस खाना चाहता, वह सिंह के पांव में पड़कर कहता—‘स्वामी! आप पराक्रम प्रकट करें, मैं अमुक पशु का मांस खाना चाहता हूँ।’ सिंह छलांग मारकर शिकार करता, स्वयं मांस खाता और गीदड़ को भी देता।

एक दिन गीदड़ के मन में अभिमान पैदा हो गया। उसने सोचा—‘मेरे चार पैर हैं, मैं प्रतिदिन सिंह पर आश्रित क्यों रहूँ, अब मैं भी हाथी आदि को मारकर उसका मांस खाऊंगा। मैं भी सिंह से यह कहलवाऊंगा कि हे जम्बुक! अपना पराक्रम दिखा। फिर मैं सिंह को एक बढ़िया हाथी मारकर दिखाऊंगा।’

१. ऋषि २५/७, तेलपत्तजातक ९६ ( भा. १ पृ. ५३१-४१) में भी इसी प्रकार की कथा मिलती है लेकिन अतीत भव की कथा में कुछ अंतर है।

एक दिन उसने शेर से कहा—“स्वामिन्! इतने दिन मैं आपके द्वारा मारे गए हाथियों को खाता रहा, अब मैं स्वयं हाथी को मारकर उसका मांस खाना चाहता हूँ। जिस स्थान पर कञ्चनगुफा में आप लेटते हैं, वहाँ मैं लेटूंगा। आप मुझे आकर कहें कि जम्बुक! अपना पराक्रम दिखा और अमुक पशु को मार। मेरी इस बात पर आप नाराज न होना।”

सिंह ने उसे समझाया कि तुम्हारा इतना सामर्थ्य नहीं है कि तुम हाथी को मार सको। तुम ऐसी इच्छा मत करो। मेरे द्वारा मारे गए हाथियों को ही खाते रहो। समझाने पर भी जब वह नहीं माना तो सिंह ने कहा—“जा, मेरी जगह लेट।” पर्वत शिखर पर मस्त हाथी को देखकर सिंह ने गुफा के द्वार पर आकर कहा—“जम्बुक! अपना पराक्रम दिखा और उस हाथी को मार।” गीदड़ हाथी पर आक्रमण करने गया। पहले वह उसके पाँव के पास गया। हाथी ने अपना दाँया पैर उठाकर उसके सिर पर रख दिया। उसके सिर की हड्डियाँ चकनाचूर हो गईं। हाथी उसके शरीर पर लीद करके चला गया।<sup>१</sup>

### ७. नीलजम्बुक

किसी गाँव में एक गीदड़ रहता था। एक दिन वह किसी नगर में गया। उसे वहाँ के कुत्तों ने घेर लिया और उसके शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया। अपनी जान बचाने के लिए वह एक धोबी के मकान में घुस गया।

धोबी ने एक बड़ी नांद में नील घोल रखी थी। कुत्तों से भयभीत होकर वह उस नांद में गिर गया। उसका पूरा शरीर नीला हो गया। जब वह जंगल पहुँचा तो उसको देखकर सब भयमिश्रित आश्चर्य करने लगे। गीदड़ ने पशुओं को सम्बोधित करके कहा—“आप लोगों को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। ब्रह्मा ने मुझे कहा है कि अब जंगल का राज्य तुम्हें सौंप रहे हैं। तुम सब मेरी छत्र-छाया में आनंदपूर्वक रहो।”

सभी पशुओं ने उसे अपना राजा स्वीकार कर लिया। उसने सिंह को अपना मंत्री, व्याघ्र को शय्यापालक तथा चीते को पान लगाने के काम पर लगाया। अपने स्वजातीय गीदड़ों को राज्य से बाहर निकाल दिया।

एक दिन उसे दूर से गीदड़ों की हुआं हुआं की आवाजें सुनाई दीं। शेर आदि पशुओं ने उसकी आवाज सुनकर पहचान लिया कि यह साधारण गीदड़ है। पोल खुलने के भय से वह भागने लगा लेकिन शेर ने उसे पकड़ कर मार दिया।<sup>१</sup>

### ८. सिंहचर्म से आच्छादित गधा

एक वणिक् गधे पर बोझ लादकर व्यापार करता था। वह जहाँ भी जाता, वहाँ गधे की पीठ से सामान उतारकर उसे सिंह की खाल पहनाकर धान्य एवं जौ के खेत में चरने के लिए छोड़ देता था। खेत की रखवाली करने वाले शेर समझकर उसका प्रतिकार नहीं करते थे।

१. ऋषि ३८/२४, यह कथा विरोचन जातक १४३ (भा. २ पृ. १२२-२५) तथा जम्बुक जातक ३३५ (भा. ३ पृ. २७८-८०) में भी मिलती है।  
२. ऋषि ३८/२९, यह कथा पंचतंत्र में मिलती है।

एक बार वह गधा सिंह चर्म को पहनकर किसी खेत में चर रहा था। खेत-रक्षक ने ग्राम में जाकर सूचना दी। सभी ग्रामवासी शस्त्र लेकर ढोल बजाते हुए खेत के पास आए। आवाज सुनकर गधा भयभीत होकर रेंकने लगा। लोगों को वास्तविकता का ज्ञान हो गया कि यह गधा है।<sup>१</sup>

### ९. राजा संजय की विरक्ति

काम्पिल्य नामक नगर में संजय नामक राजा राज्य करता था। एक बार वह शिकार के लिए निकला। उसके साथ चतुरंगिणी सेना थी। घूमते-घूमते वह केशर उद्यान में पहुंचा। वहां उसने संत्रस्त मृगों का शिकार किया। मृगों को मारते हुए उसकी दृष्टि ध्यान में लीन गर्दभाली मुनि पर पड़ी। मुनि को देखकर राजा भयभीत हो गया। उसने सोचा—‘मृगों को मारकर मैंने मुनि की आशातना की है।’ राजा घोड़े से नीचे उतरा। मुनि के पास जाकर भावपूर्ण वंदना करके वह बोला—‘भगवन्! मुझे क्षमा करे। मैंने आश्रम के मृगों का वध किया है।’ ध्यान लीन होने के कारण मुनि ने कुछ प्रत्युत्तर नहीं दिया। इससे राजा का भय और अधिक बढ़ गया। उसने सोचा—‘यदि मुनि क्रुद्ध हो गए तो अपने तेज से सबको भस्म कर देंगे।’ राजा ने ध्यानलीन मुनि के समक्ष विनम्र निवेदन प्रस्तुत किया—‘भंते! मैं राजा संजय हूं। आप मुझे कुछ प्रतिबोध दें।’

ध्यान सम्पन्न करके मुनि ने अभयदान देते हुए कहा—‘राजन्! मैं तुमको अभयदान देता हूं तुम भी सब जीवों को अभयदान दो। इस अनित्य जीव लोक में तुम हिंसा में आसक्त क्यों हो रहे हो? जीवन की अस्थिरता, ज्ञातिजनों की असारता, कर्म विपाक की निश्चितता को सुनकर राजा संसार के भोगों से विरक्त हो गया। राजा ने ऋषि के समक्ष अपना संकल्प व्यक्त किया कि अब मुझे रसयुक्त भोजन और अच्छे मकान से कोई प्रयोजन नहीं है। राज्य का त्याग कर राजा संजय मुनि के पास प्रव्रजित हो गया।<sup>२</sup>

### १०. मधुबिन्दु

हस्तिनापुर नगर में धनपाल नामक सार्थवाह रहता था। एक बार वह व्यापार हेतु सार्थ लेकर जा रहा था, उस समय उसने अन्य व्यापारियों को भी साथ में चलने का निमंत्रण दिया। अनेक व्यक्ति उसके साथ चलने को तैयार हो गए। उसके साथ एक जयचंद नामक व्यक्ति भी था।

एक स्थान पर सार्थ विश्राम हेतु ठहरा। जयचंद सार्थ से दूर एक पेड़ की सघन छाया के नीचे विश्राम करने लगा। उसे गहरी नींद आ गई। उसकी निद्रा टूटी, तब तक सार्थ बहुत आगे चला गया था। दूसरे दिन जब वह चलने लगा तो एक हाथी उसके पीछे भागा। जयचंद भी आगे-आगे भागने लगा। भागते-भागते उसे एक विशाल वृक्ष की मोटी शाखा दिखाई दी। वह उस शाखा पर लटक गया। हाथी वृक्ष की शाखा को ही सूंड से नीचे गिराने का प्रयत्न करने लगा।

१. ऋषि ३८/३१, यह कथा सीहचम्म जातक १८९ (भा. २ पृ. ३००, ३०१) में मिलती है।

२. ऋषि ३९/६, उत्तराध्ययन के अठारहवें अध्ययन में राजा संजय की कथा का वर्णन है।

वृक्ष पर मधुमक्खियों का छत्ता था। शाखा हिलने पर मधुमक्खियां उड़-उड़कर जयचंद को काटने लगीं। उस वृक्ष के नीचे एक अंधकूप था, जिसमें चार भयंकर नाग फुंकार कर रहे थे। उसने ऊपर की ओर देखा कि जिस डाल पर वह लटका हुआ है, उसी डाली को सफेद और काले रंग के दो चूहे काट रहे थे। उसे चारों ओर मौत दिखाई दे रही थी। उस विषम परिस्थिति में शहद के छत्ते से एक बूंद उसके मुंह में गिरी। मधु का आस्वाद पाकर वह आसक्तिपूर्वक उस छत्ते को देखने लगा।

उसी समय आकाशमार्ग से एक विद्याधर और विद्याधरी विमान में बैठकर उधर से गुजरे। जयचंद को भारी विपदा में देखकर विद्याधरी को उस पर दया आ गई। उसने विद्याधर से आग्रह किया कि इस व्यक्ति को बचाया जाए। विद्याधर ने उसे समझाया कि यह मधुबिंदु में आसक्त बना हुआ है अतः यहां से बाहर जाने की बात नहीं मानेगा। विद्याधरी के आग्रह से विद्याधर ने जयचंद को कहा—‘तुम मेरे विमान में बैठ जाओ। तुम सब कष्टों से दूर हो जाओगे। मैं तुमको निरापद स्थान में पहुंचा दूंगा।’

जयचंद बोला—‘‘मैं आपके साथ चलूंगा लेकिन मुझे एक बूंद शहद चाटने दो। एक बूंद शहद चाटने पर विद्याधर ने उसे चलने को कहा लेकिन वह दूसरी बूंद की इच्छा व्यक्त करने लगा। बहुत अधिक समय बीतने पर विद्याधर उसको छोड़कर चला गया।’

इस कथानक का निगमन इस प्रकार है—गजराज महाकाल के समान है। चार नाग कषाय के समान हैं। सफेद और काले चूहे दिन और रात के समान हैं, जो व्यक्ति की आयु को काट रहे हैं। अंधकूप नरक निगोद के समान है। मधुमक्खियां पारिवारिक लोगों की भांति तथा मधु कामभोग के समान हैं।

११. ४५/६ देखें कथां सं. १।

१२. ४५/२२ तेल्लपात्रधारक की कथा हेतु कथा सं. ५ पृ. ३८४।

---

१. ऋषि ४१/६।

## सूक्त-सुभाषित

- |   |      |  |       |
|---|------|--|-------|
| * सोयव्वातो परं नत्थि सोयं ति ।                 | १/१  | * सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।        |       |
| * सक्का वण्ही णिवारेतुं, वारिणा जलितो बहिं ।    |      | सव्वस्स साधुधम्मस्स, तथा ज्ञाणं विधीयते ॥      | २२/१६ |
| सव्वोदधिजलेणावि, मोहग्गी दुण्णिवारओ ॥           | ३/१५ | * धारिणी सुसहा चेव, गुरू भेसज्जमेव वा ।        |       |
| * आयाणरक्खी पुरिसे, परं किंचि ण जाणती ।         | ४/१  | सद्धम्मो सव्वजीवाणं, णिच्चं लोके हितं करो ॥    | २४/४  |
| * जेण जाणामि अप्पाणं, आवी वा जइ वा रहे ।        |      | * संसारे सव्वजीवाणं गेही संपरियत्तते ।         | २४/६  |
| अज्जयारिं अणज्जं वा, तं णाणं अयलं धुवं ॥        | ४/४  | * जोव्वणं रूव-संपत्तिं, सोभगं धणसंपदं ।        |       |
| * मणुस्सहिदयं पुण्णिणं, गहणं दुव्वियाणकं ।      | ४/५  | जीवितं वावि जीवाणं, जलबुब्बुयसण्णिणं ॥         | २४/८  |
| * अणुवट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा परितप्पती ।    | ४/१० | * एवमेतं करिस्सामि, ततो एवं भविस्सती ।         |       |
| * सुपतिट्ठितो सदा धम्मे, सो पच्छा तु ण तप्पती । | ४/११ | संकप्पो देहिणं जो य, ण तं कालो पडिच्छती ॥      | २४/१६ |
| * सुकडं दुक्कडं वावि, कत्तारमणुगच्छति ।         | ४/१२ | * सव्वमंतेतऽणिच्चता ।                          | २४/१७ |
| * जइ मे परो पसंसाति, असाधुं साधु माणिया ।       |      | * पावं परस्स कुव्वंतो, हसते मोहमोहितो ।        |       |
| ण मे सा तायए भासा, अप्पाणं असमाहितं ॥           | ४/१७ | मच्छो गलं गसंतो वा, विणिघातं न पस्सती ॥        | २४/२९ |
| * जइ मे परो विगरहाति, साधुं संतं णिरंगणं ।      |      | * साधु-सुचरितं अव्वाहता समणसंपदा ।             | २७/१  |
| ण मे सा कोसए भासा, अप्पाणं सुसमाहितं ॥          | ४/१८ | * आतट्ठं ण जहेज्ज धम्मजीवी ।                   | २७/८  |
| * जं उलूका पसंसंति, जं वा णिंदंति वायसा ।       |      | * कामा रोगा मणुस्साणं, कामा दुग्गतिवड्डणा ।    | २८/१  |
| णिंदा वा सा पसंसा वा, वायुजाले व्व गच्छती ॥     | ४/१९ | * कामे कामेमाणा, अकामा जंति दोग्गतिं ।         | २८/२  |
| * अप्पणा चेव अप्पाणं, चोदित्ता सुभमेधती ।       | ४/२५ | * सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।      |       |
| * णमंसमाणस्स सदा, संती आगम्म वट्ठती ।           | ५/३  | बहुसाधारणा कामा, कामा संसारवड्डणा ॥            | २८/४  |
| * समाधिं च विरार्थेति, जे रिट्ठचरियं चरे ।      | ७/२  | * कामाण मग्गणं दुक्खं, तित्ती कामेसु दुल्लभा । |       |
| * कामं अकामकामी, अत्तत्ताए परिव्वए ।            | ७/५  | पिज्जुज्जोगो परं दुक्खं, तण्हक्खय परं सुहं ॥   | २८/९  |
| * णिमित्तमेत्त परो एत्थ, मज्झ मे तु पुरे कडं ।  | १३/५ | * कामभोगाभिभूतप्पा, वित्थिण्णा वि णराहिवा ।    |       |
| * जुत्तं अजुत्तजोगं ण पमाणमिति ।                | १४/१ | फीतिं खितिं इमं भोच्चा, दोग्गतिं विवसा गता ॥   | २८/१० |
| * जे जणाणारिए णिच्चं, कम्मं कुव्वंतऽणारिया ।    |      | * अप्पक्कतावराहेहिं, जीवा पावंति वेदणं ।       | २८/१३ |
| अणारिएहि मित्तेहिं, सीदंति भवसागरे ॥            | १९/३ | * हिंसादाणं पवत्तेति कामतो केइ माणवा ।         | २८/१६ |
| * अण्णाणं सुमहब्भयं ।                           | २१/४ | * जहा अस्साविणिं नावं, जातिअंधो दुरूहिओ ।      |       |
| * अण्णाणं परमं दुक्खं, अण्णाणा जायते भयं ।      | २१/३ | इच्छंते पारमागंतुं, अंतरे च्विय सीदती ॥        | २८/२० |
|   |      | * उज्जमो संजमे वरं ।                           | २८/२२ |



- \* ण हेमं दंतकट्टं तु, चक्कवट्टी वि सादए । २८/२३
- \* दुद्धंता इंदिया पंच, संसाराय सरीरिणं ।  
ते चेव णियमिता सम्मं, णेव्वाणाय भवंति हि ॥ २९/१३
- \* दुद्धंतेहिंदिएहऽप्पा, दुप्पहं हीरते बला ।  
दुद्धंतेहिं तुरंगेहिं, सारही व महापहे ॥ २९/१४
- \* जित्ता मणं कसाए या, जो सम्मं कुरुते तवं ।  
संदिप्पते स सुद्धप्पा, अग्गी वा हविसाऽऽहुते ॥ २९/१७
- \* सम्मत्तणिरतं धीरं, दंतकोहं जित्तिदियं ।  
देवा वि तं णमंसंति, मोक्खे चेव परायणं ॥ २९/१८
- \* इध जं कीरते कम्मं, तं परतोवभुज्जती । ३०/२
- \* जारिसं किज्जते कम्मं, तारिसं भुज्जते फलं । ३०/४
- \* णत्थि कम्मं णिरत्थकं ३०/६
- \* कल्लाणं ति भणंतस्स, कल्लाणाए पडिस्सुया ।  
पावकं ति भणंतस्स, पावयाए पडिस्सुया ॥ ३०/८
- \* सुभासियाए भासाए, सुकडेण य कम्मुणा ।  
पंडितं तं विजाणेज्जा, धम्माधम्मं विणिच्छए ॥ ३३/३
- \* सद्धम्मवक्कदाणं तु, अक्खयं अमतं मतं । ३३/१०
- \* सद्धम्मवारिदाणेणं, खिप्पं सुज्जति माणसं । ३३/११
- \* सग्भाववक्कविवसं, सावज्जारंभकारकं ।  
दुम्मिंतं तं विजाणेज्जा, उभओ लोगविणासणं ॥ ३३/१२
- \* मुखसभावा हि बाला । ३४/२
- \* जेण केणइ उवाएण, पंडितो मोइज्ज अप्पकं । ३४/७
- \* अण्णाणविप्पमूहप्पा, पच्चुप्पण्णाभिधारए ।  
कोवं किच्चा महाबाणं, अप्पा विंधति अप्पकं ॥ ३५/२
- \* जेसु जायंति कोधादी, कम्मबंधा महाभया ।  
ते वत्थू सव्वभावेणं, सव्वहा परिवज्जए ॥ ३५/११
- \* सए गेहे पलित्तम्मि, किं धावसि परातकं?  
सयं गेहं णिरित्ताणं, ततो गच्छे परातकं ॥ ३५/१४
- \* आतट्टे जागरो होहि, मा परट्टाहिधारए ।  
आतट्टे हायते तस्स, जो परट्टाहिधारए ॥ ३५/१५
- \* जइ परो पडिसेवेज्ज, पावियं पडिसेवणं ।  
तुज्झ मोणं करेतस्स, के अट्टे परिहायति ? ॥ ३५/१६
- \* अत्ता समाधिकरणं, अप्पणो य परस्स य ॥ ३५/१७
- \* जग्गाही, मा सुवाही । ३५/१९
- \* जागरह णरा निच्चं, जागरमाणस्स जागरति सुत्तं ।  
जे सुवति ण से सुहिते, जागरमाणो सुही होति ॥ ३५/२३
- \* वण्हिणो ण बलं छित्तं, कोहग्गिस्स परं बलं ।  
अप्पा गती तु वण्हिस्स, कोवग्गिस्सऽमिता गती ॥ ३६/४
- \* एकं भवं डहे वण्ही, दडुस्स वि सुहं भवे ।  
इमं परं च कोवग्गी, णिस्सकं डहते भवं ॥ ३६/६
- \* सक्को तमो णिवारेतुं, मणिणा जोतिणा वि वा ।  
कोवतमो तु दुज्जेयो, संसारे सव्वदेहिणं ॥ ३६/८
- \* सत्तं बुद्धी मती मेधा, गम्भीरं सरलत्तणं ।  
कोहग्गहऽभिभूतस्स, सव्वं भवति णिप्पभं ॥ ३६/९
- \* कोहेण अप्पं डहती परं च  
अत्थं च धम्मं च तहेव कामं । ३६/१४
- \* कोहाविद्धा ण जाणंति, मातरं पितरं गुरुं । ३६/१५
- \* जं सुहेण सुहं लद्धं, अच्चंतसुहमेव तं । ३८/१
- \* दंतिदियस्स वीरस्स, किं रण्णेणऽस्समेण वा ?  
जत्थ जत्थेव मोदेज्जा, तं रण्णं सो य अस्समो ॥ ३८/१७
- \* जो पुमं पावकं कम्मं, नेव कुज्जा ण कारवे ।  
देवावि तं णमंसंति, धित्तिमं दित्ततेजसं ॥ ३९/१
- \* जे णरे कुव्वती पावं, अंधकारं महं करे ।  
अणवज्जं पंडिते किच्चा, आदिच्चेव पभासती ॥ ३९/२
- \* सिया पावं सइं कुज्जा, तं ण कुज्जा पुणो पुणो । ३९/३
- \* इच्छा बहुविधा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति ।  
तम्हा इच्छमणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधती ॥ ४०/२
- \* इच्छंते णेच्छते इच्छा, अणिच्छं तं पि इच्छति ।  
तम्हा इच्छमणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधती ॥ ४०/५

- |  |   |
|--|---|
| <p>* मासे मासे य जो बालो, कुसग्गेण आहारए ।<br/>ण से सुक्खातधम्मस्स, अग्घती सतिमं कलं ॥ ४१/१४</p> <p>* अप्पेण बहुमेसेज्जा । ४२/१</p> <p>* लाभम्मि जे ण सुमणो, अलाभे णेव दुम्मणो ।<br/>से हु सेट्ठे मणुस्साणं, देवाणं व सतक्कतू ॥ ४३/१</p> <p>* जे पुमं कुरुते पावं, ण तस्सऽप्पा धुवं पिओ । ४५/३</p> <p>* पावं जे उ पकुव्वंति, जीवा साताणुगामिणो ।<br/>वड्ढते पावकं तेसिं, अणग्गाहिस्स वा अणं ॥ ४५/८</p> <p>* अणुबद्धमपस्संता, पच्चुप्पण्णगवेसका ।<br/>ते पच्छा दुक्खमच्छंति, गलुच्छिन्ना जधा झसा ॥ ४५/९</p> | <p>* देज्जाहि जो मरंतस्स, सागरंतं वसुंधरं ।<br/>जीवियं वावि जो देज्जा, जीवितं तु स इच्छती ॥ ४५/१५</p> <p>* अप्पियं पाणिघातं च, पाणिणं च पिया दया । ४५/१९</p> <p>* अहिंसा सव्वसत्ताणं, सदा णिव्वेयकारिका ।<br/>अहिंसा सव्वसत्तेसु, परं बंभमणिंदितं ॥ ४५/२०</p> <p>* देविंदा दाणविंदा य, णरिंदा जे वि विस्सुता ।<br/>सव्वसत्तदयोवेतं, मुणीसं पणमंति ते ॥ ४५/२१</p> <p>* इंदासणी ण तं कुज्जा, दित्तो वण्ही अणं अरी ।<br/>आसादिज्जंतसंबद्धो, जं कुज्जा रिद्धिगारवो ॥ ४५/४३</p> <p>* हेमं वा आयसं वावि, बंधणं दुक्खकारणं ।<br/>महग्घस्सावि दंडस्स, णिवाते दुक्खसंपदा ॥ ४५/५०</p> |
|--|---|

उपमा एवं दृष्टान्त

* किच्चा दिण्णं व वाहिणी ।	२/१	* वालग्गाहि व्व सप्पस्स ।	१५/३२
* मिगारिव्व सरुप्पत्ती ।	२/८	* कुम्मो विव सअंगाई ।	१६/४
* खीरे दूसिं जधा पप्प, विणासमुवगच्छति ।	३/१२	* वारिपत्तधरो च्चेव ।	१८/३
* जधा खीरं पधाणं तु, मुच्छणा जायते दधिं ।	३/१३	* पुक्खरपत्तं व वारिणा ।	२२/१
* रण्णे दवग्गिणा दड्ढा, रोहंते वणपादवा ।	३/१४	* फुल्ला व पडमिणी रम्मा, वालक्कंता व मालई ।	२२/५
* गावा अकण्णधारा व ।	६/४	* सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य ।	२२/१६
* मुक्कं पुप्फं व आगासे..... ।	६/५, ६	* तमंसि वा जधा गेता, तथा धम्मो जिणाहितो ।	२४/३
* कोसारकीडे व जहाति बंधणं ।	८/२	* रधचक्के जहा अरा ।	२४/५
* जहा अंडे जहा बीए, तथा कम्मं सरीरिणं ।	९/९	* जीवितं वावि जीवाणं, जलबुब्बुयसण्णिभं ।	२४/८
* उक्कड्ढंतं जधा तोयं, सारिज्जंतं जधा जलं ।	९/१६	* छायव्व देहिणो गूढा ।	२४/१७
* ण प्पमादेज्ज मेधावी, मम्मग्गाहं जहारिओ ।	९/२१	* वायाए व पडिसुका ।	२४/२०
* सम्मद्दिट्ठी तथा अणं ।	९/२५	* छिन्नमूला जहा वल्ली, सुक्कमूलो जहा दुमो ।	२४/२५
* वण्हमारुयसंजोगा, जहा हेमं विसुज्जती ।	९/२६	* सिण्णं वा हतणायकं ।	२४/२५
* जहा आतवसंतत्तं, वत्थं सुज्जति वारिणा ।	९/२७	* अप्परोही जहा बीयं, धूमहीणो जहाऽणलो ।	२४/२६
* जहा कवोता य कविंजला य ।	१२/२	* रंगमज्जे जहा नडो ।	२४/२७
* आहारत्थी जहा बालो, वण्हं सप्पं च गेण्हती ।	१५/१४	* छिज्जं व तरुमारूढा, फलत्थी व जहा नरा ।	२४/३४
* मच्छो गलं गसंतो वा, विणिघातं ण पस्सती ।	१५/१५	* छिण्णकण्णो जहा कोई, हसेज्ज छिन्ननासियं ।	२४/३५
* वारिमज्जे व वारणा ।	१५/१६, ४१/५	* हेमभूसणधारि व्व, जहा लक्खाविभूसणं ।	२४/३६
* आसत्तकंठपासो वा, मुक्काधारो दुहट्टिओ ।	१५/१८	* गहीणं व गही मज्जे ।	२४/३७
* वड्ढती पावकं तेसिं, अणग्गाहिस्स वा अणं ।	१५/१९	* वारिग्गाहघडीउ व्व, घडिज्जंतं निबंधणा ।	२४/३८
* पुप्फघाते जहा फलं	१५/२३	* बंधमोग्गरमाले व ।	२८/१४
* मिगारी ऊ सरं पप्प, सरुप्पत्तिं व मग्गति ।	१५/२४	* जहा अस्साविणिं नावं..... ।	२८/२०
* मिगारि व्व ण पप्पती ।	१५/२५	* कंचणस्सेव उद्धरे मलमप्पणो ।	२८/२१
* भासच्छण्णो जहा वण्ही, गूढकोधो जहा रिपू ।	१५/२८	* सारही व महापहे ।	२९/१४
* आदिच्चरस्सितत्तं व, छिण्णादाणं जहा जलं ।	१५/३१	* विवेयं गयमारूढो, सूरु वा गहितायुधो ।	२९/१६

* अग्गी वा हविसाऽऽहुते ।	२९/१७	* जलंतं जाततेयं वा, चक्खुसा दाहभीरुणो ।	३५/२४
* पाडिस्सुयासरिसं कम्मं ।	३०/९	* आदिच्चेव पभासती ।	३९/२
* उसु वाया व सिंचती ।	३३/४	* गलुच्छिन्ना असोते वा, मच्छा पावेति वेदणं ।	४१/३
* पज्जणो कालवासी व ।	३३/५	* मक्खिणो घतकुंभे वा ।	४१/६
* क्रोधबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंततिं ।	३५/३	* देवाणं व सतक्कतू ।	४३/१
* माणबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंततिं ।	३५/५	* वायु व्व जालं समतिक्कमेज्जा ।	४५/२
* मायाबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंततिं ।	३५/७	* फुल्लं च पउमिणीसंडं ।	४५/२६
* लोभबाणेण विद्धे तु, णिज्जती भवसंततिं ।	३५/९	* इच्छितं व रसायणं ।	४५/२७

विशेषनामानुक्रम

अंगरिसि	(ऋषि)	४/१, सं १/२	कण्ण	(अवयव)	९/२
अंबड	(ऋषि)	२५/१, सं १/४	कविंजल	(तिर्यञ्च)	१२/२
अद्दय	(ऋषि)	२८/२०, सं १/४	कवोत	(तिर्यञ्च)	१२/२
अयसि	(धान्य)	१०/३	कासव	(ऋषि महा काश्यप)	सं १/२
अरति	(रोग)	२२/३	किंपाक	(फल)	२१/७, २५/७
अरिट्टणेमि	(तीर्थकर)	सं १/१	कुम्म	(ऋषि कूर्मापुत्र)	सं १/२
अरुण	(ऋषि)	सं १/५	कुम्म	(तिर्यञ्च)	१६/४
अवर	(दिशा)	२६/२	कुम्मापुत्त	(ऋषि)	७/१
असणि	(शस्त्र)	४५/४३	केतलिपुत्त	(ऋषि)	८/१, सं १/२
असि	(शस्त्र)	१०/३	कोसारकीड	(तिर्यञ्च, रेशम का कीड़ा)	८/२
असित	(ऋषि)	सं १/२	कोसियार	(तिर्यञ्च)	२१/७
अस्स	(घोड़ा)	२२/१०	खंध	(अवयव)	१०/३
आरिय	(ऋषि)	सं १/३	खीर	(खाद्य पदार्थ)	३/१२
आरियायण	(ऋषि)	१९/१	खुर	(शस्त्र)	१०/३
आस	(तिर्यञ्च)	२२/९	गंड	(रोग)	२२/३
आसीविस	(तिर्यञ्च)	२८/४	गद्दभ	(तिर्यञ्च)	सं १/४
इंदनाग	(ऋषि)	४१/१३, सं १/६	गव	(तिर्यञ्च)	२८/१२
इभ	(तिर्यञ्च)	३८/२४	गवल	(तिर्यञ्च)	१०/३
इसिगिरि	(ऋषि)	३४/६, सं १/५	गाव	(तिर्यञ्च)	१२/२
उदगापुक्खल	(वनस्पति)	२२/३	गाह	(तिर्यञ्च)	४५/२६
उदुंबक	(वृक्ष)	२४/६	गाहा	(तिर्यञ्च)	२२/५
उद्दालय	(ऋषि)	३५/१, सं १/५	गाहावतिपुत्त	(ऋषि)	२१/१
उलूक	(तिर्यञ्च)	४/१९	गिद्ध	(तिर्यञ्च)	१५/१६
उसु	(शस्त्र)	२५/१०	गीवा	(अवयव)	१०/३
उसु	(वनस्पति)	३३/४	गोण	(बैल)	२६/१३
कंक	(वनस्पति)	४१/४	चक्खु	(अवयव)	१०/४
कड	(गृह-उपकरण)	९/२	जंबुग	(तिर्यञ्च)	३८/२४, २९

जण्ण	(ऋषि याज्ञवल्क्य)	सं १/३	पडीण	(दिशा)	३७/५
जण्णवक्क	(ऋषि)	१२/१	पण्णवणा	(ग्रंथ)	२०/२
जम	(ऋषि)	४३/१	पतंग	(तिर्यञ्च)	२१/७
जहण	(अवयव)	२५/४	पयंग	(पतङ्ग)	२१/७
जोगंधरायण	(मंत्री)	२५/१, २	पाईण	(दिशा)	३७/५
झस	(तिर्यञ्च)	१५/२०	पास	(ऋषि)	३१/१, सं १/१, ५
णवणीत	(खाद्य पदार्थ)	३७/३	पिंग	(ऋषि)	सं १/५
णारद	(ऋषि)	सं १/२	पुक्खर	(वनस्पति)	२२/१
तरुच्छेत्ता	(शस्त्र)	१५/२२	पुट्टिला	(अमात्य पत्नी)	१०/४
तरुण	(ऋषि)	२१/१, सं १/३	पुप्फसाल	(ऋषि)	सं १/२
तारायण	(ऋषि)	३६/१	पुप्फसालपुत्त	(ऋषि)	५/१
ताल	(वृक्ष)	१५/१०, २५/६	पोट्टिला	(अमात्य पत्नी, व्यक्ति)	१०/२, ५
तालपुडक	(विष)	१०/३	फाल	(शस्त्र)	२६/९
तुरंग	(तिर्यञ्च)	२९/१४	बाहुक	(ऋषि)	१४/१, ३
तुरंगम	(तिर्यञ्च)	४५/५२	बाहूय	(ऋषि)	सं १/३
तेतलिपुत्त	(ऋषि)	१०/१, १०/२	भद्दा	(व्यक्ति)	२१/१०
तेतलिसुत्त	(ऋषि)	सं १/२	भयालि	(ऋषि)	१३/१, सं १/३
तेल्ल	(खाद्य पदार्थ)	२५/७	भारद्वाय	(गोत्र)	४/१
थण	(अवयव)	२५/४	भुयंग	(तिर्यञ्च)	२१/९
दगभाल	(ऋषि)	२२/१	मंखलि	(ऋषि)	सं १/३
दसण	(अवयव)	९/२	मंखलिपुत्त	(ऋषि)	११/१
दाहिण	(दिशा)	३७/५	मक्खि	(तिर्यञ्च)	४१/६
दीवायण	(ऋषि)	४०/१, सं १/५	मच्छ	(तिर्यञ्च)	१५/१५
देविल	(ऋषि)	३/२	मत्थक	(अवयव)	२०/७
धणु	(शस्त्र)	१०/४	मधुरायण	(ऋषि)	१५/३
नक्क	(अवयव)	९/२	मयंग	(ऋषि)	सं १/४
नासिया	(अवयव)	२४/३५	महाकासव	(ऋषि)	९/१
पउमिणी	(वनस्पति)	२२/५, ४५/२६	महु	(मधुरायण ऋषि)	सं १/३

महु	(खाद्य)	४५/४४	वारण	(तिर्यञ्च)	१०/४
मातंग	(तिर्यञ्च)	६/१	वारत्त	(ऋषि)	२७/१, सं १/४
मारुत	(वनस्पति)	३३/१४	वारिपत्तधर	(वनस्पति कमल का पुष्प)	१८/३
मालई	(वनस्पति)	२२/५	वाल	(तिर्यञ्च)	२२/५
मिग	(तिर्यञ्च)	२१/४	विदु	(ऋषि)	१७/२, सं १/३
मिगारि	(तिर्यञ्च)	२/८	वीर	(ऋषि)	सं १/१
मिहिला	(नगरी)	३३/१७	वेसमण	(ऋषि)	४५/२, सं १/६
मुद्ध	(अवयव)	२५/६	संजअ	(राजा)	३३/१७
मुसामुही	(शस्त्र)	४५/४६	संजय	(ऋषि)	३९/५, सं १/५
मेतेज्ज	(ऋषि)	१३/१	सप्प	(तिर्यञ्च)	१५/१४
मेरु	(पर्वत)	३३/१६	सर	(शस्त्र)	२/८
मोग्गर	(वनस्पति)	२८/१४	साइपुत्त	(ऋषि)	३८/१
यम	(ऋषि)	सं १/६	साइयपुत्त	(ऋषि)	सं १/५
राम	(ऋषि रामपुत्र)	२३/१, सं १/४	सायक	(शस्त्र)	३८/२६
लवणोदधि	(समुद्र)	३३/१५	सिरिगिरि	(ऋषि)	३७/१, सं १/५
वक्कलचीरि	(वल्कलचीरी)	६/११, सं १/२	सीस	(अवयव)	९/२
वज्जियपुत्त	(ऋषि वृजिकपुत्र)	२/१, सं १/२	सीह	(तिर्यञ्च)	१५/१७
वद्धमाण	(ऋषि)	२९/१, सं १/४	सुणंदा	(महिला)	३८/३२
वरिसवकण्ह	(ऋषि)	१८/२, सं १/३	सुप्पिय	(व्यक्ति)	२१/१०
वरुण	(१. जल देवता)	३७/२	सूर्ई	(उपकरण)	१५/१०
	(२. वरुण ऋषि)	४४/१, सं १/६	सोम	(ऋषि)	४२/२, सं १/६
वाउ	(ऋषि)	३०/१, सं १/४	सोरियायण	(ऋषि)	१६/१, सं १/३
वागलचीरि	(ऋषि)	६/१	हय	(तिर्यञ्च)	६/३
वायस	(तिर्यञ्च)	४/१९	हरिगिरि	(ऋषि)	२४/१, सं १/४
वायि	(तिर्यञ्च)	२४/५			

तुलनात्मक संदर्भ

१०/१	अहमेगोऽसद्धेयं	ज्ञा १/१४/७७	२२/४	धित्तेसिं गामणगराणं	व्यभा ९३५,
२२/१०	इत्थी उ बलवं जत्थ	व्यभा ९३७			जातक १३ पृ. १९६
२०/७	उड्डं पायतला अधे	सू २/१/१५	२०/१	पंच उक्कला पण्णत्ता	ठाणं ५/२०२
१०/३	को मे तं सद्दिहिस्सति	ज्ञा तु. १/१४/७७	२९/२	पंच जागरओ सुत्ता	संयुक्त १/६/७
३१/२	चउव्विहे लोए वियाहिते	भ २/४५	२२/२	पुरिसादीया धम्मा.....	सू २/१/३४
३५/१६	जइ परो पडिसेवेज्ज	निभा २७८२	१०/५	भीतस्स खलु भो! पव्वज्जा	ज्ञा. १/१४/७९,
७/२	जणवादो ण ताएज्जा	तु थेरगाथा ४/७			आवचू १ पृ. ५००
३५/२१	जागरह णरा निच्चं	तु. निभा ५३०३,	३१/६	मडाइ णियंटे णिरुद्धपवंचे	भ २/१६
		बृभा ३३८२	४१/१४	मासे मासे य जो बालो उ	९/४४, धम्म ५/७०
२८/१९	जे गिद्धे कामभोगेसु	दशनि १४०	१०/२	सपरिग्गहं पि णाम ममं	ज्ञा. १/१४/७८
२८/२	णासेवेज्ज मुणी गेही	तु. उ ९/५३	२८/४	सल्लं कामा विसं कामा	उ९/५३
१२/१	सो लोएसणं च वित्तेसणं च	बृहदा ३/५/१	२२/३	से जहाणामए अरती	सू २/१/३४
			३१/१०	से जहानामए पंच	भ २/१२५-२९



शब्दार्थ

अंगणा (नारी)	२२/९	अट्टि (याचक)	२७/७
अंगरिसि (अंगर्षि)	४/१, सं १/२	अडणी (दे. मार्ग)	२६/३
अंजण (रात्रि)	२८/२२	अडय (परिव्रजन करता हुआ)	१/५
अंड (अण्डा)	३७/२	अण (ऋण)	९/२३/१
अंतर (बीच में)	२८/२०	अणग्घेय (अमूल्य)	४१/८
अंतलिक्ख (आकाश)	१०/४	अणज्ज (अनार्य)	४/४
अंदुबंधण (शृंखला-बंधन, बेड़ी-बंधन)	९/२	अणत्त (ऋण रहित)	४५/२९
अंबड (अम्बड़)	२५/१, सं १/४	अणल (अग्नि)	२४/२६
अंबर (आकाश)	६/७	अणवदग्ग (दे. अनंत, अपरिमित)	३/१
अक्कंत (आक्रान्त)	२२/५	अणस्सव (आस्रव रहित)	३४/१२
अक्ख (पहिए की धुरी, चक्र)	४/२४, ४५/४८	अणाउल (अनाकुल)	९/३१
अक्खय (अक्षय)	३१/९	अणागत (भविष्य)	४१/३
अक्खाइया (कथा, आख्यायिका)	४१/१३	अणारिय (अनार्य)	१९/२
अक्खेविण (डाला हुआ)	३६/१३	अणिच्च (अनित्य)	२४/२
अगार (घर)	३८/२	अणिच्चचारि (अनित्य का आचरण करने वाला)	२७/२
अग्गि (अग्नि)	४/२२	अणिच्चया (अनित्यता)	२४/२२
* अग्घ (आदर प्राप्त करना)	४१/१४	अणितिय (अनित्य)	२४/२
अघट्ट (अखण्डित)	४५/३१	अणिव्वाण (दुःख)	१५/५
अजियप्प (असंयमी)	४५/४५	अणीय (सेना)	२४/७
अज्ज (आर्य)	४/४	अणुप्पिय (प्रिय, अनुकूल)	२७/४
अज्जिय (अर्जित किया हुआ)	२२/८	अणुभासक (अनुकूल भाषी)	३८/३०
अज्झयण (अध्ययन)	२७/३	अणुवट्टित (अनुपस्थित)	४/१०
अट्ट (आर्त, पीड़ित)	२/३	अण्णाण (अज्ञान)	२१/२
अट्टालक (घर)	३५/१८	अतारेलुकि (जिसका पार न पाया जा सके)	२४/२
अट्ट (आठ)	२३/२		

अत्तट्ट (स्वयं के लिए)	२७/२	अभिउंजिउ (शत्रु को पराजित करने की इच्छा)	१०/५
अत्थ (१. अर्थ, प्रयोजन)	१/४	अभिउंजिय (व्याप्त होकर)	२२/२
(२. अर्थ, धन)	३८/३०	अभिउत्त (अभियुक्त, अपराधी)	१०/५
अत्थादाइ (अर्थ का संग्रह-कर्ता)	३८/३०	अभिणिस्सय (प्रतिबद्ध)	१४/३
अत्थाह (अथाह, थाह रहित)	१०/३	* अभिसंध (संधान करना)	२४/४०
अत्थिकाय (अस्तिकाय)	३१/९	अभिसण्णित (जानना)	३०/३
अत्थित्त (अस्तित्व)	७/२	अमच्च (मंत्री)	१०/५
अदिण्ण (अदत्त)	५/४	अमत (अमृत)	४/२२
अद्दय (आर्द्रक ऋषि)	२८/१, २० सं १/४	अयल (अचल)	४/४
अद्धा (मार्ग)	३८/२५	अयसि (अतसी, एक प्रकार का धान्य)	१०/३
* अधिक्खि (अपमान करना)	३६/१५	अर (धुरी, पहिए के बीच का काष्ठ)	२४/
* अधियास (मनोबल से सहन करना)	३४/१	अरणि (अरणि की लकड़ी, जिसके घिसने से अग्नि उत्पन्न होती है।)	२२/३
अधेगामी (अधोगामी)	३१/४	अरति (पाप का प्रकार)	१८/१
अनियत्ति (अविरति)	९/८	अरति (मेद, फोड़ा)	२२/३
अपच्चक्खातपावकम्म (अप्रत्याख्यातपापकर्मा)	२५/२	अरिट्टणेमि (अरिष्टनेमि)	सं १/१
अपडिण्ण (प्रतिकार के संकल्प से रहित)	३४/८	अरुण (अरुण ऋषि)	सं १/५
अपडिहत (अबाधित)	१०/३	अरुयाघर (औषधालय)	४५/२८
अपतिट्ठित्त (अप्रतिष्ठित)	१४/३	अलिय (असत्य)	५/४
अपर (दक्षिण दिशा)	२६/२	अवंज्ज (अवन्ध्य)	२६/१३
अप्प (आत्मा)	२/२	अवट्ठिय (अवस्थित)	३१/९
अप्प (आत्मा)	९/१७	अवमाणण (अपमान)	२१/५
* अप्प (देना)	३८/२६	अवसाण (अंत)	२०/२
अप्पडिहतपावकम्म (पापकर्म का प्रतिघात नहीं करने वाला)	२५/२	अव्वय (अव्यय)	३१/९
अप्पडीकार (अप्रतिकार)	२२/१२	अव्वाबाह (अव्याबाध)	३१/४
अप्पिय (अप्रिय)	९/२	अव्वाहत (निराबाध)	२७/१
अब्बंभ (अब्रह्म)	१/२		

असंत (असत्)	१३/७	आरिय (आर्यायण ऋषि)	सं १/३
असज्जमाण (अनासक्त)	४५/५१	आरियायण (आर्यायण ऋषि)	१९/१
असणि (वज्र)	४५/४३	आवगा (नदी)	२२/५
असम्भाव (असद्भाव)	२८/१५	* आवज्ज (उदयावलिका में कर्म स्कंधों का प्रक्षेप रूप व्यापार)	९/३०
असासत (अशाश्वत)	२४/२	आवत्त (आवर्त, भंवर)	३/१
असि (तलवार)	१०/३	आवत्ति (प्राप्ति)	१२/४
असित (असित देवल ऋषि)	सं १/२	आवाह (वर पक्ष सम्बन्धी भोज)	२७/६
अस्स (घोड़ा)	२२/१०	आवि (प्रकट)	४/४
अस्सम (आश्रम)	३८/१७	आस (अश्व, घोड़ा)	२२/९
अस्साविणी (छिद्रयुक्त नौका)	२८/२०	आसत्त (कसा हुआ)	१५/१८
* आइक्ख (कथन करना)	२९/१	आसादिज्जंत (स्वाद लेते हुए)	४५/४३
आत (आत्मा)	२७/४	आसीविस (आशीविष सर्प)	२८/४
आतव (आतप, धूप)	९/२७	आहित (प्ररूपित, कथित)	९/३५
आतुर (रोगी, घायल)	४५/५२	आहित (स्थापित, निवेशित)	१५/३१
आदाण (ग्रहण)	९/६	आहुत (हवन में डालना)	२९/१७
आदाण (संग्रह)	२७/५	इंगाल (अंगारा)	१०/४
आदिच्च (सूर्य)	१५/३१	इंद (इन्द्र)	४५/४३
आदिल्ल (आदिम, प्रथम)	२०/२	इंदज्झय (इन्द्रध्वज)	२४/७
आमग (रोग)	१५/२६	इंदनाग (इन्द्रनाग ऋषि)	४१/१३, १/६ सं
आमिस (१. दूषित)	४१/१	इत्थी (स्त्री)	६/१०
(२. मांस)	४१/७	इभ (हाथी)	३८/२४
आयति (भविष्य)	६/१	इसि (ऋषि)	१/१
आयस (लोहमय)	४५/५०	इसिगिरि (ऋषिगिरि)	३४/६, सं १/५
आयाण (परिग्रह)	४/१	ईरित (प्रेरित)	६/४
* आयाण (जानना)	२५/२	ईसा (खेती काटने का उपकरण, हल का दण्ड)	२६/१५
आयुध (शस्त्र)	४५/३९	उक्कंठ (आकण्ठ, उत्सुक)	१५/१६
आर (संसार)	८/१		
आरिय (आर्य)	१९/१		

शब्दार्थ			४०१
उक्कंठिय (उत्कण्ठित)	१०/५	उलूक (उल्लू)	४/१९
उक्कंङ्कंत (ऊपर उठा हुआ)	९/१६	उल्लंबण (फांसी लगाकर लटकाना)	९/२
उक्कल (उत्कट)	२०/	उवंग (म्रक्षण, मालिश)	४५/४८
उक्कलवादी (उत्कटवादी)	सं १/३	उवंजण (उपाञ्जन, म्रक्षण, मालिश)	४/२४
उक्केर (करण विशेष)	९/१५	उवक्कम (कर्म स्कंधों को विविध रूप में परिणत करने में हेतुभूत जीव का पुरुषार्थ)	९/१५
उग्गम (उत्पत्ति)	३६/१०	उवट्टित (उपस्थित)	४/२२
उच्छायण (नाश)	२२/८	उवणयण (उपनयन संस्कार, यज्ञ सूत्र धारण करना)	२७/६
उच्छिन्न (छिन्न)	४१/३	उवदेसण (उपदेश)	३८/१४
उज्जल (निर्मल)	४५/३०	* उवभुज्ज (उपभोग करना)	३०/२
उज्जोग (उद्योग)	२८/९	उवयार (उपचार, साधना)	१०/२, ११/७
उट्ट (औष्ठ)	९/२	उवरत (उपरत)	३/२
उट्ठ (ऊर्ध्व, ऊंचा)	२०/७	उवहाणव (तप करने वाला)	१/५
उत्तर (उत्तर दिशा)	२६/२	* उव्वल (कुंद होना)	१०/३
उत्तिमट्ट (उत्तमार्थ, संधारा)	७/४	उव्वहंत (धारण करते हुए)	१५/२६
उदग (जल)	२२/३	उव्विवार (भूकम्प)	४५/१४
उदगपुक्खल (कमल)	२२/३	उसित (निवसित, रहा हुआ)	
उदिण्ण (उदीर्ण)	४/२३	उसु (१. बाण)	२५/१०
उदीण (उत्तरदिशा)	३७/५	(२. ईक्षु)	३३/४
उदुंबक (उदुम्बर का वृक्ष)	२४/६	उसुकारय (बाण-निर्माता)	२५/१०
उद्दालय (उद्दालक ऋषि)	३५/१, सं १/५	उस्सव (उत्सव)	२४/६
उद्धंगामि (ऊर्ध्वगामी)	३१/४	उस्सुयत्त (उत्सुकता)	७/३
उद्धुर (उद्धत, प्रचण्ड)	२४/३०	ऊसुयत्त (उत्सुकता)	७/३
उप्पत्ति (उत्पत्ति)	२/८	एगगया (एकाग्रता)	४५/२२
उप्पाडण (उत्पाटन, उखाड़ना)	९/२	एगत (एकत्व)	२८/२
उप्पादक (उत्पादक)	२४/२		
उब्भावण (प्रकट करना)	२०/४		
उब्भूत (उद्भूत, उत्पन्न)	२४/२१		

* एज	(सामान्य कम्पन होना)	११/२	कल्लाण	(कल्याण)	३०/८
* एध	(बढ़ाना)	४०/५	कल्लाणमित्त	(कल्याणमित्र)	३३/१८
एलिस	(ऐसा)	४/२३	कवाल	(घट कर्पर)	३४/३
ओदइय	(औदयिक)	३१/३	कविंजल	(गौरैया)	१२/२
ओलंबण	(पर्वत के नीचे फेंकना)	९/२	कवोत	(कबूतर)	१२/२
कंक	(एक प्रकार की घास)	४१/४	* कस	(कृषि करना)	२६/१२
कंचण	(स्वर्ण)	९/२८	कस	(कषाय)	३१/४
कंतार	(अटवी)	२४/३	कसाय	(कषाय)	९/८
कंति	(कांति)	२४/१२	कसिण	(सम्पूर्ण)	२०/७
कंद	(मूल, जड़)	१५/७	कासव	(महाकाश्यप ऋषि)	सं १/२
कंदर	(गुफा)	१०/४	किंपाक	(किम्पाक फल)	२१/७, २५/७
कक्कस	(कर्कश)	२८/८	किच्च	(कृत्य, कार्य)	१०/५
कज्ज	(कार्य)	४५/४८	किच्चा	(१. मायावी शक्ति विशेष)	२/१
कट्ट	(काष्ठ, लकड़ी)	१०/३		(२. करके)	३५/२
कड	(१. चटाई)	९/२	किच्छ	(कष्ट)	४५/४७
	(२. कृत)	२४/२१	कित्तिवाय	(काटना)	२६/१५
कण्ण	(कर्ण)	९/२	किया	(क्रिया)	२४/१४
कण्णधार	(नाविक)	६/४	किसि	(कृषि)	२६/१२
कण्णिस	(कनिष्ठ)	४२/१	* किस्स	(दुःखी होना)	२८/१७
कतंत	(यमराज)	१०/४	कीब	(दे. कुत्ता)	१५/२४
कत्ति	(चर्म)	३८/३१	कुक्कस	(तुष)	३६/१
कत्तो	(कुत्र, कहां)	१०/४	कुणिम	(दे. अपवित्र स्थान, मांस)	५/५
कप्प	(आचार)	३८/३१	कुद्ध	(क्रोधी)	३८/२६
कप्पिय	(रचित, निर्मित)	२२/२	कुप्पणा	(क्रोध)	सं २/४
कम्महा	(कर्म का नाश करने वाला)	१७/४	कुम्म	(कूर्मापुत्र ऋषि)	सं १/२
करण	(साधन)	१३/४	कुम्म	(कल्लुआ)	१६/४
कलुस	(कलुष)	२५/२	कुम्मापुत्त	(कूर्मापुत्र ऋषि)	७/१

कुरुय (माया)	४/२०	खल (खलिहान)	२६/१४
कुसग्ग (कुशाग्र)	४१/१४	खलीण (लगाम)	२२/९
कूड (माया)	२६/१०	खवण (क्षय)	९/१५
केतलिपुत्त (केतलिपुत्र ऋषि)	८/१ सं १/२	खाणु (स्थाणु)	४/७
केस (क्लेश)	२८/११	खिंखिणिया (घुंघरू)	१०/४
केश (बाल)	२०/७	खिंसणा (दे. निंदा)	९/२
कोउगकम्म (कौतुककर्म, दृष्टिदोष से रक्षा के लिए किया जाने वाला मषी तिलक)	४१/१३	* खिज्ज (क्षय करना)	९/१८
कोट्टण (कूटना)	९/२	खिति (पृथ्वी)	४/२२, २८/१०
कोडि (१. अंश, विभाग)	२५/४	खीण (क्षीण)	२५/४
(२. कोड़ी)	३८/२४	खीर (दूध)	३/१२
कोध (क्रोध)	३/१०	* खुब्भ (क्षुब्ध करना)	११/२
कोव (क्रोध)	३५/२	खुर (क्षुरा)	१०/३
कोविय (कुपित)	४/२०	खेत्त (क्षेत्र)	३७/५
कोसारकीड (रेशम का कीड़ा)	८/२	खोभणा (क्षुब्ध होना)	११/३
कोसियार (रेशम का कीड़ा)	२१/७	गंठि (ग्रन्थि)	३१/७
कोसी (म्यान)	४५/४५	गंड (फोड़ा)	२२/३
खइ (क्षय होने वाला)	३३/१०	गंधजाल (परिग्रह)	८/३
खंत (क्षान्त)	१०/५	गंधजुत्ति (गंधगुटिका)	२२/६
खंध (१. स्कन्ध)	९/१४	गद्दभ (गर्दभ ऋषि)	सं १/४
(२. कंधा)	१०/३	गब्भवास (मैथुन)	२५/१
खंधि (वृक्ष)	९/१४	गर (विष)	२२/७
खण (क्षण)	२८/२४	गरहणा (गर्हा)	९/२
खत (घाव)	४५/१८	गल (मछली पकड़ने का कांटा)	४१/७
* खम (सामर्थ्य से सहन करना)	३४/१	गव (बैल)	२८/१२
खमा (क्षमा)	२६/१५	गवल (जंगली भैंसा)	१०/३
खय (क्षय)	९/२३	गह (ग्रह)	९/२३/१
		गहण (गूढ, मायावी)	४/६

गहि	(ग्रहावेश से युक्त)	२४/३७	घाण	(घ्राण, नासिका)	३८/७
गात	(शरीर)	२१/८	घोलण	(घुमाना)	९/२
गाव	(गाय)	१२/२	चंद	(चन्द्र)	४/२२
गाह	(शेर का पंजा)	२१/९	चक्क	(चक्र)	२४/५
गाह	(मगरमच्छ)	४५/२६	चक्कवट्टि	(चक्रवर्ती)	२८/२३
गाहा	(१. गाथा)	२०/४	चक्खु	(आंख)	१०/४
	(२. पंजा)	२१/९	चत्त	(चालीस)	सं १/६
गाहावतिपुत्त	(गाथापतिपुत्र ऋषि)	२१/१	चाउज्जाम	(चातुर्याम)	३१/७
गिद्ध	(गृद्ध)	१५/१६	चारु	(सुंदर)	४५/३३
गीवा	(गर्दन)	१०/३	चित्त	(संचय)	९/१४
गुंजा	(फल विशेष, घुङ्गची)	१०/४	चित्त	(१. चित्र)	४/५
गुत्त	(गुप्तियों से गुप्त)	१०/५		(२. विचित्र)	२४/३९
गुलिय	(भैंसे के सींग)	१०/३	चिंध	(चिह्न)	१४/२
गुहा	(गुफा)	२२/६	चेट्टा	(चेष्टा)	४१/२
गेह	(गृह)	२२/९	चोज्ज	(दे. चौर्य)	२६/४
गेहि	(गृद्धि)	३/७	चोदित	(प्रेरित)	४/२४
गोण	(दे. बैल)	२६/१३	चोलक	(चूडाकर्म)	२७/६
गोत्थणव	(?)	२६/११	छड्डुण	(छोड़ना)	९/२०
गोपह	(पतली पगडंडी)	१२/१	छिज्ज	(छेद्य, छेदने योग्य)	२४/३४
गोय	(गोत्र)	२४/२१	छित्त	(दे. न्यून)	३६/४
गोयर	(इंद्रिय-विषय)	२९/१५	छुहित	(क्षुधित, भूखा)	४५/२८
गोयरिया	(गोचरी)	४१/१७	छेत्त	(खेत)	२६/९, ३२/२
घंसणा	(घसीटना)	९/२	छेय	(कुशल)	३८/२४
* घट्ट	(सब दिशाओं में चलना, दो वस्तुओं का आपस में संघर्षण)	११/२	जंत	(यंत्र)	१०/४
घड	(घट)	१५/८	जंबुग	(गीदड़)	३८/२४, २९
घत	(घृत)	४१/६	जच्चमणि	(श्रेष्ठ मणि)	४५/३१
			जढ	(त्यक्त)	२५/३

जण्ण	( याज्ञवल्क्य ऋषि )	सं १/३	जेट्ट	( ज्येष्ठ )	२२/२
जण्णवक्क	( याज्ञवल्क्य ऋषि )	१२/१	जोगंधरायण	( यौगंधरायण मंत्री )	२५/१, २
जतु	( लाख )	२५/९	जोगकण्णा	( योगकन्या )	२२/७
जतुकारग	( लाक्षाकार )	२५/९	जोगक्खेम	( योगक्षेम, अप्राप्त की प्राप्ति, प्राप्त की सुरक्षा )	२४/२, ३३/४
जत्तो	( जिधर )	६/२	जोजित	( युक्त )	४५/४४
जत्थ	( जहां )	४/२१	जोज्ज	( जोतने योग्य )	३२/३
जम	( यम ऋषि )	४३/१	जोति	( ज्योति )	४/२२
जम्म	( जन्म )	३/१	जोत्त	( चाबुक )	२६/११
जर	( वृद्ध )	२१/८	जोध	( योद्धा )	४५/३९
जलोहंत	( बाढ़ )	४५/१४	* जोय	( देखना )	३८/२२
* जह	( छोड़ना )	३६/१७	जोव्वण	( यौवन )	२४/८
जहण	( जंघा )	२५/४	झस	( मछली )	१५/२०
जाग	( यज्ञ )	२६/२	झाण	( ध्यान )	९/२७
जाणिय	( जानकर )	२३/२	* झिज्ज	( क्षीण होना )	१५/३१
जाततेय	( अग्नि )	३५/२४	झीण	( क्षीण )	४१/४
जालक	( समूह )	२१/६	ठित	( स्थित )	२६/१०
जाला	( ज्वाला )	१०/४	डंभ	( दम्भ )	३८/३१
जितिंदिय	( जितेन्द्रिय )	१०/५	डाह	( दाह, जलना )	२२/११
जित्ता	( जीतकर )	२९/१७	णंगल	( हल )	२६/९, ३२/२
जिब्भा	( जीभ )	९/२	णग्ग	( नग्न )	३८/२३
जुग	( एक साथ )	२६/२	णरवति	( राजा )	१४/२
जुग	( बैल का जुआ )	२६/९	णराहिव	( राजा )	२८/१०
जुज्झ	( युद्ध )	२७/६	णरिंद	( राजा )	२४/९
जुत्त	( जोते हुए )	२६/१३	णवणीत्त	( मक्खन )	३७/३
जुत्ति	( युक्ति )	४५/४८	णवय	( नया )	६/७
जुद्ध	( युद्ध )	२६/१	णाग	( सर्प )	४५/४०
जूय	( जुआ )	३२/३			



णामण	(झुकाना)	४५/४८	णियंठ	(निर्ग्रन्थ)	३१/६
णामधिज्ज	(नाम)	२३/२	णियडि	(माया)	४/७
णारद	(नारद ऋषि)	सं १/२	णियमण	(संयम)	२६/१०
णारय	(नारक)	३०/९	णिरंगण	(पवित्र)	४/१८
णिकायित	(निकाचित)	९/१५	णिरणुक्कोस	(निर्दय)	२४/१०
णिखिल	(सम्पूर्ण)	३८/३१	णिरत्थक	(निरर्थक)	३०/६
णिग्गम	(निर्गम)	४५/४२	णिरय	(नरक)	४५/१
णिच्चल	(निश्चल)	२६/१४	णिरवज्ज	(निरवद्य)	७/५
णिजुत्त	(युक्त)	२६/५	णिराकिच्चा	(निराकरण करके)	११/८
णिज्जिण्ण	(निर्जीर्ण)	९/२४	णिरित्ता	(खाली करके)	३५/१४
णिज्जित	(जीता हुआ)	२६/१२	णिरुंभण	(रोकना)	९/३०
णिज्जोक	(नाविक)	४५/५२	णिवाण	(महापान साधना)	९/१९
णिट्ठाण	(नाश)	२२/८	णिवात	(१. प्रहार)	२१/९
णिट्ठित	(निष्पन्न)	२५/४		(२. निर्वात, वायु रहित)	४५/२९
णिण्ण	(निम्न)	३७/५		(३. पतन)	४५/५०
णितिय	(नित्य)	३१/९	णिव्वत्त	(रचित)	३०/४
णिदंसण	(निदर्शन, उदाहरण)	२१/७	णिव्वत्ति	(१. रचना, निर्माण)	२४/२०
णिदरिसण	(उदाहरण)	२५/७		(२. निष्पत्ति)	३८/२८
णिदाण	(तप के फलस्वरूप भौतिक अभिलाषा से किया गया संकल्प)	९/१६	णिव्विसेस	(समान रूप से)	२४/१०
णिद्धंत	(दे. निर्मल)	२७/३	णिव्वेढि	(दृढ़ बंधन)	२४/२
णिधण	(मृत्यु)	२१/८	णिव्वेय	(वैराग्य)	४५/२०
णिप्पभ	(निष्प्रभ)	३६/९	* णिसिर	(बाहर निकालना, उत्पन्न करना)	२५/९
णिप्फण्ण	(निष्पन्न)	११/६	णिस्सय	(प्रतिबद्ध)	१४/३
णिप्फत्ति	(निष्पत्ति)	२/४	णिस्सल्ल	(निःशल्य)	३५/१
णिब्भय	(निर्भय)	२४/१३	णिस्सा	(आश्रय, सहारा)	४१/२
णिमिल्लित	(आंख मूंदना)	४१/५	णिस्सेस	(सम्पूर्ण)	१५/२७
			* णिह	(माया करना)	३१/६

णिहण (नाश)	९/२५	तावण (तपाना)	४५/४८
णिहण (निधान)	२६/१३	तिक्ख (तीक्षण)	४५/४५
णिहिल (सम्पूर्ण)	१७/७	* तित्तिक्ख (दैन्य रहित होकर सहन करना)	३४/१
णीरय (कर्ममल रहित)	१/५	तित्तिक्खा (तित्तिक्षा)	२६/१०
णील (नीला रंग)	३८/२९	तित्ति (तृप्ति)	२८/८
णीसल्ल (शल्य रहित)	२५/३	तित्थ (तीर्थ)	३३/११
णेज्जाण (निर्वाण)	१६/३	तिव्व (तीव्र)	४५/४९
णेय (ज्ञेय)	२२/१३	तीत (अतीत)	१७/७
णेव्वाण (निर्वाण)	२७/३	तुंग (ऊंचा)	६/६
णेह (स्नेह)	९/२२	तुण्हक्क (मौन)	३८/२७
तक्खण (तत्काल)	११/७	तुरंग (घोड़ा)	२९/१४
तज्जणा (तर्जना)	९/२	तुरंगम (घोड़ा)	४५/५२
तड (तट)	३८/२२	तुस (तुष, घास)	२५/१०
तण (तृण)	४/७	तेतणी (अग्नि)	४५/१४
तणय (पुत्र)	२१/१०	तेतलिपुत्त (तेतलिपुत्र ऋषि)	१०/१, १०/२
तण्हा (तृष्णा)	२८/९	तेतलिसुत्त (तेतलिपुत्र ऋषि)	सं १/२
तत्त (तप्त)	१५/३१	तेरिच्छ (तिर्यञ्च सम्बन्धी)	३/६
तय (त्वचा)	२०/७	तेलोक्क (तीन लोक सम्बन्धी)	२४/१४
तरुच्छेत्ता (कुल्हाड़ी)	१५/२२	तेल्ल (तैल)	२५/७
तरुण (तरुण ऋषि)	२१/१, सं १/३	तोय (जल)	९/१६
तल्लिच्छ (तल्लीन)	२४/३०	थण (स्तन)	२५/४
ताति (त्राता)	११/१	थल (स्थल)	५/२
तारय (तारने वाला)	१३/३	थाण (स्थान)	२४/४२
तारायण (तारायण ऋषि)	३६/१	थाह (थाह, गहराई)	१०/३
ताल (ताड़ वृक्ष)	१५/१०, २५/६	थिर (स्थिर)	४५/३१
तालणा (ताड़ना)	९/२	थूभ (स्तूप)	२२/३
तालपुडक (तालपुट, एक प्रकार का विष)	१०/३	थोव (स्तोक, काल का एक परिमाण)	२८/२४

दंत	(दान्त)	१०/५	दुक्कर	(दुष्कर)	७/१
दंतकट्ट	(दतौन)	२८/२३	दुक्ख	(दुःख)	१/१
दंस	(दंश सांप आदि का)	२१/९	दुग्गत	(दग्द)	३८/२४
दगभाल	(दकभाल ऋषि)	२२/१	दुग्गति	(दुर्गति)	२८/१
दड्ड	(दग्ध)	२०/८	दुज्जेय	(दुर्जेय)	३६/८
दधि	(दही)	३/१३	दुट्ट	(दुष्ट)	४/२
दप्प	(दर्प, अहंकार)	१५/१७	दुट्टित	(दुःस्थित)	१५/२६
दप्पिय	(दृप्त)	३८/२४	दुण्णिवारय	(जिसका निवारण कठिन हो)	३६/५
दब्भ	(दर्भ, घास)	३६/११	दुत्तर	(दुस्तर)	२८/१२
दव	(तरल पदार्थ)	१६/१	दुद्धंत	(दुर्दान्त, दुर्जेय)	१६/३
दवग्गि	(दावाग्नि)	३/१४	दुपाण	(कूप)	१५/१७, २१/८
दव्वहीण	(निर्धन)	२२/८	दुप्पच्चिण्ण	(दुश्चीर्ण)	४/१०
दसण	(१. दांत)	९/२	दुप्पह	(उत्पथ)	२९/१४
	(२. दंश करना)	२२/११	दुब्बल	(दुर्बल)	३८/३२
दाढि	(दाढा वाला)	४५/१२	दुब्बुद्धि	(दुर्बुद्धि)	४१/६
दार	(द्वार)	९/१०	दुभासण	(अकुशल वाणी)	३५/१२
दाहण	(जलाना)	९/२	दुम	(वृक्ष)	१५/२७
दाहिण	(दक्षिणदिशा)	३७/५	दुम्मति	(दुर्मति)	१५/१८
दिट्ठंत	(दृष्टान्त)	९/२९	दुरंत	(दुष्ट अंतःकरण वाला)	३८/२०
दिण्ण	(दीर्ण, विदीर्ण)	२/१	दुल्लह	(दुर्लभ)	९/२१
दित्त	(१. प्रदीप्त)	१५/२९	दुव्वियाणक	(दुर्विज्ञायक, जिसे जानना कठिन हो)	४/५
	(२. दृप्त, उन्मत्त)	४१/५	दुहट्टिय	(दुःख से आर्त)	१५/१८
दिव्व	(दिव्य)	३/६	दुहावह	(दुःखद)	१५/२९
दीव	(स्वर्ग)	४/२२	दुहि	(दुःखी)	१५/२५
दीव	(दीप)	९/२२	दूसि	(दे. विष, जामण)	३/१२
दीवायण	(द्वैपायन ऋषि)	४०/१, सं १/५	देवाणुप्पिय	(भद्र, महानुभाव)	२५/१
दुक्कड	(दुष्कृत)	४/१२			

देविल	(देविल ऋषि)	३/२	निच्चल	(निश्चल)	२४/४२
देसग	(पथदर्शक)	२४/२६	निज्जरा	(निर्जरा)	९/७
देसधम्मि	(एकदेशीय)	९/२९	निधत्त	(बद्ध कर्मों का तप्त सुई के	
देसिय	(स्तुतिपाठक)	४५/२८		समूह की भांति अवस्थान)	९/१५
दोगच्च	(दुर्गति)	९/२	निबंधण	(कारण)	२४/३८
दोग्गति	(दुर्गति)	२८/२	निम्ममत्त	(निर्ममत्व)	१/३
दोमणस्स	(दौर्मनस्य)	९/२	नियल	(शृंखला, बेड़ी)	९/२
दोभत्त	(दुःखद आजीविका)	९/२	निरत्थक	(निरर्थक)	३८/२२
दोस	(द्वेष)	२७/८	निरवज्ज	(निरवद्य)	१७/८
धणु	(धनुष)	१०/४	निरादाण	(अकाम निर्जरा)	९/१२
धण्ण	(धन्य)	९/३५	निरोह	(निरोध)	९/५
धम्म	(धर्म)	२२/१६	निवात	(निमेष, वातरहित)	१०/४
धरणी	(पृथ्वी)	१०/४	निव्वत्ति	(कार्य-रचना)	९/१०
धाम	(घर)	२६/३	निव्वेद	(वैराग्य)	३८/१४
धारिणी	(पृथ्वी)	२४/४	निसित्त	(तीक्ष्ण)	२६/९
धिक्कय	(धिक्कार प्राप्त)	२२/४	नीतिसत्थ	(नीतिशास्त्र)	१०/२
धिति	(धृति)	२६/११	नीलुप्पल	(नीलकमल)	१०/३
धिद्धिक्कार	(धिक्कार)	४५/४१	पउमिणी	(कमलिनी)	२२/५, ४५/२६
धीमंत	(बुद्धिमान्)	४५/२४	पओय	(प्रयोग)	३३/१
धुव	(निश्चित)	२२/१५	पंजर	(पिंजरा)	२८/१७
धूम	(माण्डलिक दोष)	२५/४	पकत्ति	(प्रकृति)	२४/१८
धूता	(पुत्री)	१०/२	पकास	(प्रकाश)	१०/४
नक्क	(दे. नाक)	९/२	पक्खित्त	(प्रक्षिप्त, डाला हुआ)	१०/३
नड	(नट)	२४/२७	पक्खिय	(पक्षी)	३८/२७
नमस्सित	(नमस्कृत)	२४/१५	पगास	(प्रकाश)	१०/३
नासिया	(नासिका)	२४/३५	पग्गह	(लगाम)	६/३
निकर	(समूह)	१०/४	पच्चक्ख	(प्रत्यक्ष)	१०/४

पच्चय	(प्रत्यय, ज्ञान)	९/१९	पणवणा	(प्रज्ञापना ग्रंथ)	२०/२
पच्चल	(योग्य)	३८/२३	पतंग	(पतङ्गा)	२१/७
पच्चाण	(विश्वास)	३८/२५, २७	पतिट्टा	(प्रतिष्ठा, आधार)	२२/८
पच्चुप्पण	(वर्तमान)	१५/१६	पत्त	(१. पत्र, कमल आदि का पत्ता)	२२/१
पज्जण	(बादल)	३३/५		(२. पात्र)	३६/२
पज्जव	(पर्यव)	५/३	पत्तेयबुद्ध	(प्रत्येकबुद्ध)	सं १/१
पज्जोवित	(प्रकाशित)	२२/२	पत्थिव	(राजा)	२७/६
पडण	(पतन)	२४/२	पदोस	(प्रद्वेष)	३/१३
पडिघात	(प्रतिघात, नाश करना)	२३/२	पप्प	(प्राप्त करके)	३/१२
पडिच्छन्न	(घिरा हुआ, आच्छादित)	४/२	पब्भट्ट	(च्युत, भ्रष्ट)	६/३
पडिबद्ध	(प्रतिबद्ध)	६/११	* पभास	(प्रकाशित होना)	३९/२
पडियार	(प्रतिकार)	१५/१२	पमाण	(प्रमाण)	१४/१
पडिरूव	(प्रतिरूप)	२५/४	पमाद	(आस्रव का एक भेद, प्रमाद)	९/८
पडिवण्ण	(प्रतिपन्न, स्वीकृत)	१०/४	पर्यंड	(प्रचण्ड)	१०/४
पडिसुंका	(प्रतिध्वनि)	२४/२०	पर्यहित्तु	(छोड़कर)	२७/३
पडिसेवणा	(प्रतिसेवना, दोष-सेवन)	३५/१६	पर्या	(उत्पत्ति, जन्म-मरण)	९/१
पडिस्सुया	(प्रतिध्वनि)	३०/८	पर्याहिण	(अनुकूल)	२७/७
पडीण	(पश्चिम दिशा)	३७/५	पर्युत्त	(प्रयुक्त)	९/१९
पडुच्च	(अपेक्षा करके, आश्रय करके)	३१/२	पर्योग	(प्रयोग)	३०/४
पडुप्पण	(वर्तमान)	३७/५	पर्योगगति	(प्रयोगगति)	३१/३
पणइय	(प्रणय करने वाला, चापलूसी करने वाला)	४१/१३	परक्कम	(पराक्रम)	७/३
पणिहित	(समाहित)	६/८	परिकिलेस	(क्लेश)	९/२
पणोल्लित	(प्रेरित)	१५/१६	परिग्गह	(परिग्रह)	१८/१
पण्ण	(प्रज्ञावान्)	३६/१८	परिण्णाण	(परिज्ञान)	१७/३
पण्णत्त	(प्रज्ञप्त)	२६/१	परिण्णाय	(जानकर)	७/४
पण्णर	(पन्द्रह)	१/१ सं	परिनिव्वुड	(परिनिर्वृत, शान्त)	१/४
			परिभवण	(पराभव करना)	९/२

परियंत (पर्यन्त)	२०/७	पाओग्ग (प्रायोग्य)	९/६
* परिवित्तस (त्रस्त होना)	२/२	पाडिस्सुया (प्रतिध्वनि)	३०/९
परिव्वायग (परिव्राजक)	२५/१, ३४/६	पाणातिपात (प्राणातिपात)	१/२
परिसाडि (परिशाटन करने योग्य)	२२/१	पाणिय (जल)	२४/३३
परिसुद्ध (शुद्ध)	२५/४	पातरास (प्रातराश, नाश्ता)	१२/२
* परिस्सव (बहना)	१६/१	पाद (पैर)	९/२
* परिहर (पहनना)	१०/४	पादव (पादप)	३/१४
पलिघाइय (पीड़ित)	२३/२	पाय (पात्र)	२५/७
पलिच्छण्ण (छिपा हुआ)	४५/४५	पाय (पैर)	२०/७
पलित्त (प्रदीप्त)	१०/४, ३५/१४	पायव (पादप, वृक्ष)	१०/४
पलिय (दे. कर्म)	२३/२	पारिणामिय (पारिणामिक)	३१/३
* पव (उछलकूद करना)	६/३	पाव (पाप)	९/७
पवकार (चाण्डाल)	३८/३२	पास (१. बंधन)	१०/३
पवर (श्रेष्ठ)	१०/४	(२. पार्श्व ऋषि)	३१/१, सं १/१,५
पवात (१. झरना)	१०/४	पासाण (पत्थर)	१०/३
(२. पतन, गर्त)	४१/६	पासित्ता (देखकर)	२३/२
पविट्टु (प्रविष्ट)	१२/२	पिंग (पिङ्ग ऋषि)	३२/१ सं १/५
* पवियंभ (बढ़ना)	४५/३३	पिंड (आहार)	३५/१
पव्व (पर्व)	२२/१०	पिंडित (एकत्रित)	१०/४
पव्वज्जा (दीक्षा)	१०/५	पिज्ज (प्रेय)	२८/९
पव्वहण (व्यथित करना)	९/२	पिट्टण (पिट्टाई करना)	९/२
पसंसा (प्रशंसा)	४/१९	पिट्टुओ (पीछे से)	१०/४
पसत्त (प्रसक्त, आसक्त)	६/२	* पिणिद्ध (बंद करना)	२६/३
पहीण (हानि)	१/५	पिवासिय (प्यासा)	१०/५
पहेलिया (पहेली)	२७/५	पीति (प्रीति)	२४/११
पाईण (पूर्वदिशा)	३७/५	पीलण (यंत्र में पीलना)	९/२
पाउब्भाव (प्रादुर्भाव)	२५/४	पीलित (पीड़ित)	३४/१०

पीवर (१. अत्यधिक)	१५/२६	बंधण (ब्राह्मण)	२६/१
(२. पुष्ट)	२४/११	* बज्झ (बांधना)	९/१७
पुंख (बाण का अग्रभाग)	१०/४	बलव (बलवान्)	६/५
पुक्खर (कमलपत्र)	२२/१	बाल (अज्ञानी)	४/२०
पुक्खरिणी (सरोवर)	१०/३	बाहुक (बाहुक ऋषि)	१४/१, ३
पुट्टिला (अमात्यपत्नी)	१०/४	बाहूय (बाहुक ऋषि)	सं १/३
पुट्ट (१. स्पृष्ट)	९/१५	* बिह (भयभीत होना)	३१/६
(२. पूछना)	२९/१	बीय (बीज)	२/४
पुण्ण (पुण्य)	९/५	बुइत (कहा)	१/१
पुत्त (पुत्र)	९/२	बुद्ध (बुद्ध)	३८/१
पुप्फ (पुष्प)	९/२०	बुब्बुय (बुद्बुद, बुलबुला)	२४/८
पुप्फसाल (पुष्पशाल ऋषि)	सं १/२	बुह (बुद्धिमान्)	४५/१
पुप्फसालपुत्त (पुष्पशालपुत्र ऋषि)	५/१	बूहण (डूबना)	१३/३
पेच्च (परलोक)	३३/७	भइणि (बहिन)	९/२
पेज्ज (प्रेय, राग)	२७/८	* भंस (भ्रष्ट करना)	३४/६
पेहि (देखने वाला)	२६/६	भक्खण (भक्षण)	२१/७
पोट्टिला (तेतलिपुत्र की पत्नी)	१०/२, ५	भगिणि (भगिनी)	९/२
फंदणा (किंचित् हलन-चलन करना)	११/३	भज्जा (भार्या)	९/२
* फडंत (खोदना)	२४/५	भद्दग (अच्छा)	३९/६
फरुस (कठोर)	३०/७	भद्दा (भद्रा)	२१/१०
फाल (फावड़ा)	२६/९	भयालि (भयालि ऋषि)	१३/१, सं १/३
फास (स्पर्श)	२९/११	भाउ (भाई)	९/२
फीत (विशाल)	३३/१७	भारद्दाय (भारद्वाज गोत्र)	४/१
फीति (विस्तीर्ण)	२८/१०	भास (भस्म)	१५/२८
फुल्ल (विकसित)	२२/५	भासय (भाषक, वक्ता)	२७/४
बंध (ब्रह्मचर्य)	२६/३	भिज्जय (बुभुक्षित)	४५/५२
बंधचेर (ब्रह्मचर्य)	३/१२, २५/३	भित्ति (भीत)	४/५

भिस (अत्यधिक)	१५/२५	मम्मवेधि (मर्मवेधी)	३८/१५
* भुज्ज (भोगना)	३०/२	मयंग (मातङ्ग)	१/४ सं
भुज्जो (पुनः, फिर)	३९/४	मलण (मर्दन)	२६/१५
भुयंग (भुजङ्ग, सांप)	२१/९	महग्घ (बहुमूल्य)	४५/५०
भूसण (आभूषण)	२४/३६	महप्पा (महात्मा)	सं १/६
* भेज्ज (भेदन करना)	३८/२४	महाकासव (महाकाश्यप ऋषि)	९/१
भेद (फूट डालना, राजनीति का सूत्र)	२४/१४, २७/५	महाविज्जा (महाविज्जा)	१७/१
भेसज्ज (भैषज्य)	३८/१८	महासालपुत्त (महाशालपुत्र ऋषि)	३३/१९
मंखलि (मंखलि गोशालक)	सं १/३	महितल (पृथ्वी)	३३/१७
मंखलिपुत्त (मंखलिपुत्र ऋषि)	११/१	महिय (पूजित)	४५/४२
मंत (मंत्र)	४५/२७	महु (शहद)	४५/४४
मक्खि (मक्खी)	४१/६	माइ (मायावी)	१०/५
मग्ग (मार्ग)	११/८	माण (मान्य)	३८/१५
* मग्ग (खोज करना)	१५/२४	मातंग (मातङ्ग, हाथी)	६/१
मच्चु (मृत्यु)	२२/१५	मारुत (मरुआ सुगंधित वृक्ष)	३३/१४
मच्छ (मत्स्य)	१५/१५	मारुय (हवा)	९/२६
मज्ज (मद्य, मदिरा)	९/२३/१	मालई (मालती का फूल)	२२/५
मट्टिया (मिट्टी)	१५/८	माहण (ब्राह्मण)	२६/१
मड (मृत)	२०/८	मिग (मृग)	२१/४
मडाइ (अचित्तभोजी)	३१/६	मिगारि (सिंह)	२/८
मणुण्ण (मनोज्ञ, रुचिकर)	१६/२	मिच्छत्त (मिथ्यात्व)	९/८
मणुस्स (मनुष्य)	४३/१	मिच्छा (मिथ्या)	१०/२
मत्थक (मस्तक)	२०/७	मिच्छादंसणसल्ल (मिथ्यादर्शन शल्य, पाप का एक प्रकार)	१८/१
मधुरायण (मधुरायण ऋषि)	१५/३	मित्त (मित्र)	१०/२
मम्म (मर्म)	१७/५	मिहिला (मिथिला नगरी)	३३/१७
मम्मग्गाह (मर्म को पकड़ने वाला)	९/२१	मुक्क (मुक्त, छोड़ा हुआ)	१५/१८



मुख (मूर्ख)	३४/२	रवि (सूर्य)	२४/७
मुच्छणा (दही जमाने का जामण)	३/१३	रस्सि (लगाम, डोरी)	६/३
मुच्छा (मूर्च्छा)	३/७	रस्सि (किरण)	१५/३१, २४/३३
मुट्टि (मुट्टी)	३४/३	रह (१. रहस्य, एकान्त)	४/४
मुणीस (मुनीश्वर)	४५/२१	(२. रथ)	४/२४
मुद्ध (१. अग्रभाग, सिर)	२५/६	रहस्स (रहस्य, गोपनीय)	१०/५
(२. मुग्ध, मूढ़)	२७/४	रामपुत्त (रामपुत्र ऋषि)	२३/१, सं १/४
मुल्ल (मूल्य)	३५/२२	रासि (समूह)	१०/३
मुसामुही (कैंची)	४५/४६	रिट्ट (अरिष्ट, दुरित)	७/२
मूल (मूलकर्म)	४१/१३	रित्त (रिक्तता)	३६/१२
मूसिकार (स्वर्णकार)	१०/२	रिद्धि (ऋद्धि)	४५/२५
मेइणी (पृथ्वी)	२८/१८	रिभित (एक प्रकार का नृत्य, स्वर का घोलन)	२५/४
मेढि (आधार)	२६/१४	रिसि (ऋषि)	४/१
मेतेज्ज भयालि (मेतार्य भयालि ऋषि)	१३/१	रुक्ख (वृक्ष)	१०/३
मेरु (मेरुपर्वत)	३३/१६	रुप्पि (समृद्ध, सोने चांदी वाला)	४५/४१
मेह (मेघ)	२४/७	रुयाहर (औषधालय)	४५/२८
मोगगर (मोगरा, मालती)	२८/१४	रोहण (बढ़ना, चढ़ना)	१५/७
मोडण (मोड़ना)	९/२	लक्खण (१. लक्षण, चिह्न)	९/३३
* मोय (प्रसन्न रखना)	३४/७	(२. शारीरिक चिह्न)	२७/५
मोयणी (मुक्त करने वाली)	१७/२	लक्खा (लाख)	२४/३६
मोसकारि (असत्य आचरण करने वाला)	३८/३१	लट्टि (लाठी, छड़ी)	२१/८
यम (यम ऋषि)	सं १/६	* लव (बात करना)	४१/१७
रज्जुग (डोरी)	१८/३	लवणोदधि (लवण-सागर)	३३/१५
रण्ण (अरण्य)	३/१४	लाघव (लघुता, लघुपन)	२२/८
रम्म (रम्य)	२२/५	लावण (लावण्य)	१३/१
रयणी (रजनी)	३७/५	लेट्टु (मिट्टी का ढेला)	३४/३
रव (शब्द)	१०/४		

लेव (लेप)	३/१	वम्मीय (दीमक)	२८/२२
लोएसणा (लोकैषणा)	१२/१	वरत्ता (रज्जु)	१८/३
वंत (वान्त, वमन किया हुआ)	४५/४१	वरिसवकणह (वर्षपकृष्ण ऋषि)	१८/२, सं १/३
वक्क (वक्र)	३३/१२	वरुण (१. जल देवता)	३७/२
वक्कलचीरि (वल्कलचीरी ऋषि)	६/११, सं १/२	(२. वरुण ऋषि)	४४/१, सं १/६
वग्ग (वर्ग)	९/२	वल्लि (लता)	१५/७
* वच्च (जाना)	६/२	ववगत (व्यपगत, रहित)	२५/३
वज्ज (पाप)	१८/१	ववसाय (पुरुषार्थ)	२६/१३
वज्जक (वर्जन करने वाला)	३३/१३	वसण (व्यसन, कष्ट)	२४/६
वज्जित (वर्जित)	४५/२६	वहण (वध)	९/२
वज्जियपुत्त (वृजिकपुत्र ऋषि)	२/१, सं १/२	वाऊ (वायु)	३०/१, सं १/४
वज्झ (वध्य)	२२/६	वागलचीरि (वल्कलचीरी ऋषि)	६/१
वण (व्रण)	१५/२६	वाय (वाणी)	३८/५
वणसंड (वनखण्ड)	२२/३	वायस (काक)	४/१९
वणित (व्रणित)	३५/२२	वायि (घोड़ा)	२४/५
वणिय (वणिक)	२६/२	* वार (वर्जन करना)	३८/२५
वणीमक (वनीपक, याचक)	१२/३	वारण (हाथी)	१०/४
वण्ह (वह्नि, अग्नि)	३/१५	वारत्त (वारत्रक ऋषि)	२७/१, सं १/४
वती (बाड़)	२६/१४	वारय (वर्जन करने वाला)	२९/१९
वत्त (व्यक्त)	३३/१०	वारिग्गाहघडी (जलघटिका)	२४/३८
वत्ति (दीपक की बाती)	९/२२	वारिपत्तधर (कमल का फूल)	१८/३
वत्थु (१. वास्तुविद्या)	९/१९	वारिय (वर्जित)	३/२
(२. वस्तु)	२२/१५	वारी (वर्जनीय)	२९/१९
वद्धमाण (वर्द्धमान ऋषि)	२९/१, सं १/४	वाल (सर्प)	२२/५
वम्म (कवच)	४५/३९	वालग्गाहि (सपेरा)	१५/३२
वम्मीक (दीमक द्वारा बनाया गया मिट्टी का टीला)	२२/३	वास (वस्त्र)	३/२
		वाह (शिकारी)	३८/२६

वाहि (व्याधि)	९/२३	विधेय (विनीत)	२९/१५
वाहिणी (१. सेना)	२/१	विधुणित (कंपित करके)	२३/२
(२. नदी)	३३/१५	विपल्लत्थ (विपर्यस्त, विपरीत)	२६/२
विकप्प (विकल्प)	२८/२३	विप्पओग (वियोग)	९/२
विकप्पित (निर्मित)	२४/२१	विप्पडिवण्ण (विप्रतिपन्न, विरोध प्राप्त)	१०/२
विकहा (विकथा)	२५/३	विप्पमुक्क (विप्रमुक्त, रहित)	१०/४
विकिरण (विनाश)	२४/२	विप्पमूढ (मूढ़)	३५/८
विकीत (बिका हुआ)	४१/२	विभूसण (आभूषण)	२४/३६
विककंत (वीर)	२४/९	विमुत्ति (विमुक्ति)	१/३
विग्घ (विघ्न)	२२/९	वियक्क (वितर्क)	९/१०
विज्जा (विद्या)	१७/१	वियत्त (गीतार्थ)	६/१
विज्जाय (बुझा हुआ)	१०/३	वियाहित (व्याख्यात, कथित)	३१/२
विणिघात (विनाश)	१५/१५	विरइ (विरति, संयम)	२५/१
विणिच्छय (निश्चय)	२२/१३	विवज्जय (वर्जन करने वाला)	३५/१
विणिच्छित (निश्चित)	१७/३	विवण्णास (विपर्यास)	९/११
* विणिज्ज (नष्ट होना)	३५/३	विस (विष)	३५/१२
विणिम्मुक्क (मुक्त)	२८/१८	विसाद (विषाद, अवसाद)	१०/२
विणीय (अपनीत, दूर किया हुआ)	४५/५१	विसारद (विशारद, ज्ञाता)	१०/२
विण्णत्ति (विज्ञप्ति)	२३/२	विस्सुत्त (प्रसिद्ध)	२४/९
विण्णात्त (विज्ञात)	११/७	विहंग (पक्षी)	२१/४
विण्णास (विन्यास, मेल)	२१/११	विहंगम (पक्षी)	६/७
विण्णेय (विज्ञेय)	९/२३/१	विह (आकाश)	६/५
वित्त (प्रसिद्ध)	३६/१	विहाण (विधान)	३७/२
वित्थिण्ण (विस्तीर्ण, विशाल)	१०/४	विहि (भाग्य)	६/७
विदु (विदु)	१७/२, सं १/३	वीकव (व्याकुल)	२८/१५
* विद्धंस (ध्वंस करना)	३६/१७	वीर (महावीर)	१/१ सं
विद्धंसण (नाश)	२४/२	वीरिय (वीर्य)	७/४

वीरुह (वृक्ष)	९/१४	* संजल (क्रोध करना)	४१/१७
वीसंग (संग रहित)	३८/३०	संजुक्त (संयुक्त)	३०/१
वीस (बीस)	१/१ सं	संज्ञा (सन्ध्या)	३७/३
वीससागति (विप्रसागति)	३१/३	संठाण (संस्थान)	३०/३
वुक्कम (उत्क्रम)	२८/६	संड (कमल आदि का समूह)	४५/२६
वुड्ढि (वृद्धि)	१५/२९	संत (शान्त)	४/१८
वुत्ति (वृत्ति)	१७/८	संत (सत्)	१३/४
* वुप्प (वपन करना)	३०/३	संतत्त (संतप्त)	९/२७
* वेय (विशेष रूप से कम्पन होना)	११/२	संतति (परम्परा)	९/२२
वेयवि (ज्ञानी)	२२/१४	संताण (परम्परा)	६/९
वेस (वेश)	२४/२७	संतार (तैरने योग्य)	४५/१२
वेसमण (वैश्रमण ऋषि)	४५/२, सं १/६	संति (शांति)	३६/७
वेस्स (वैश्य)	२६/१६	संदाण (परम्परा)	२४/२३
संकड (अल्प अवकाश वाला, गहन)	१५/२८	संनिकाय (समूह)	३९/४
संकप्प (संकल्प)	९/१०	संपदा (सम्पदा)	२४/८
संकर (परम्परा, मिश्रण)	१३/४	संपयुत्त (युक्त)	२५/३
संकु (अस्त्र, कील, खूंटा)	१८/३	संपेसण (भोजना)	४१/१२
संकोडण (सिकोड़ना, संकोच करना)	९/२	संबाह (बहुल)	४५/३७
संख (सुगंधित द्रव्य)	३७/३	संभग्ग (भग्न)	२१/८
संखय (क्षय, विनाश, मृत्यु)	२४/९	संभम (भय)	२४/३
संखविज्ज (क्षीण)	९/१६	संवर (नव तत्त्व में एक तत्त्व)	९/७
संगहित (युक्त)	१०/२	संवुड (संवृत, संयमी)	३१/८
संछिण्ण (छिन्न)	२७/८	संसगि (सम्पर्क)	३३/१८
संछोभ (संक्रमण, करण विशेष)	९/१५	संसति (परम्परा, परिभ्रमण)	२०/३
संजअ (मिथिला का राजा)	३३/१७	संसिय (आश्रय लेकर)	२४/३४
संजमिय (संयमित करके)	२३/२	सकुणि (पक्षी)	१८/३
संजय (संजय ऋषि)	३९/५, सं १/५	सक्क (शक्य)	३६/८

सक्कय (सत्कार युक्त)	२४/४२	सब्भाव (१. सद्भाव)	९/३३
सक्कार (सत्कार)	१०/२	(२. स्वभाव)	३३/१२
सखिंखिणित (छोटी घंटी युक्त)	१०/४	समत्थ (समर्थ)	२४/२७
संख (सुगंधित द्रव्य विशेष)	३७/३	समन्नागत (समन्वित, सहित)	२२/२
सखेय (सख्यभाव)	२७/४	समय (सब)	१/१
सच्च (सत्य)	३०/१	समस्सित (आश्रित)	३३/१६
सच्छंद (स्वच्छन्द)	६/९	समाउत्त (युक्त)	२४/५
सच्छ (निर्मल)	४५/१२	समाहि (समाधि)	२४/४०
सज्ज (तत्काल, तुरंत)	२४/७	समाहिट्टाण (समाधिस्थान)	२५/३
सडण (सडना)	२४/२	समिया (शम्या, कील)	८/२
सड्ड (श्रावक)	६/१	समिला (युगकील)	२६/११
सढ (शठ, दुष्ट)	४/७	समुग्घात (समुद्घात, आत्मप्रदेशों का प्रबलता से बाहर निकलना)	९/३०
सण्णा (नाम)	३०/३	* समुच्चिट्ठि (संग्रह करना)	३१/६
सण्णिभ (समान)	३४/८	सम्म (सम्यक्, सही)	२०/८
सतक्कतु (इन्द्र)	४३/१	सम्मग्ग (सन्मार्ग)	६/६
सतिम (सौर्वी)	४१/१४	सम्मत्त (सम्यक्त्व)	२६/११
सत्त (१. सत्त्व, प्राणी)	२/२	सयण (स्वजन)	९/२
(२. सत्त्व, शक्ति)	९/२५	सर (बाण)	२/८
सत्तम (उत्तम)	३८/१६	सर (सरोवर)	४५/४४
सत्थ (१. शस्त्र)	१०/५	सरण (शरण लेने योग्य)	४५/३७
(२. शास्त्र)	९/२३	सरिया (नदी)	२४/७
सत्थक (सार्थक)	३८/२२	सल्ल (शल्य)	३५/१२
सत्थकम्म (शल्य क्रिया)	११/५	सल्लह (शल्य का नाश करने वाला)	१७/५
सद्धम्म (सद्धर्म)	३३/११	सल्लि (शल्य वाला)	३८/१९
सद्धा (श्रद्धा)	२६/१४	* सव (प्रवाहित होना)	२९/१
सद्धि (श्रद्धालु)	७/३	सवहण (शपथ)	१०/५
सद्धेय (श्रद्धेय)	२/१ सं	सव्वण्णु (सर्वज्ञ)	२४/४२
सप्प (सर्प)	१५/१४		

सव्वतो (सब ओर)	२९/१	सिद्धयण (शिष्टजन)	११/१
सव्वतोभद्द (सब ओर से कल्याणकारी)	९/३५	सिणेह (स्नेह)	२७/२
सव्वत्थ (सर्वत्र)	२४/१०	सिण्णा (सेना)	२४/२५
सव्वहिं (सर्वत्र, सब जगह)	१/३	सित्त (सिञ्चित)	२/३
ससंक (चन्द्रमा)	२४/७	सिप्प (शिल्प)	४५/१६
सहस्स (हजार)	१०/४	सिरिगिरि (श्रीगिरि ऋषि)	३७/१, सं १/५
साइपुत्त (साचिपुत्र ऋषि)	३८/१	सिव (शिव, कल्याणकारी)	८/३
साइयपुत्त (साचिपुत्र ऋषि)	सं १/५	सिहर (पर्वत-शिखर)	१०/४
साकडिय (शाकटिक, शकट वाला)	२५/८	सीत (शीत)	४५/२९
* साद (स्वाद लेना, चबाना)	२८/२३	सीस (सिर)	९/२
साभाविय (स्वाभाविक)	४५/३२	सीह (सिंह)	१५/१७
साम (समझाना, राजनीति का सूत्र)	२४/१४	सीहणाद (सिंहनाद)	४५/३९
सामण्ण (१. श्रामण्य)	२७/५	सीहपुच्छण (जननेन्द्रिय भग्न करना)	९/२
(२. सामान्य)	३८/१५	सुट्टु (अच्छी तरह)	२२/१३
सामित्त (स्वामित्व)	३१/२	सुणंदा (सुनंदा)	३८/३२
सायक (बाण)	३८/२६	सुत्त (सूत्र, धागा)	६/६
सारहि (सारथी)	४/२५	सुत्त (सीप)	४१/८
सालिणी (वशीकरण करने वाली)	२२/७	सुद्ध (शूद्र)	२६/१६
सावज्ज (सावद्य)	७/५	सुप्पचिण्ण (सुचीर्ण)	४/११
सासय (शाश्वत)	३१/९	सुप्पिय (प्रिय)	२१/१०
साहण (सिद्ध करना)	२१/१२	सुमिण (स्वप्न)	२७/५
साहा (शाखा)	३०/२	सुइ (पवित्र)	३२/४
सिंगि (सींग वाला पशु)	४५/१२	सुंब (तृण विशेष की बनी हुई डोरी)	६/५
सिक्खा (शिक्षा)	९/१९	सुकड (पुण्य)	४१/२
सिग्घ (१. शीघ्र)	२४/५	सुक्क (शुष्क, सूखा)	६/५
(२. श्लाघा)	४५/४६	सुय (ज्ञात)	४/५
सिट्ठकम्म (षट्कर्म)	११/५	सुयिक (पवित्र)	२६/१४

सुह	(सुख)	२२/१४	सोयव्व	(श्रोतव्य)	१/१
सूदण	(विनाश)	३०/६	सोरियायण	(शौर्यायण)	१६/१, सं १/३
सूर	(१. सूर्य)	४/२२	सोवायणा	(सकाम निर्जरा)	९/१२
	(२. शूरवीर)	२९/१६	हट्ट	(हृष्ट)	३६/१८
सूरिय	(सूर्य)	३७/२२	हत्थ	(हाथ)	९/२
सेक	(सिंचन)	२/६	हत्थि	(हाथी)	२५/७
सेज्जा	(शय्या)	३५/१	हय	(घोड़ा)	६/३
सेट्टु	(श्रेष्ठ)	४३/१	हिय	(कल, भविष्य)	४५/३६
सेट्टि	(सेठ)	१४/२	हलीसा	(हल का दण्ड)	२६/१०
सेय	(कल्याणकर)	१५/२७	हविस	(हवन)	२९/१७
सेय	(कीचड़, कर्दम)	२८/१२	हारित	(पराजित)	२५/२
सेल	(पर्वत)	३३/१६	हिडाकम्म	(चौर्यकर्म)	३५/१८
सेलेसी	(मेरु पर्वत की भाँति निष्कंप स्थिति)	९/३०	हरिगिरि	(हिरिगिरि ऋषि)	२४/१, सं १/४
सोग	(शोक)	१५/२२	हियय	(हृदय)	९/२
सोत	(स्रोत)	२८/१	* हीर	(ले जाना)	२९/१४
सोभग्ग	(सौभाग्य)	२४/८	हीलणा	(अवहेलना)	९/२
सोम	(सोम ऋषि)	४२/२, सं १/६	हुतास	(अग्नि)	२२/११
सोय	(१. शौच)	१/१	हुयवह	(अग्नि)	१०/४
	(२. स्रोत)	२७/८	हेम	(सोना)	९/२६
	(३. श्रोत्र)	३८/५	हेमप्पभ	(स्वर्णाभ)	३३/१६
* सोय	(शोक करना)	४१/३	हेस	(घोड़े की आवाज)	२२/१०
			होत्तकुण्ड	(हवनकुण्ड)	३७/३

टिप्पण-अनुक्रम

(इस परिशिष्ट में केवल विशेष शब्दों पर लिखे टिप्पणों का अनुक्रम सम्मिलित है। पाठ या छंद के बारे में टिप्पण में जो विमर्श प्रस्तुत किया है, उसको परिशिष्ट में सम्मिलित नहीं किया है।)

टिप्पण	पृष्ठ	टिप्पण	पृष्ठ
अंगारदोष	२११	एजन, व्येजन	१०५, १०६
अकाम-सकाम	१२६	एषणा	२१०
अञ्जन	२३६	ओलंबण	८१
अनित्यता	१९६	कनेर-माला	१८२
अनिवृत्ति	८७	कर्म	२४५
अप्रतिज्ञ	२८७	काम	२३३
अयत	१५४	किम्पाकफल	२११
अरणि	१८१	कीब	१३७
अरति	१८१	कुणिम	५६
अरिष्टचर्या	६९	कुशाग्र	३४१
अलमस्तु	२४	कृत्या	२९
अविरत	२०८	कोटि	२१०
अस्तिकाय	२६४	कोशिकारकीट	७४
आदान	४६	कौतुक कर्म	३४०
आलोचना	३२७	खल	२२१
आवर्जन	८७	गण्ड	१९०
आवाह	२२७	गति	२६१
आशीविष	२३३	गुप्ति	२९४
उत्कट	१६५	गोपथ	११३
उत्पादन	२१०	गौरव	२०९
उदुम्बर	१९६	तज्जीवतच्छरीरवाद	१६८
उद्गम	२१०	ताल	१३५
उपक्रम	८३, ८४	तैलपात्रधारक	२११
उपसर्ग-सहन	२८७	दंडोत्कट	१६५



टिप्पण	पृष्ठ	टिप्पण	पृष्ठ
दकभाल	१८०	मातङ्ग	६१
दण्ड	२०९, २९७	मूलकर्म	३४०
दूसि	३९	योगक्षेम	२७६
देविल	३७	रज्जूत्कट	१६५
देशोत्कट	१६५	लक्षण	२२७
धर्म	२१९	लावण्य	११९
धूमदोष	२११	लेप	३७
धृति	२२१	लोक	२६१, २६३
ध्रुव	२६३	वनीपक	३४१
नवकोटिशुद्ध	२१०	वास्तुविद्या	८५
निकाचित	८४	विकथा	२०९
निदान	८४	शैलेशी	८७
निधत्त	८४	श्रेष्ठी	१२५
नियलजुयल....	८१	संक्रमण	८४
परीषह	२९७	संछिन्नस्रोत	२२८
पुरिसादीय	१८०	संजय	२७७
पुरुषज्येष्ठ	१८०	संज्ञा	२९७
पुरुषप्रवर	१८०	संवेग	३१९
पुरुषसमन्वागत	१८०	समाधिस्थान	२१०
प्रतिहतपापकर्मा	२०८	समुद्घात	८७
प्रत्याख्यातपापकर्मा	२०८	सर्ववारी	२४८
बंध	८४	सर्वोत्कट	१६६
बोधि	२४	सात दुःख	१३३
ब्रह्मचर्य-गुप्ति	२१०	साता	३१८
भय	२०९	साम	१९८
भव्य	१९५	सिंहपुच्छन	८२
भावसुप्त : भावजागृत	२४५	सृष्टि-उत्पत्ति	३११
भेद	१९८	स्तेनोत्कट	१६७
मडाई	२६२	स्रोत	२८८
मदस्थान	२१०	स्वाख्यात	३४१
महापान	८५		

## प्रयुक्त ग्रंथ-सूची

### मूलग्रंथ सूची

- अंगुत्तरनिकाय भाग १-३—सं. स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्ध भारती वाराणसी, प्र सं. सन् २००२।
- अंतकृद्दशा (अंगसुत्ताणि भा. ३)—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनू,  
प्र सं. वि. सं २०३१।
- अग्निपुराण—(खंड २) सं. बलदेव उपाध्याय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वि. सं. सन् १९९८।
- अथर्ववेद—सं. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, पंचम. सं. १९६९।
- अनुत्तरौपपातिकदशा (अंगसुत्ताणि भा.-३)—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती,  
लाडनू, प्र सं. वि. सं २०३१।
- आगम अट्टुत्तरी—प्रकाशनाधीन, जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)
- आचारचूला (अंगसुत्ताणि भा.-१)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. मुनि नथमल, जैन विश्व भारती, लाडनू  
प्र. सं. वि. सं २०३१।
- आचारांग चूर्णि—जिनदासगणि, ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था प्र सं. सन् १९४१।
- आचारांग टीका—सं. मुनि जम्बूविजय, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली प्र सं. सन् १९७८।
- आचारांगभाष्य—वाप्र. आचार्य तुलसी, आचार्य महाप्रज्ञ, अनु. मुनि दुलहराज, जैन विश्व भारती, लाडनू, प्र सं.  
सन् १९९४।
- आदिपुराण—आचार्य जिनसेन, सं. पं. पन्नलाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्र सं. सन् १९६३।
- आवश्यकचूर्णि भा.-१—ऋषभदेवजी केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम, सन् १९२८।
- आवश्यकचूर्णि भा.-२—ऋषभदेवजी केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम, सन् १९२९।
- आवश्यकनिर्युक्ति खण्ड १—सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू, प्र सं. सन् २००१।
- आवश्यकनिर्युक्ति खण्ड २—प्रकाशनाधीन, जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.)।
- आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि टीका—आगमोदय समिति, मुंबई, प्र सं. सन् १९२८।
- इसिभासियाई सुत्ताई—सं. महोपाध्याय विनयसागर, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्र. सं. सन् १९८८।
- उत्तराध्ययन—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.), पंचम सं. सन् २००६।
- उत्तराध्ययन निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)—आचार्य भद्रबाहु, वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं.  
समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.) प्र सं. सन् १९९९।

- उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका—आचार्य शांतिचन्द्र, देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई,  
वि सं. १९७२।
- उदान अट्टकहा—आचार्य धर्मपाल, पालि टेक्स्ट सोसायटी, प्र सं. सन् १९२६।
- उपनिषत् संग्रह—सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, प्र सं. सन् १९६९।
- उपासकदशा (अंगसुत्ताणि भा-३)—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं  
प्र सं. वि. सं. २०३१।
- ऋग्वेद भाग १-४—सं. पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, सन् १९६९।
- ऋषिमंडल—धर्मघोषसूरि, सं. आ. विजयानंद, सेठ पुष्पचन्द्र खेमचन्द्र, अहमदाबाद, प्र सं. सन् १९३९।
- ऋषिमंडलवृत्ति—वही।
- ऐतरेय ब्राह्मण—अनु. गंगाप्रसाद उपाध्याय, प्रयाग, प्र सं सन् २००६।
- ऐतरेयोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, प्र. सं. वि. सं. २०२५।
- औपपातिक (उवंगसुत्ताणि भा.-१)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती,  
लाडनूं प्र सं. सन् २००२।
- कठोपनिषद्—(उपनिषत् संग्रह), पं. जगदीशशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्र सं. १९७०।
- काश्यपसंहिता—पं. हेमराजशर्मा, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, दिल्ली, वाराणसी, द्वि. सं. २००६।
- कुम्भापुत्तचरियं—आ. अनंतहंस, सं. डॉ. जिनेन्द्र जैन, जैन अध्ययन एवं सिद्धान्त शोध संस्थान, जबलपुर।
- कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्—श्री कृष्ण शर्मा, अद्वयार पुस्तकालय और शोध संस्थान, मद्रास, प्र सं. सन् १९९०।
- गरुडमहापुराण—नाग प्रकाशन, दिल्ली, प्र सं. १९८४।
- गाथा—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रणयन युवाचार्य महाप्रज्ञ, सं. साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा, जैन विश्वभारती, संस्थान,  
लाडनूं, प्र सं सन् १९९३।
- छान्दोग्योपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, पंचम सं वि. सं. २०२३।
- जातक भा.-१—सं भदन्त आनन्द कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सम्मेलन मार्ग, सन् १९८१।
- जातक भा.-२—सं. भदन्त आनन्द कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, सम्मेलन मार्ग, द्वि. सं. सन् १९८५।
- जातक भा. ३—सं. भदन्त आनंद कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, तृ. सं. सन् १९९०।
- जातक भा. ४—सं. भदन्त आनंद कौशल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, द्वि. सं. सन् १९८२।
- जीतकल्प भाष्य—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूं,  
प्र सं. २०१०।

- ज्ञाताधर्मकथा—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राज.), प्र सं. सन् १९७४।
- ज्ञाताधर्मकथा टीका—श्री सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, सूरत, सन् १९५२।
- ठाणं—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. मुनि नथमल, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, प्र सं. वि. सं. २०३३।
- तत्त्वार्थराजवार्तिक—सं. प्रो. महेन्द्रकुमार जैन न्यायाचार्य, भारतीय ज्ञानपीठ, च. सं. सन् १९९३।
- तिलोयपण्णत्ति भा.-१—जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, प्र सं. सन् १९५६।
- तैत्तिरीयोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, च. सं. वि सं. २०४०।
- त्रिलोकसार—सं. पं. रतनचन्द्र जैन, मुख्तार सहारनपुर, श्री शान्तिवीर दिगम्बर जैन संस्थान, प्र सं सन् १९७४।
- थेरगाथा—अनु. भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा सारनाथ, बनारस, प्र सं. सन् १९५५।
- थेरगाथा अट्टकहा—आचार्य धर्मपाल, पालि टेक्स्ट सोसायटी, सन् १८९३।
- दशवैकालिक—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, द्वि सं. सन् १९७४।
- दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि—आ. अगस्त्यसिंह, सं. मुनि श्री पुण्यविजयजी, प्राकृत टेस्ट सोसायटी, वाराणसी, प्र सं. सन् १९७३।
- दशवैकालिक जिनदास चूर्णि—जिनदासगणि, श्री ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम, सन् १९३३।
- दशवैकालिक निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)—आचार्य भद्रबाहु, वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूँ प्र सं. सन् १९९९।
- दशवैकालिक हारिभद्रीया टीका—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार, सूरत।
- दशाश्रुतस्कंध चूर्णि—पंन्यास श्री मणिविजयजी गणिग्रंथ -माला, भावनगर, प्र सं वि. सं. २०११।
- दीघनिकाय—सं. भिक्षु जे काश्यप, पालि प्रकाशन मण्डल, बिहार राज्य, प्र सं. सन् १९५८।
- धम्मपद—सं. स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, प्र सं. सन् २००१।
- नंदीसूत्र—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, सन् १९८६।
- निर्युक्तिपंचक—वाप्र. गणाधिपति तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनूँ प्र सं. सन् १९९९।
- निशीथचूर्णि भा. १-४—सं. मुनि कमल, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, प्र सं सन् १९८२।
- निशीथ भाष्य भा. १-४—सं. मुनि कमल, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, प्र सं सन् १९८२।
- पंचकल्पभाष्य—सं. लाभसागरगणि, आगमोद्धार ग्रंथमाला, बम्बई, वि. सं. २०२८।
- परिशिष्टपर्व—आचार्य हेमचन्द्र, सेठ हरगोविंददास, जैन प्रचारक सभा, भावनगर, प्र सं सन् १९३२।
- प्रश्नोपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर, सन् १९५३।

- पाक्षिकसूत्र—सं. आचार्य चन्द्रसागर, शांतिचन्द्र, लूणावाला, प्र सं. २००६।
- प्रज्ञापना (उर्वंगसुत्ताणि भा.-२)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राज.),  
द्वि. सं सन् २००२।
- प्रज्ञापना मलयगिरि टीका—आगमोदय समिति, मुम्बई, सन् १९१८।
- प्रश्नव्याकरण टीका —आगमोदय समिति, मुम्बई, सन् १९१८।
- प्रश्नोपनिषद्—शांकरभाष्य सानुवाद, आनंद आश्रम, प्र सं. सन् १९९८।
- बृहतकल्पभाष्य—सं. मुनि पुण्यविजय, जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, प्र सं. सन् १९३६।
- बृहदारण्यकोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, च. सं. वि. सं. २०२५।
- ब्रह्मवैवर्तपुराण भा.-१—तारिणीश झा बाबूराम उपाध्याय, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्र सं. सन् २००१।
- ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य—सं. स्वामी श्री हनुमादासजी षट्शास्त्री, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, द्वि. सं. सन् १९९८।
- ब्रह्माण्डपुराण—सं. आचार्य जगदीशशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्र सं. सन् १९७३।
- भगवती (अंगसुत्ताणि भा. २)—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ,  
प्र सं. वि सं. २०३१।
- भगवती चूर्ण—सं. रूपकुमार पगारिया, लालभाई दलपतभाई विद्यामंदिर, अहमदाबाद।
- भगवती टीका भा. १—आगमोदय समिति, मुम्बई, सन् १९१८।
- भगवती टीका भा. २—ऋषभदेव केशरीमल श्वे. संस्था, रतलाम, सन् १९३०।
- भगवती भाष्य भा.-१—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ,  
प्र सं. सन् १९९४।
- भगवती भाष्य भा.-२—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ,  
प्र सं. सन् २०००।
- भगवती भाष्य भा. ३—वाप्र आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, प्र सं. २००५।
- भगवती भाष्य भा.-४—वाप्र आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूँ, प्र सं. सन् २००७।
- भागवत पुराण भा.-१, २—गीताप्रेस गोरखपुर, प्र सं. वि. सं. २०५९।
- भारतीय सृष्टि विद्या—डॉ. प्रकाश, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र सं. सन् १९७४।
- मज्झिमनिकाय भा.-१—सं. द्वारिकादासशास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, प्र सं. सन् २००६।
- मज्झिमनिकाय भा.-२—सं. द्वारिकादासशास्त्री, बौद्धभारती, वाराणसी, प्र सं. सन् २००७।
- मनुस्मृति—सं. पं. गोपालशास्त्री नेने, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सन् २०६३।

- महापरिनिब्बान सुत्त—सं. भिक्षु धर्मरक्षित, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस।
- महाभारत भा.-१-८-सं. कृष्णाचार्य, व्यासाचार्य, श्री सत्गुरु प्रकाशन, दिल्ली, द्वि. सं. सन् १९८५।
- महावंश—सं. गाइगर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लंदन, १९१२।
- मत्स्यपुराण खंड २—डॉ. श्रद्धा शुक्ला, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली।
- महावग्ग—सं. भिक्षु जगदीश काश्यप, पालि प्रकाशन मण्डल, प्र सं सन् १९५६।
- याज्ञवल्क्यस्मृति—डॉ. उमेशचन्द्र पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्र सं. वि. सं. २००३।
- रघुवंश—प्रो. हरि दामोदर वेलणकर, पांडुरंग, ग्यारहवां सं., सन् १९४८।
- ललितविस्तर—शान्तिभिक्षु शास्त्री—उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, प्र सं. सन् १९८४।
- विधिमार्गप्रपा—सं. मुनिजिनविजय, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्र सं. सन् २०००।
- विधिमार्गप्रपा टीका—सं. मुनिजिनविजय, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्र सं. सन् २०००।
- विपाकश्रुत टीका—अभयदेवसूरि, आगमोदयसमिति, मुम्बई सन् १९२०।
- विष्णुपुराण—गीता प्रेस, गोरखपुर।
- विशेषावश्यक भाष्य—आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद प्र सं वि सं. २०३९।
- विशेषावश्यक भाष्य मलधारीहेमचन्द्र टीका—आचार्य मलधारी हेमचन्द्र, दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद,  
वि. सं. २०३९।
- व्यवहार भाष्य—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्वभारती, लाडनूं,  
प्र सं. १९९६।
- व्यवहारभाष्य मलयगिरि टीका—सं. मुनि माणेक, वकील त्रिकमलाल अगरचन्द, प्र सं. सन् १९२८।
- शतपथ ब्राह्मण भा.-१, २—सं. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती, विजयकुमार गोविंदराम, हासानट, प्र सं. २००३।
- श्वेताश्वतरोपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सप्तम सं वि. सं. २०२७।
- षट्खंडागम धवला पु. १३—आचार्य पुष्पदंत भूतबलि, सं. हीरालाल जैन, सेठ शीतलराय लक्ष्मीचन्द्र, जैन  
साहित्योद्धारक फंड, कार्यालय मेलसा, सन् १९५५।
- श्रीमद्भगवद्गीता—सं. स्वामी प्रभुपाद, भक्तिवेदान्त बुक ट्रस्ट, प्र सं सन् १९९०।
- संयुक्तनिकाय भा.-१, २—सं. स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्ध भारती वाराणसी, प्र सं. सन् २०००।
- सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र—आचार्य उमास्वाति, श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास,  
तृ सं. सन् १९९२।
- समवाओ—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं, प्र सं. सन् १९८४।

- सुत्तनिपात—सं. स्वामी द्वारिकादासशास्त्री, बौद्धभारती वाराणसी, प्र सं. सन् २००५।  
 सुत्तनिपातअट्टकहा—विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, प्र सं. सन् १९९५।  
 सुबालोपनिषद् (उपनिषत् संग्रह)—सं पं. श्रीरामशर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, प्र सं. सन् १९६९।  
 सूत्रकृतांगचूर्णि भा.-१—सं. मुनिपुण्यविजय, प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी, प्र सं. सन् १९७५।  
 सूत्रकृतांग टीका—आचार्य शीलांक, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।  
 सूत्रकृतांग निर्युक्ति (निर्युक्ति पंचक)—आचार्य भद्रबाहु, वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. समणी  
 कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनू, प्र सं. सन् १९९९।  
 सुयगडो—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनू, तृ. सं. २००६।  
 स्थानांग टीका—अभयदेवसूरि, सेठ माणेकलाल चुन्नीलाल, अहमदाबाद, प्र सं. सन् १९३७।  
 हरिवंशपुराण—पं. पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्र सं. सन् १९६२।

### सहायक ग्रंथ सूची

- अथर्ववेद का सांस्कृतिक अध्ययन—डॉ. कपिलदेव द्विवेदी, विश्वभारती अनुसंधान परिषद् ज्ञानपुर, वाराणसी,  
 प्र सं. सन् १९८८।  
 आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन खण्ड १—मुनि नगराज, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता,  
 प्र सं. १९६९।  
 उपनिषदों के ऋषि—डॉ. वेदवती वैदिक, अनुराग प्रकाशन, महरौली, दिल्ली, प्र सं. सन् १९९७।  
 उपनिषद् और भारतीय संस्कृति—वैदिक वेदवती।  
 ऋषिभाषित : एक अध्ययन—डॉ. सागरमल जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, प्र सं. सन् १९८८।  
 ऋषिभाषित का दार्शनिक अध्ययन—साध्वी प्रमोदकुमारी, प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर, प्र सं. २००९।  
 जातककालीन भारतीय संस्कृति—पं. मोहनलाल मेहता, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, प्र सं. सन् १९५८।  
 दर्शन और चिन्तन खण्ड १, २—पं. सुखलाल संघवी, गुजरात विद्या पीठ, अहमदाबाद, प्र सं. सन् १९५७।  
 बृहदारण्यक उपनिषद् : एक समीक्षात्मक अध्ययन, किशोर विद्या निकेतन, वाराणसी, सन् १९८४।  
 बौद्धधर्म-दर्शन—आचार्य नरेन्द्र देव, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, सन् १९९४।  
 वैदिक ऋषि : एक अनुशीलन, शास्त्री कपिलदेव, कुरुक्षेत्र, १९७८।  
 पाणिनीकालीन भारतवर्ष—डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, भारतीय कला, पृथ्वी प्रकाशन, बनारस, वि. सं. २०१२।  
 भारतीय इतिहास : एक दृष्टि—डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् १९६९।  
 भारतीय संस्कृति—डॉ. लल्लन गोपाल एवं डॉ. ब्रजनाथ सिंह यादव, भारतीय संस्कृति, गोरखपुर, १९५८।

- भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास—डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार।  
 भारतीय सृष्टि विद्या—डॉ. प्रकाश, भारतीय ज्ञान पीठ प्रकाशन, प्र सं. सन् १९७४।  
 महावीर-कथा—डॉ. शोभानाथ पाठक, पाठक प्रकाशन कनवानी, जौनपुर, प्र सं. सन् १९७७।  
 याज्ञवल्क्य स्मृति का समीक्षात्मक अध्ययन—डॉ. श्रीमती ऊषा गुप्ता, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली,  
 प्र सं सन् १९९८।  
 श्वेताश्वतर उपनिषद् : दार्शनिक अध्ययन—वैदिक वेदवती, दिल्ली १९८४।  
 सांख्यदर्शन का इतिहास—उदयवीर शास्त्री, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली-११०००६, प्र सं. सन् १९९१।  
**कोश-साहित्य सूची**  
 अभिधान चिन्तामणि नाममाला—आचार्य हेमचन्द्र, सं श्री हरगोविंदशास्त्री, चौखम्भा, विद्याभवन, वाराणसी,  
 द्वि सं. १९९६।  
 आगमशब्द कोश—वाप्र. आचार्य तुलसी, सं. युवाचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनू, प्र सं. १९८०।  
 इसिभासियाई का प्राकृत संस्कृत शब्द कोश—डॉ. के. आर. चन्द्र, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद,  
 प्र सं. सन् १९९८।  
 एकार्थक कोश—सं मुनि दुलहराज, समणी कुसुमप्रज्ञा, जैन विश्व भारती, लाडनू (राज.), द्वि सं. सन् २००३।  
 जैन आगम प्राणी कोश—वाप्र. गणाधिपति तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. मुनि वीरेन्द्र कुमार, जैन विश्व  
 भारती, लाडनू प्र सं. सन् १९९९।  
 जैन आगम वाद्य कोश—वाप्र. गणाधिपति तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. मुनि वीरेन्द्र कुमार, मुनि जय कुमार,  
 जैन विश्व भारती, संस्थान लाडनू, प्र सं. सन् २००४।  
 जैन आगम वनस्पति कोश—वाप्र. आचार्य तुलसी, प्रसं आचार्य महाप्रज्ञ, सं. मुनि श्रीचंद्र, जैन विश्व भारती, लाडनू  
 (राज.), प्र सं. सन् १९९६।  
 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा.-१—जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ, प्र सं. सन् १९९०।  
 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भा.-४—जिनेन्द्र वर्णी, भारतीय ज्ञानपीठ।  
 पाइयसद्महण्णवो—प्राकृत ग्रंथ परिषद्, वाराणसी, प्र सं सन् १९६३।  
 प्राकृत प्रोपर नेम्स—सं. मोहनलाल मेहता, इंस्टीट्यूट ऑफ इंडोलॉजी अहमदाबाद, प्र सं सन् १९७२  
 भारतीय व्यक्ति कोश—भगवतशरण उपाध्याय, आर्य बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली, तृ. सं. सन् १९९९।  
 भारतीय संस्कृति कोश—लीलाधर शर्मा, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, प्र सं. सन् १९९६।  
 भिक्षु आगम विषय कोश भा. १—वाप्र. गणाधिपति तुलसी, प्रसं. आचार्य महाप्रज्ञ, सं. साध्वी विमलप्रज्ञा, सिद्धप्रज्ञा,  
 जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनू, प्र सं. सन् १९९६।



भिक्षु आगम विषय कोश भा. २—वही, प्र सं सन् २००५ ।

महाभारतनामानुक्रमणिका —सं. रामनारायणदत्त, गीता प्रेस, गोरखपुर, प्र सं. वि सं. २०१६ ।

वर्धमान जीवन-कोश—सं. मोहनलाल बांठिया, श्रीचन्द चोरड़िया, जैन दर्शन समिति, कलकत्ता, सन् १९८० ।

वैदिक इंडेक्स—ए. ए. मैकडोनेल, ए. बी. कोश, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, प्र सं. सन् १९६२ ।

संस्कृत हिन्दी शब्द कोश—वामन शिवराम आप्टे, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, सन् २००९ ।

### अंग्रेजी साहित्य

Aspects of Jainology Vol. II—(Pt. Bechardas Doshi Commemoration Volume), Ed. Prof. M.

A.Dhaky, Dr. Sagarmal Jain, P. V. Research, Varanasi I<sup>st</sup> Edn. 1987.

Aspects of Jainology Vol. III—(Pt. Dalsukh Bhai Malvania Felicitation Volume) Ed. Pro. M.

A.Dhaky, Prof. Sagarmal Jain, P. V. Research Institute, Varanasi I<sup>st</sup> Edn. 1991.

Isibhasiyaim —L. D. Series 45 G.Ed, by Dalsukh Bhai Malvania, Dr. Walther Schubring, L. D.

Institute of Indology, Ahmedabad, First Edn. 1974.

Pre Buddhistic Indian Philosophy—B. M. Barca, Calcutta.

Sacred Books of the East Vol XIV,—Translated by Herman Jacobi, Oxford, 1985.

The History and Doctrines of Ajivaks—Dr. A. L. Basham, Luzac and Co London, 1957.

## संकेतिका

अंगु — अंगुत्तरनिकाय	गीता — श्रीमद्भगवद्गीता
अंत — अंतकृद्दशा	छांदो — छांदोग्य उपनिषद्
अथर्व — अथर्ववेद	जातककालीन — जातककालीन भारतीय संस्कृति
अनु — अनुत्तरौपपातिकदशा	जीभा — जीतकल्पभाष्य
आगम — आगम अद्भुत्तरी	जैनेन्द्र — जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-१
आचू — आचारांगचूर्णि	जैनेन्द्र — जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग-४
आचूला — आचारचूला	ज्ञा — ज्ञाताधर्मकथा
आटी — आचारांग टीका	ज्ञाटी — ज्ञाताधर्मकथा टीका
आप्टे — संस्कृत हिंदी शब्द कोश	ठाणं — स्थानांग
आभा — आचारांग भाष्य	त — तत्त्वार्थाधिगमसूत्र
आवचू १, २ — आवश्यक चूर्णि भाग १, २	तरा — तत्त्वार्थ राजवार्तिक
आवनि १, २ — आवश्यक निर्युक्ति	तस्वोभा — तत्त्वार्थ स्वोपज्ञभाष्य
आवमटी — आवश्यकनिर्युक्ति मलयगिरि टीका	तिप — तिलोयपण्णत्ति
उ — उत्तराध्ययन	त्रिसा — त्रिलोकसार
उनि — उत्तराध्ययननिर्युक्ति	दश — दशवैकालिक
उपा — उपासकदशा	दशअचू — दशवैकालिक अगस्त्यसिंहचूर्णि
उशांटी — उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य टीका	दशचूला — दशवैकालिकचूला
ऋवृ — ऋषिभाषित वृत्ति	दशजिचू — दशवैकालिक जिनदासचूर्णि
ऋषि — ऋषिभाषित : एक अध्ययन	दशानि — दशवैकालिक निर्युक्ति
ऋषिमं — ऋषिमण्डल	दशहाटी — दशवैकालिक हारिभद्रीया टीका
ऋषिसं — ऋषिभाषित संग्रहणी	दशुचू — दशाश्रुतस्कंध चूर्णि
औप — औपपातिक सूत्र	दीघ — दीघनिकाय
कौषी — कौषीतिक उपनिषद्	द्र — द्रष्टव्य
गरुड़ — गरुड़ पुराण	धम्म — धम्मपद
गा — गाथा	नंदी — नंदीसूत्र

निचू — निशीथचूर्णि  
 निभा — निशीथभाष्य  
 पंकभा — पंचकल्पभाष्य  
 पाक्षिक — पाक्षिक सूत्र  
 पौराणिक — पौराणिक संदर्भ कोश ।  
 प्रज्ञा — प्रज्ञापना  
 प्रज्ञामटी — प्रज्ञापना मलयगिरि टीका  
 प्रटी — प्रश्नव्याकरण टीका  
 बृभा — बृहत्कल्पभाष्य  
 बृहदा — बृहदारण्यक उपनिषद्  
 ब्रह्माण्ड — ब्रह्माण्ड पुराण  
 भ — भगवती  
 भचू — भगवती चूर्णि  
 भटी — भगवती टीका  
 भभा भा १-४ — भगवती भाष्य  
 भाग — भागवत पुराण  
 भारतीय — भारतीय व्यक्ति कोश ।  
 मञ्जिम — मञ्जिमनिकाय  
 मटी — मलयगिरि टीका  
 मत्स्य — मत्स्यपुराण  
 मनु — मनुस्मृति  
 महा आदि — महाभारत आदि पर्व  
 महा उद्योग — महाभारत उद्योग पर्व  
 महापरि — महापरिनिब्वानसुत्त  
 महाभारतनामा — महाभारतनामानुक्रमणिका  
 महाभीम — महाभारत भीम पर्व  
 महा वन — महाभारत वन पर्व

महा शल्य — महाभारत शल्य पर्व  
 महा शांति — महाभारत शांति पर्व  
 महा सभा — महाभारत सभा पर्व  
 रघु — रघुवंश  
 विधि — विधिमार्गप्रपा  
 विपाटी — विपाकश्रुत टीका  
 विभा — विशेषावश्यक भाष्य  
 विभामहेटी — विशेषावश्यक भाष्य मलधारी  
 हेमचन्द्र टीका  
 व्यभा — व्यवहार भाष्य  
 व्यभामटी — व्यवहारभाष्य मलयगिरि टीका  
 श्वेता — श्वेताश्वतर उपनिषद्  
 षट्धवला पु. — षट्खंडागम धवला  
 संयुक्तनि — संयुक्तनिकाय  
 सम — समवायांग  
 समप्र — समवायांग प्रकीर्णक  
 सुत्तनि — सुत्तनिपात  
 सुत्तनिअट्ट — सुत्तनिपात अट्टकहा  
 सुबालो — सुबालोपनिषद्  
 सू — सूत्रकृतांग  
 सूचू — सूत्रकृतांग चूर्णि  
 सूटी — सूत्रकृतांग टीका  
 सूनि — सूत्रकृतांगनिर्युक्ति  
 स्थाटी — स्थानांग टीका  
 हरिपु — हरिवंश पुराण  
 हाटी — हारिभद्रीय टीका

# इसिभासियाइं

( ऋषिभाषितानि )

मूल पाठ एवं अनुवाद